

ों वह भी चकरा गये; मगर उन्हें भी जान-बूझकर मक्खी निगलनी कदाचित् स्वभाव ही से निराशावादी हूँ। अन्य अध्यापकों को मैं के विषय में जरा भी चिंतित न पाता था। मानो ऐसे लड़कों का आना कोई नई बात नहीं; मगर मेरे लिए वह एक विकट रहस्य था। ंग रहे, तो एक दिन या तो जेल में होगा, या पागलखाने में।

(२)

ाल मेरा तबादला हो गया। यद्यपि यहाँ का जलवायु मेरे अनुकूल ा और अन्य अध्यापकों से मैत्री हो गई थी, मगर मैं अपने तबादले आ; क्योंकि सूर्यप्रकाश मेरे मार्ग का काँटा न रहेगा। लड़को ने मुझे दावत दी, और सब के सब स्टेशन तक पहुँचाने आये। उस वक्त े आँखों में आँसू भरे हुए थे। मैं भी अपने आँसुओं को न रोक हसा मेरी निगाह सूर्यप्रकाश पर पड़ी, जो सबसे पीछे लज्जित खड़ा था। मालूम हुआ कि उसकी आँखें भी भीगी थीं। मेरा जी बार-बार चाहता लते-चलते उससे दो-चार बातें कर लूँ। शायद वह भी मुझसे कुछ हता था; मगर न मैंने पहले बातें कीं, न उसने, हालाँ कि मुझे बहुत इसका खेद रहा। उसकी झिझक तो क्षमा के योग्य थी; पर मेरा अक्षम्य था। संभव था, उस करुणा और ग्लानि की दशा में मेरी दो-कपट बातें उसके दिल पर असर कर जातीं; मगर इन्हीं खोये हुए अव-ाम तो जीवन है। गाड़ी मंदगति से चली। लड़के कई कदम तक थ दौड़े। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ा था। कुछ देर तक के हिलते हुए रूमाल नजर आये। फिर वह रेखाएँ आकाश में विलीन : मगर एक अल्पकाय मूर्ति अब भी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। मैंने किया, वह सूर्यप्रकाश है। उस समय मेरा हृदय किसी विकल कैदी की ्णा, मालिन्य और उदासीनता के बंधनों को तोड़-तोड़कर उसके गले के लिए तड़प उठा।

ये स्थान की नई चिंताओं ने बहुत जल्द मुझे अपनी ओर आकर्षित कर। पिछले दिनों की याद एक हसरत बनकर रह गई। न किसी का कोई आया, न मैंने कोई खत लिखा। शायद दुनिया का यही दस्तूर है। वर्षा

के बाद वर्षा की हरियाली कितने दिनों रहती है। संयोग से मुझे इंगलैण्ड में विद्याभ्यास करने का अवसर मिल गया। वहाँ तीन साल लग गये। वहाँ से लौटा, तो एक कालेज का प्रिंसिपल बना दिया गया। यह सिद्धि मेरे लिए बिलकुल आशातीत थी। मेरी भावना स्वप्न में भी इतनी दूर न उड़ी थी; किन्तु पद-लिप्सा अब किसी और भी ऊँची डाली पर आश्रय लेना चाहती थी। शिक्षा-मंत्री से रब्त-जब्त पैदा किया। मंत्री महोदय मुझ पर कृपा रखते थे; मगर वास्तव में शिक्षा के मौलिक सिद्धांतों का उन्हें ज्ञान न था। मुझे पाकर उन्होंने सारा भार मेरे ऊपर डाल दिया। घोड़े पर वह सवार थे, लगाम मेरे हाथ में थी। फल यह हुआ कि उनके राजनैतिक विपक्षियों से मेरा विरोध हो गया। मुझ पर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। मैं सिद्धान्त रूप से अनिवार्य शिक्षा का विरोधी हूँ। मेरा विचार है कि हर एक मनुष्य की उन विषयों में ज्यादा स्वाधीनता होनी चाहिए, जिनका उनसे निज का संबंध है। मेरा विचार है कि यूरोप में अनिवार्य शिक्षा की जरूरत है, भारत में नहीं। भौतिकता, पश्चिमी सभ्यता का मूल तत्त्व है। वहाँ किसी काम की प्रेरणा, आर्थिक लाभ के आधार पर होती है। जिन्दगी की जरूरत ज्यादा है; इसलिए जीवन-संग्राम भी अधिक भीषण है। माता-पिता भोग के दास होकर बच्चों को जल्द से जल्द कुछ कमाने पर मजबूर करते हैं। इसकी जगह कि वह मद का त्याग करके एक शिलिंग रोज की बचत कर लें, वे अपने कमसिन बच्चे को एक शिलिंग की मजदूरी करने के लिए दबायेंगे। भारतीय जीवन में सात्विक सरलता है। हम उस वक्त तक अपने बच्चों से मजदूरी नहीं कराते, जब तक कि परिस्थिति हमें विवश न कर दे। दरिद्र से दरिद्र हिंदुस्तानी मजदूर भी शिक्षा के उपकारों का कायल है। उसके मन में यह अभिलाषा होती है कि मेरा बच्चा चार अक्षर पढ़ जाय। इसलिए नहीं कि उसे कोई अधिकार मिलेगा; बल्कि केवल इसलिए कि विद्या मानवी शील का एक शृङ्गार है। अगर यह जानकर भी वह अपने बच्चे को मदरसे नहीं भेजता, तो समझ लेना चाहिए कि वह मजबूर है। ऐसी दशा में उस पर कानून का प्रहार करना मेरी दृष्टि में न्याय-संगत नहीं है। उसके सिवाय मेरे विचार में अभी हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है। अर्द्ध शिक्षित और अल्पवेतन पानेवाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते कि वह

कोई ऊँचा आदर्श अपने सामने रख सकें। अधिक-से-अधिक इतना ही होगा कि चार-पाँच वर्ष में बालक को अक्षर-ज्ञान हो जायगा। मैं इसे पर्वत खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। वयस प्राप्त हो जाने पर यह मसला एक महीने में आसानी से तय किया जा सकता है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खामख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ। मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बन्द करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं। इसलिए जब प्रान्तीय व्यवस्थापक-सभा में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पेश हुआ, तो मेरी प्रेरणा से मिनिस्टर साहब ने उसका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। फिर क्या था। मिनिस्टर साहब की और मेरी वह ले दे शुरू हुई कि कुछ न पूछिए। व्यक्तिगत आक्षेप किये जाने लगे। मैं गरीब की बीबी था, मुझे ही सबकी भाभी बनना पड़ा। मुझे देश-द्रोही, उन्नति का शत्रु और नौकरशाही का गुलाम कहा गया। मेरे कालेज में जरा सी भी कोई बात होती तो कौंसिल में मुझ पर वर्षा होने लगती। मैंने एक चपरासी को पृथक् किया। सारी कौंसिल पंजे झाड़कर मेरे पीछे पड़ गई। आखिर मिनिस्टर साहब को मजबूर होकर उस चपरासी को बहाल करना पड़ा। यह अपमान मेरे लिए असह्य था। शायद कोई भी इसे सहन न कर सकता। मिनिस्टर साहब से मुझे शिकायत नहीं। वह मजबूर थे। हाँ, इस वातावरण में काम करना मेरे लिए दुस्साध्य हो गया। मुझे अपने कालेज के आन्तरिक संगठन का भी अधिकार नहीं। अमुक क्यों नहीं परीक्षा में भेजा गया, अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृत्ति दी गई, अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती, इस तरह के सारहीन आक्षेपों ने मेरी नाक में दम कर दिया था। इस नई चोट ने कमर तोड़ दी। मैंने इस्तीफा दे दिया।

मुझे मिनिस्टर साहब से इतनी आशा अवश्य थी कि वह कम-से-कम इस विषय में न्याय-परायणता से काम लेंगे; मगर उन्होंने न्याय की जगह नीति को मान्य समझा, और मुझे कई साल की भक्ति का यह फल मिला कि मैं

पदच्युत कर दिया गया। संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अब तक न हुआ था। ग्रह भी कुछ बुरे आ गये थे, उन्हीं दिनों पत्नी का देहान्त हो गया। अन्तिम दर्शन भी न कर सका। सन्ध्या-समय नदी तट पर सैर करने गया था। वह कुछ अस्वस्थ थीं। लौटा, तो उनकी लाश मिली। कदाचित् हृदय की गति बन्द हो गई थी। इस आघात ने कमर तोड़ दी। माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े-बड़े महान् पुरुष कृतार्थ हो गये हैं। मैं जो कुछ हुआ, पत्नी के प्रसाद और आशीर्वाद से हुआ; वह मेरे भाग्य की विधात्री थीं। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य। उनके माधुर्य में तीक्ष्णता का नाम भी न था। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी उनकी भृकुटी संकुचित देखी हो। निराश होना तो जानती ही न थीं। मैं कई बार सख्त बीमार पड़ा हूँ। वैद्य भी निराश हो गये हैं, पर वह अपने धैर्य और शांति से अणुमात्र भी विचलित नहीं हुईं। उन्हें विश्वास था कि मैं अपने पति के जीवन-काल में मरूँगी और वही हुआ भी। मैं जीवन में अब तक उन्हीं के सहारे खड़ा था! जब वह अवलम्ब ही न रहा, तो जीवन कहाँ रहता। खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है। जीवन नाम है, सदैव आगे बढ़ते रहने की लगन का। यह लगन गायब हो गई। मैं संसार से विरक्त हो गया। और एकान्तवास में जीवन के दिन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे से गाँव में जा बसा। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे टीले थे, एक ओर गंगा बहती थी। मैंने नदी के किनारे एक छोटा-सा घर बना लिया और उसी में रहने लगा।

(३)

मगर काम करना तो मानवी स्वभाव है। बेकारी में जीवन कैसे कटता। मैंने एक छोटी-सी पाठशाला खोल ली; एक वृक्ष की छाँह में गाँव के लड़कों को जमा कर कुछ पढ़ाया करता था। उसकी यहाँ इतनी ख्याति हुई कि आस-पास के गाँव के छात्र भी आने लगे।

एक दिन मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसमें से उस जिले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े। मैं उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था। इस वेश में एक हाकिम से मिलते हुए शर्म आ रही थी। डिप्टी कमिश्नर मेरे समीप आये तो मैंने झेंपते

हुए हाथ बढ़ाया; मगर वह मुझसे हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उन पर सिर रख दिया। मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं अँगरेजी अच्छी लिखता हूँ, दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूँ, व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूँ। मगर इन गुणों में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं। श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं ही के अधिकार की वस्तु है। अगर मैं ब्राह्मण होता, तो एक बात थी। हालाँकि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिंतनीय है।

मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा हुआ था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ देखकर कहा—आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।

इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गये, बोला—आपका नाम सूर्यप्रकाश तो नहीं है?

'जी हाँ, मैं आपका वही अभागा शिष्य हूँ।'

'बारह-तेरह वर्ष हो गये।'

सूर्यप्रकाश ने मुस्कराकर कहा—अध्यापक लड़कों को भूल जाते हैं; पर लड़के उन्हें हमेशा याद रखते हैं।

मैंने उसी विनोद के भाव से कहा—तुम जैसे लड़कों को भूलना असंभव है।

सूर्यप्रकाश ने विनीत स्वर में कहा—उन्हीं अपराधों को क्षमा कराने के लिए सेवा में आया हूँ। मैं सदैव आपकी खबर लेता रहता था। जब आप इंगलैण्ड गये, तो मैंने आपके लिए बधाई का पत्र लिखा; पर उसे भेज न सका। जब आप प्रिंसिपल हुए, मैं इंगलैण्ड जाने को तैयार था। वहाँ मैं पत्रिकाओं में आपके लेख पढ़ता रहता था। जब लौटा, तो मालूम हुआ कि आपने इस्तीफा दे दिया और कहीं देहात में चले गये हैं। इस जिले में आये हुए मुझे एक वर्ष से अधिक हुआ; पर इसका जरा भी अनुमान न था कि आप यहाँ एकांत-सेवन कर रहे हैं। इस उजाड़ गाँव में आपका जी कैसे लगता है। इतनी ही अवस्था में आपने वानप्रस्थ ले लिया?

मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देखकर मुझे कितना आश्चर्य-मय आनंद हुआ। अगर वह मेरा पुत्र होता, तो भी इससे अधिक आनंद न होता। मैं उसे अपने झोंपड़े में लाया और अपनी रामकहानी कह सुनाई।

सूर्यप्रकाश ने कहा—तो यह कहिए कि आप अपने ही एक भाई के विश्वासघात के शिकार हुए। मेरा अनुभव तो अभी बहुत कम है; मगर इतने ही दिनों में मुझे मालूम हो गया है, कि हम लोग अभी अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना नहीं जानते। मिनिस्टर साहब से भेंट हुई, तो पूछूँगा, कि यही आपका धर्म था?

मैंने जवाब दिया—भाई, उनका दोष नहीं। संभव है, इस दशा में मैं भी वही करता, जो उन्होंने किया। मुझे अपनी स्वार्थलिप्सा की सजा मिल गई, और उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। बनावट नहीं, सत्य कहता हूँ कि यहाँ मुझे जो शांति है, वह और कहीं न थी। इस एकान्त-जीवन में मुझे जीवन के तत्त्वों का वह ज्ञान हुआ, जो संपत्ति और अधिकार की दौड़ में किसी तरह संभव न था। इतिहास और भूगोल के पोथे चाटकर और यूरप के विद्यालयों की शरण जाकर भी मैं अपनी ममता को न मिटा सका; बल्कि यह रोग दिन-दिन और भी असाध्य होता जाता था। आप सीढ़ियों पर पाँव रखे बगैर छत की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते। सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की जिंदगी ही जीनों का काम देती है। आप उन्हें कुचलकर ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ सौजन्य और सहानुभूति का स्थान ही नहीं मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस वक्त मैं हिंस्र जंतुओं से घिरा हुआ था और मेरी सारी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में ही लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों ओर संतोष और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते और न मेरी सेवाओं में प्रशंसा या गौरव की लालसा है।

यह कहकर मैंने सूर्यप्रकाश के चेहरे की ओर गौर से देखा। कपट मुसकान की जगह ग्लानि का रंग था। शायद यह दिखाने आया था कि आप जिसकी तरफ से इतने निराश हो गये थे, वह अब इस पद को सुशोभित कर रहा है। वह मुझसे अपने सदुद्योग का बखान कराना चाहता था। मुझे अब अपनी भूल मालूम हुई। एक संपन्न आदमी के सामने समृद्धि की निंदा उचित नहीं। मैंने तुरंत बात पलट कर कहा—मगर तुम अपना हाल तो कहो। तुम्हारी यह काया-पलट कैसे हुई। तुम्हारी शरारतों को याद करता हूँ तो अब भी रोएँ खड़े हो जाते हैं। किसी देवता के वरदान के सिवा और तो कहीं यह विभूति न प्राप्त हो सकती थी।

सूर्यप्रकाश ने मुसकराकर कहा—आपका आशीर्वाद था।

मेरे बहुत आग्रह करने पर सूर्यप्रकाश ने अपना वृत्तांत सुनाना शुरू किया—'आपके चले आने के कई दिन बाद मेरा ममेरा भाई स्कूल में दाखिल हुआ। उसकी उम्र आठ-नौ साल से ज्यादा न थी। प्रिंसिपल साहब उसे होस्टल में न लेते थे और न मामा साहब उसके ठहरने का प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हें इस संकट में देख कर मैंने प्रिंसिपल साहब से कहा—उसे मेरे कमरे में ठहरा दीजिए। प्रिंसिपल साहब ने इसे नियम-विरुद्ध बतलाया। इस पर मैंने बिगड़कर उसी दिन होस्टल छोड़ दिया, और एक किराये का मकान लेकर मोहन के साथ रहने लगा। उसकी मा कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला-पतला, कमजोर और गरीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उस पर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आये दिन कोई-न-कोई बीमारी खड़ी रहती थी। इधर साँझ हुई और उसे झपकियाँ आने लगीं। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। दिन चढ़े तक सोया करता और जब तक मैं गोद में उठाकर बिठा न देता, उठने का नाम न लेता। रात को बहुधा चौंककर मेरी चारपाई पर आ जाता और मेरे गले से लिपटकर सोता। मुझे उस पर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों मुझे उससे प्रेम हो गया। मैं जहाँ पहले नौ बजे सोकर उठता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिए दूध गर्म करता। फिर उसे उठाकर हाथ-मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायु सेवन को ले जाता। मैं जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घंटों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्व का इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे आश्चर्य है। उसे कोई शिकायत हो जाती तो मेरे प्राण नखों में समा जाते। डाक्टर के पास दौड़ता, दवाएँ लाता और मोहन की खुशामद करके दवा पिलाता। सदैव यह चिंता लगी रहती थी, कि कोई बात उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो जाय। इस बेचारे का यहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन है। मेरे चंचल मित्रों में से कोई उसे चिढ़ाता या छेड़ता तो मेरी त्योरियाँ बदल जाती थीं! कई लड़के तो मुझे बूढ़ी दाई कहकर चिढ़ाते थे; पर मैं हँसकर टाल देता था। मैं उसके सामने एक अनुचित शब्द भी मुँह से न निकालता। यह शंका होती थी, कि कहीं मेरी देखा-देखी यह भी खराब न

हो जाय। मैं उसके सामने इस तरह रहना चाहता था, कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिए यह मानी हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ। वह मेरा नौ बजे सोकर उठना, बारह बजे तक मटरगश्ती करना, नई-नई शरारतों के मंसूबे बाँधना और अध्यापकों की आँख बचाकर स्कूल से उड़ जाना, सब आप-ही-आप जाता रहा। स्वास्थ्य और चरित्र-पालन के सिद्धान्तों का मैं शत्रु था; पर अब मुझसे बढ़कर उन नियमों का रक्षक दूसरा न था। मैं ईश्वर का उपहास किया करता था, मगर अब पक्का आस्तिक हो गया था। वह बड़े सरल भाव से पूछता, परमात्मा सब जगह रहते हैं, तो मेरे पास भी रहते होंगे। इस प्रश्न का मजाक उड़ाना मेरे लिए असंभव था। मैं कहता—हाँ परमात्मा तुम्हारे, हमारे सबके पास रहते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। यह आश्वासन पाकर उसका चेहरा आनंद से खिल उठता था, कदाचित् वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता था। साल ही भर में मोहन कुछ से कुछ हो गया। मामा साहब दोबारा आये, तो उसे देखकर चकित हो गये। आँखों में आँसू भरकर बोले—'बेटा! तुमने इसको जिला लिया, नहीं तो मैं निराश हो चुका था। इसका पुनीत फल तुम्हें ईश्वर देंगे। इसकी मा स्वर्ग में बैठी हुई तुम्हें आशीर्वाद दे रही है।'

सूर्यप्रकाश की आँखें उस वक्त भी सजल हो गई थीं।

मैंने पूछा—मोहन भी तुम्हें बहुत प्यार करता होगा?

सूर्यप्रकाश के सजल नेत्रों में हसरत से भरा हुआ आनन्द चमक उठा, बोला—वह मुझे एक मिनट के लिए भी न छोड़ता था। मेरे साथ बैठता, मेरे साथ खाता, मेरे साथ सोता। मैं ही उसका सब कुछ था। आह! वह संसार में नहीं है। मगर मेरे लिए वह अब भी उसी तरह जीता-जागता है। मैं जो कुछ हूँ, उसी का बनाया हुआ। अगर वह दैवी विधान की भाँति मेरा पथ-प्रदर्शक न बन जाता, तो शायद आज मैं किसी जेल में पड़ा होता। एक दिन मैंने कह दिया था—अगर तुम रोज नहा न लिया करोगे तो मैं तुमसे न बोलूँगा। नहाने से वह न-जाने क्यों जी चुराता था। मेरी इस धमकी का फल यह हुआ कि वह नित्य प्रातःकाल नहाने लगा। कितनी ही सर्दी क्यों न हो, कितनी ही ठंडी हवा चले; लेकिन वह स्नान अवश्य करता

था। देखता रहता था, मैं किस बात से खुश होता हूँ। एक दिन मैं कई मित्रों के साथ थियेटर देखने चला गया, ताकीद कर गया था कि तुम खाना खाकर सो रहना। तीन बजे रात को लौटा, तो देखा कि वह बैठा हुआ है! मैंने पूछा—तुम सोये नहीं? बोला—नींद नहीं आई। उस दिन से मैंने थियेटर जाने का नाम न लिया। बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनों से भी ज्यादा मादक—जो माँ की गोद के सामने संसार की निधि की भी परवाह नहीं करती, मोहन की वह भूख कभी संतुष्ट न होती थी। पहाड़ों से टकराने वाली सारस की आवाज की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूँजा करती थी। जैसे भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था। वह मुझसे ऐसा चिपट गया था कि पृथक् किया जाता, तो उसकी कोमल बेल के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। वह मेरे साथ तीन साल रहा और तब मेरे जीवन में प्रकाश की एक रेखा डालकर अन्धकार में विलीन हो गया। उस जीर्ण काया में कैसे-कैसे अरमान भरे हुए थे। कदाचित् ईश्वर ने मेरे जीवन में एक अवलम्ब की सृष्टि करने के लिए उसे भेजा था। उद्देश्य पूरा हो गया तो वह क्यों रहता।

(४)

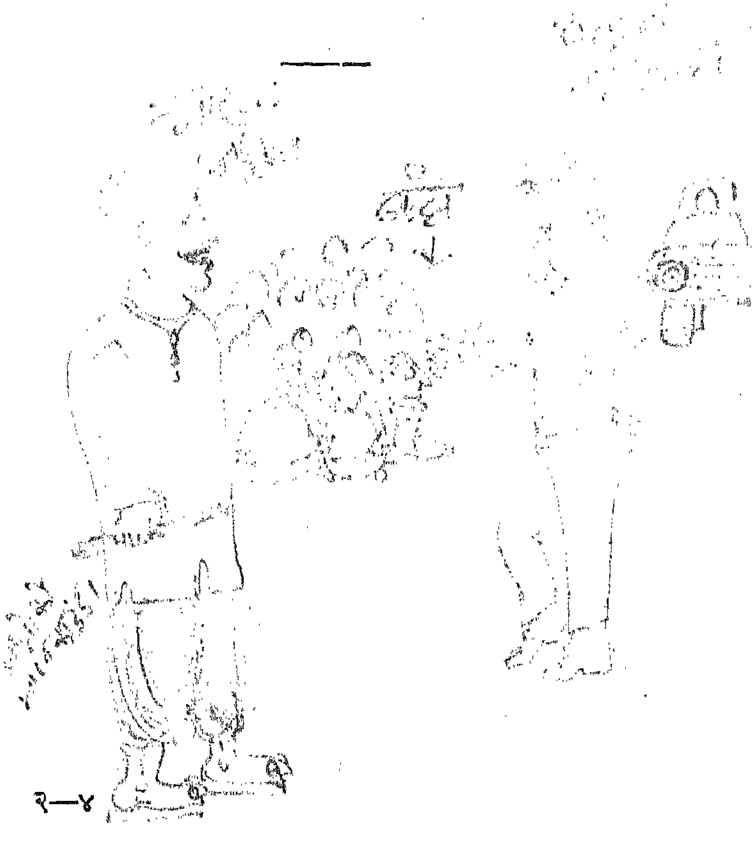
'गर्मियों की तातील थी। दो तातीलों में मोहन मेरे ही साथ रहा था। मामाजी के आग्रह करने पर भी घर न गया। अबकी कालेज के छात्रों ने काश्मीर-यात्रा करने का निश्चय किया और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया। काश्मीर यात्रा की अभिलाषा मुझे चिरकाल से थी। इसी अवसर को गनीमत समझा। मोहन को मामाजी के पास भेजकर मैं काश्मीर चला गया। दो महीने के बाद लौटा, तो मालूम हुआ मोहन बीमार है। काश्मीर में मुझे बार-बार मोहन की याद आती थी और जी चाहता था, लौट जाऊँ। मुझे उस पर इतना प्रेम है, इसका अन्दाज मुझे काश्मीर जाकर हुआ; लेकिन मित्रों ने पीछा न छोड़ा। उसकी बीमारी की खबर पाते ही मैं अधीर हो उठा और दूसरे ही दिन उसके पास जा पहुँचा। मुझे देखते ही उसके पीले और सूखे हुए चेहरे पर आनन्द की स्फूर्ति झलक पड़ी। मैं दौड़कर उसके गले से लिपट

गया। उसकी आँखों में वह दूरदृष्टि और चेहरे पर वह अलौकिक आभा थी, जो मंडराती हुई मृत्यु की सूचना देती है। मैंने आवेश से काँपते हुए स्वर में पूछा—यह तुम्हारी क्या दशा है मोहन? दो ही महीने में यह नौबत पहुँच गई! मोहन ने सरल मुस्कान के साथ कहा—आप काश्मीर की सैर करने गये थे, मैं आकाश की सैर करने जा रहा हूँ।

'मगर यह दुःख की कहानी कह कर मैं रोना और रुलाना नहीं चाहता। मेरे चले जाने के बाद मोहन इतने परिश्रम से पढ़ने लगा मानो तपस्या कर रहा हो। उसे यह धुन सवार हो गई थी कि साल भर की पढ़ाई दो महीने में समाप्त कर ले और स्कूल खुलने के बाद मुझसे इस श्रम का प्रशंसा-रूपी उपहार प्राप्त करे। मैं किस तरह उसकी पीठ ठोकूँगा, शाबाशी दूँगा, अपने मित्रों से बखान करूँगा, इन भावनाओं ने अपने सारे बालोचित उत्साह और तल्लीनता के साथ उसे वशीभूत कर लिया। मामाजी को दफ्तर के कामों से इतना अवकाश कहाँ कि उसके मनोरंजन का ध्यान रखें। शायद उसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पढ़ते देखकर वह दिल में खुश होते थे। उसे खेलते देख कर वह जरूर डाँटते। पढ़ते देखकर भला क्या कहते। फल यह हुआ कि मोहन को हल्का-हल्का ज्वर आने लगा, किन्तु उस दशा में भी उसने पढ़ना न छोड़ा। कुछ और व्यतिक्रम भी हुए, ज्वर का प्रकोप और भी बढ़ा; पर उस दशा में भी ज्वर कुछ हल्का हो जाता, तो किताबें देखने लगता था। उसके प्राण मुझमें ही बने रहते थे। ज्वर की दशा में भी नौकरों से पूछता—भैया का पत्र आया? वह कब आयेंगे? इसके सिवा और कोई दूसरी अभिलाषा न थी। अगर मुझे मालूम होता कि मेरी काश्मीर-यात्रा इतनी महँगी पड़ेगी, तो उधर जाने का नाम भी न लेता। उसे बचाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सकता था, वह मैंने सब किया; किन्तु बुखार टाइफायड था, उसकी जान लेकर ही उतरा। उसके जीवन के स्वप्न मेरे लिए किसी ऋषि के आशीर्वाद बनकर मुझे प्रोत्साहित करने लगे और यह उसी का शुभ फल है कि आज आप मुझे इस दशा में देख रहे हैं। मोहन की बाल अभिलाषाओं को प्रत्यक्ष रूप में लाकर यह मुझे संतोष होता है कि शायद उसकी पवित्र आत्मा मुझे देखकर प्रसन्न होती हो। यही प्रेरणा थी कि जिसने कठिन से कठिन

परीक्षाओं में भी मेरा बेड़ा पार लगाया; नहीं तो मैं आज भी वही मंद-बुद्धि सूर्यप्रकाश हूँ, जिसकी सूरत से आप चिढ़ते थे।'

उस दिन से मैं कई बार सूर्यप्रकाश से मिल चुका हूँ। वह जब इस तरफ आ जाता है, तो बिना मुझसे मिले नहीं जाता। मोहन को अब भी वह अपना इष्टदेव समझता है। मानव-प्रकृति का यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे मैं आज तक नहीं समझ सका।



सद्गति

Sadgati

दुखी चमार द्वार पर झाड़ू लगा रहा था और उसकी पत्नी झुरिया, घर को गोबर से लीप रही थी। दोनों अपने-अपने काम से फुर्सत पा चुके, तो चमारिन ने कहा—तो जाके पंडित बाबा से कह आओ न। ऐसा न हो कहीं चले जायँ।

दुखी—हाँ जाता हूँ, लेकिन यह तो सोच, बैठेंगे किस चीज पर?

झुरिया—कहीं से खटिया न मिल जायगी? ठकुराने से माँग लाना।

दुखी—तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती है कि देह जल जाती है! ठकुरानेवाले मुझे खटिया देंगे! आग तक तो घर से निकलती नहीं, खटिया देंगे! कैथाने में जाकर एक लोटा पानी माँगू तो न मिले। भला खटिया कौन देगा! हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं कि जो चाहे उठा ले जायँ। ले अपनी खटोली धोकर रख दे। गरमी के तो दिन हैं। उनके आते-आते सूख जायगी।

झुरिया—वह हमारी खटोली पर बैठेंगे नहीं। देखते नहीं कितने नेम-धरम से रहते हैं।

दुखी ने जरा चिंतित होकर कहा—हाँ, यह बात तो है। महुए के पत्ते तोड़कर एक पत्तल बना लूँ तो ठीक हो जाय। पत्तल में बड़े-बड़े आदमी खाते हैं। वह पवित्तर है। ला तो डंडा, पत्ते तोड़ लूँ।

झुरिया—पत्तल मैं बना लूँगी, तुम जाओ। लेकिन हाँ, उन्हें सीधा भी तो देना होगा। अपनी थाली में रख दूँ।

दुखी—कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाय और थाली भी फूटे। बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी किरोध चढ़ आता है। किरोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आजतक टूटा हाथ लिये फिरता है। पत्तल में सीधा भी देना, हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीजें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी,

नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जायगा।

इन बातों की ताकीद करके दुखी ने लकड़ी उठाई, और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पण्डितजी से अर्ज करने चला। खाली हाथ बाबाजी की सेवा में कैसे जाता। नजराने के लिए उसके पास घास के सिवाय और क्या था। उसे खाली हाथ देखकर तो बाबा दूर ही से दुत्कारते।

(२)

पण्डित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासन में लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घण्टे तक चन्दन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चन्दन की गोल-गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घण्टी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते। ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी।

आज वह पूजन गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का एक गट्ठा लिये बैठा है। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें साष्टांग दंडवत् करके हाथ बाँधकर खड़ा हुआ। यह तेजस्वी मूर्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। कितनी दिव्य मूर्ति थी। छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल, ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चन्दन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले — आज कैसे चला रे दुखिया ?

दुखी ने सिर झुकाकर कहा—बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन बिचारना है। कब मर्जी होगी ?

घासी—आज मुझे छुट्टी नहीं। हाँ साँझ तक आ जाऊँगा।

दुखी—नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाय। सब समान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ ?

घासी—इस गाय के सामने डाल दे और जरा झाड़ू लेकर द्वार तो साफ कर दे। यह बैठक भी कई दिन से लीपी नहीं गई। उसे भी गोबर से लीप दे। तब तक मैं भोजन कर लूँ। फिर जरा आराम करके चलूँगा। हाँ, यह लकड़ी भी चीर देना। खलिहान में चार खाँची भूसा पड़ा है। उसे भी उठा लाना और भुसौले में रख देना।

दुखी फौरन हुक्म की तामील करने लगा। द्वार पर झाड़ू लगाई, बैठक को गोबर से लीपा। तब तक बारह बज गये। पंडितजी भोजन करने चले गये। दुखी ने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसे भी जोर की भूख लगी; पर वहाँ खाने को क्या धरा था। घर यहाँ से मील भर था। वहाँ खाने चला जाय, तो पंडितजी बिगड़ जायँ। बेचारे ने भूख दबाई और लकड़ी फाड़ने लगा लकड़ी की मोटी-सी गाँठ थी; जिस पर पहले कितने ही भक्तों ने अपना जोर आजमा लिया था। वह उसी दम-खम के साथ लोहे से लोहा लेने के लिए तैयार थी। दुखी घास छीलकर बाजार ले जाता था। लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कसकर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता; पर उस गाँठ पर निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँफता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था। हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर न सीधी होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड़ रही थीं, फिर भी अपना काम किये जाता था। अगर एक चिलम तम्बाकू पीने को मिल जाती, तो शायद कुछ ताकत आती। उसने सोचा, यहाँ चिलम और तम्बाकू कहाँ मिलेगी। बाह्मनों का पूरा है। बाह्मन लोग हम नीच जातों की तरह तमाखू थोड़े ही पीते हैं। सहसा उसे याद आया कि गाँव में एक गोंड़ भी रहता है। उसके यहाँ जरूर चिलम-तमाखू होगी। तुरत उसके घर दौड़ा। खैर मेहनत सुफल हुई। उसने तमाखू भी दी और चिलम भी दी; पर आग वहाँ न थी। दुखी ने कहा—आग की चिन्ता न करो भाई। मैं जाता हूँ पंडितजी के घर से आग माँग लूँगा। वहाँ तो अभी रसोई बन रही थी।

यह कहता हुआ वह दोनों चीजें लेकर चला आया और पंडितजी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला—मालिक, रचिके आग मिल जाय, तो चिलम पी लें।

पंडितजी भोजन कर रहे थे। पंडिताइन ने पूछा—यह कौन आदमी आग माँग रहा है?

पंडित—अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।

पंडिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा—तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाय, नहीं तो इसी लुआठे से मुँह झुलस दूँगी। आग माँगने चले हैं।

पंडितजी ने उन्हें समझाकर कहा—भीतर आ गया, तो क्या हुआ। तुम्हारी कोई चीज तो नहीं छुई। धरती पवित्र है। जरा-सी आग दे क्यों नहीं देती, काम तो हमारा ही कर रहा है। कोई लोनियाँ यही लकड़ी फाड़ता; तो कम-से-कम चार आने लेता।

पंडिताइन ने गरजकर कहा—वह घर में आया क्यों!

पंडित ने हारकर कहा—ससुरे का अभाग था, और क्या!

पंडिताइन—अच्छा, इस वखत तो आग दिये देती हूँ; लेकिन फिर जो इस तरह कोई घर में आयेगा, तो उसका मुँह ही जला दूँगी।

दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पंडित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पवित्तर होते हैं यह लोग, तभी तो संसार पूजता है, तभी तो इतना मान है। भर-चमार थोड़े ही हैं। इसी गाँव में बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अकल भी न आई।

इसलिए जब पंडिताइन आग लेकर निकलीं, तो वह मानो स्वर्ग का बरदान पा गया। दोनों हाथ जोड़कर जमीन पर माथा टेकता हुआ बोला—पड़ाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो

ठहरी। इतने मूरख न होते, तो लात क्यों खाते। पंडिताइन चिमटे से पकड़कर आग लाई थीं। पाँच हाथ की दूरी से घूँघट की आड़ से दुखी की तरफ आग फेंकी। आग की बड़ी-सी चिनगारी दुखी के सिर पर पड़ गयी। जल्दी से पीछे हटकर सिर को झोटे देने लगा। उसके मन ने कहा—यह एक पवित्तर बाह्मन के घर को अपवित्तर करने का फल है। भगवान ने कितनी जल्दी फल दे दिया। इसी से तो संसार पंडितों से डरता है। और सबके रुपये मारे जाते हैं ब्राह्मन के रुपये भला कोई मार तो ले! घर भर का सत्यानाश हो जाय, पाँव गल-गलकर गिरने लगे।

बाहर आकर उसने चिलम पी और फिर कुल्हाड़ी लेकर जुट गया। खट-खट की आवाजें आने लगीं।

उस पर आग पड़ गई, तो पंडिताइन को उस पर कुछ दया आ गई। पंडितजी भोजन करके उठे, तो बोलीं—इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।

पंडितजी ने इस प्रस्ताव को व्यावहारिक क्षेत्र से दूर समझकर पूछा—रोटियाँ हैं?

पंडिताइन—दो-चार बच जायँगी।

पंडित—दो-चार रोटियों में क्या होगा? चमार है, कम से कम सेर भर चढ़ा जायगा।

पंडिताइन कानों पर हाथ रखकर बोलीं—अरे बाप रे! सेर भर! तो फिर रहने दो।

पंडितजी ने अब शेर बनकर कहा—कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्टी ठोंक दो। साले का पेट भर जायगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्टा चाहिए।

पंडिताइन ने कहा—अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।

(३)

दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी सँभाली। दम लेने से जरा हाथों में ताकत आगई थी। कोई आध घण्टे तक फिर कुल्हाड़ी चलाता रहा। फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ के बैठ गया।

इतने में वही गोंड़ आ गया। बोला—क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गांठ न फटेगी। नाहक हलाकान होते हो।

दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा—अभी गाड़ी भर भूसा ढोना है भाई।

गोंड़—कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके माँगते क्यों नहीं?

दुखी—कैसी बात करते हो चिखुरी, बाम्हन की रोटी हमको पचेगी!

गोंड़—पचने को पच जायगी, पहले मिले तो। मूँछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोये, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया। जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी-बहुत मजूरी दे देता है। यह उनसे भी बढ़ गये, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।

दुखी—धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें, तो आफत आ जाय।

यह कह कर दुखी फिर सँभल पड़ा और कुल्हाड़ी की चोट मारने लगा। चिखुरी को उस पर दया आई। आकर कुल्हाड़ी उसके हाथ से छीन ली और कोई आध घंटे खूब कस-कस-कर कुल्हाड़ी चलाई; पर गाँठ में एक दरार भी न पड़ी। तब उसने कुल्हाड़ी फेंक दी और यह कह कर चला गया—तुम्हारे फाड़े यह न फटेगी, जान भले निकल जाय।

दुखी सोचने लगा, बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी कि फाड़े नहीं फटती। कहीं दरार तक तो नहीं पड़ती। मैं कबतक इसे चीरता रहूँगा। अभी घर पर सौ काम पड़े हैं। कार-परोजन का घर है, एक-न-एक चीज घटी ही रहती है; पर इन्हें इसकी क्या चिंता। चलूँ जब तक भूसा ही उठा लाऊँ। कह दूँगा, बाबा, आज तो लकड़ी नहीं फटी, कल आकर फाड़ दूँगा।

उसने झौवा उठाया और भूसा ढोने लगा। खलियान यहाँ से दो फरलांग से कम न था। अगर झौवा खूब भर-भर कर लाता तो काम जल्द खत्म हो जाता; लेकिन फिर झौवे को उठाता कौन। अकेले भरा हुआ झौवा उससे न उठ सकता था। इसलिए थोड़ा-थोड़ा लाता था। चार बजे कहीं भूसा खत्म हुआ। पंडितजी की नींद भी खुली। मुँह-हाथ धोया, पान खाया, और बाहर निकले। देखा, तो दुखी झौवे पर सिर रखे सो रहा है। जोर से

बोले—अरे, दुखिया तू सो रहा है ? लकड़ी तो अभी ज्यों की त्यों पड़ी हुई है । इतनी देर तू करता क्या रहा ? मुट्ठी भर भूसा ढोने में संझा कर दी ! उस पर सो रहा है । उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल । तुझसे जरा-सी लकड़ी नहीं फटती । फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना । इसी से कहा है कि नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँख बदली ।

दुखी ने फिर कुल्हाड़ी उठाई । जो बातें पहले से सोच रखी थीं, वह सब भूल गईं । पेट पीठ में धँसा जाता था, आज सवेरे जलपान तक न किया था । अवकाश ही न मिला । उठना भी पहाड़ मालूम होता था । जी डूबा जाता था; पर दिल को समझा कर उठा । पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय । जभी तो संसार में इतना मान है । साइत ही का तो सब खेल है । जिसे चाहे बिगाड़ दें । पंडितजी गाँठ के पास आकर खड़े हो गये और बढ़ावा देने लगे—हाँ, मार कसके, और मार—कसके मार—अबे जोर से मार—तेरे हाथ में तो जैसे दम ही नहीं है—लगा कसके, खड़ा सोचने क्या लगता है—हाँ—बस फटा ही चाहती है ! दे उसी दरार में !

दुखी अपने होश में न था । न-जाने कौनसी गुप्तशक्ति उसके हाथों को चला रही थी । वह थकान, भूख, कमजोरी सब मानो भाग गई । उसे अपने बाहुबल पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था । एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी । आध घन्टे तक वह इसी तरह उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहाँ तक की लकड़ी बीच से फट गई—और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूट कर गिर पड़ी । इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा । भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया ।

पंडितजी ने पुकारा—उठके दो-चार हाथ और लगा दे । पतली-पतली चैलियाँ हो जायँ । दुखी न उठा । पंडितजी ने अब उसे दिक करना उचित न समझा । भीतर जाकर बूटी छानी, शौच गये, स्नान किया और पंडिताई बाना पहनकर बाहर निकले । दुखी अभी तक वहीं पड़ा हुआ था । जोर से पुकारा—अरे क्या पड़े ही रहोगे दुखी, चलो तुम्हारे ही घर चल रहा हूँ । सब सामान ठीक-ठीक है न ? दुखी फिर भी न उठा ।

अब पण्डितजी को कुछ शंका हुई। पास जाकर देखा, तो दुखी अकड़ा पड़ा हुआ था। बदहवास होकर भागे और पण्डिताइन से बोले—दुखिया तो जैसे मर गया।

पण्डिताइन हकबकाकर बोलीं—वह तो अभी लकड़ी चीर रहा था न!

पण्डित—हाँ लकड़ी चीरते-चीरते मर गया। अब क्या होगा?

पण्डिताइन ने शान्त होकर कहा—होगा क्या, चमरौने में कहला भेजो मुर्दा उठा ले जायँ।

एक क्षण में गाँव भर में खबर हो गई। पूरे में ब्राम्हनों की ही बस्ती थी। केवल एक घर गोंड़ का था। लोगों ने उधर का रास्ता छोड़ दिया। कुएँ का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाय। चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाय। एक बुढ़िया ने पण्डितजी से कहा—अब मुर्दा फेंकवाते क्यों नहीं। कोई गाँव में पानी पीयेगा या नहीं।

इधर गोंड़ ने चमरौने में जाकर सबसे कह दिया—खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली। पण्डित होंगे, तो अपने घरके होंगे। लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़ जाओगे।

इसके बाद ही पण्डितजी पहुँचे; पर चमरौने का कोई आदमी लाश उठा लाने को तैयार न हुआ। हाँ दुखी की स्त्री और कन्या दोनों हाय-हाय करती वहाँ चलीं और पण्डितजी के द्वार पर आकर सिर पीट-पीटकर रोने लगीं। उनके साथ दस-पाँच और चमारिनें थीं। कोई रोती थी, कोई समझाती थी, पर चमार एक भी न था। पण्डितजी ने चमारों को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की; पर चमारों के दिल पर पुलिस का रोब छाया हुआ था, एक भी न मिनका। आखिर निराश होकर लौट आये।

(४)

आधीरात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं का सोना मुश्किल हो गया। पर लाश उठाने कोई चमार न आया, और ब्राम्हन चमार की लाश कैसे उठाते! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है? कहीं कोई दिखा दे।

पण्डिताइन ने झुँझलाकर कहा—इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली। सभों का गला भी नहीं पकता।

पण्डित ने कहा—रोने दो चुड़ैलों को, कब तक रोयेंगी। जीता था, तो कोई बात न पूछता था। मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब की सब आ पहुँचीं।

पण्डिताइन—चमार का रोना मनहूस है।

पण्डित—हाँ, बहुत मन स।

पण्डिताइन—अभी से दुर्गन्ध उठने लगी।

पण्डित—चमार था ससुरा कि नहीं। साध असाध किसी का विचार है इन सबों को।

पण्डिताइन—इन सबों को घिन भी नहीं लगती।

पण्डित—भ्रष्ट हैं सब।

रात तो किसी तरह कटी; मगर सबेरे भी कोई चमार न आया। चमारिनें भी रो-पीटकर चली गईं। दुर्गन्ध कुछ-कुछ फैलने लगी।

पण्डितजी ने एक रस्सी निकाली। उसका फन्दा बनाकर मुरदे के पैर में डाला, और फन्दे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुँधलका था। पण्डितजी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।

उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।

तगादा

सेठ चेतराम ने स्नान किया, शिवजी को जल चढ़ाया, दो दाने मिर्च चबाये, दो लोटे पानी पिया और सोटा लेकर तगादे पर चले।

सेठजी की उम्र कोई पचास की थी। सिर के बाल झड़ गये थे और खोपड़ी ऐसी साफ-सुथरी निकल आई थी, जैसे ऊसर खेत। आपकी आँखें थीं तो छोटी लेकिन बिलकुल गोल। चेहरे के नीचे पेट था और पेट के नीचे टाँगें, मानों किसी पीपे में दो मेखें गाड़ दी गई हों। लेकिन, यह खाली पीपा न था। इसमें सजीवता और कर्मशीलता कूट-कूटकर भरी हुई थी। किसी बाकीदार असामी के सामने इस पीपे का उछलना-कूदना और पैंतरे बदलना देखकर किसी नट का चिगिया भी लज्जित हो जाता। ऐसी आँखें लाल-पीली करते, ऐसे गरजते कि दर्शकों की भीड़ लग जाती थी। उन्हें कंजूस तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि, जब वह दूकान पर होते, तो हरेक भिखमंगे के सामने एक कौड़ी फेंक देते। हाँ, उस समय उनके माथे पर कुछ ऐसा बल पड़ जाता, आँखें कुछ ऐसी प्रचंड हो जातीं, नाक कुछ ऐसी सिकुड़ जाती कि भिखारी फिर उनकी दूकान पर न आता। लहने का बाप तगादा है, इस सिद्धांत के वह अनन्य भक्त थे। जलपान करने के बाद संध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे असामियों के माथे दूध, पूरी, मिठाई आदि पदार्थ खाने को मिल जाते थे। एक वक्त का भोजन बच जाना कोई साधारण बात नहीं है! एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद में उन्होंने अपने तीस वर्षों के महाजनी जीवन में कोई आठ सौ रुपये बचा लिये थे। फिर लौटते समय दूसरी बेला के लिए भी दूध, दही, तेल, तरकारी, उपले ईंधन मिल जाते थे। बहुधा संध्या का भोजन भी न करना पड़ता था। इसलिए तगादे से न चूकते थे। आसमान फटा पड़ता हो, आग बरस रही हो, आँधी आती हो; पर सेठजी प्रकृति के अटल नियम की भाँति तगादे पर जरूर निकल जाते।

सेठानी ने पूछा—भोजन ?

सेठ जी ने गरजकर कहा—नहीं।

'साँझ का ?'

'आने पर देखी जायगी।'

(२)

सेठजी के एक किसान पर पाँच रुपये आते थे। छः महीने से दुष्ट ने सूद ब्याज कुछ न दिया था, और न कभी कोई सौगात लेकर हाजिर हुआ था। उसका घर तीन कोस से कम न था, इसीलिए सेठजी टालते आते थे। आज उन्होंने उसी गाँव चलने का निश्चय कर लिया। आज बिना उस दुष्ट से रुपये लिये न मानूँगा, चाहे कितना ही रोये, घिघियाये। मगर इतनी लम्बी यात्रा पैदल करना निन्दास्पद था। लोग कहेंगे—नाम बड़े दर्शन थोड़े। कहलाने को सेठ, चलते हैं पैदल। इसलिए मंथर गति से इधर-उधर ताकते, राहगीरों से बातें करते चले जाते थे कि लोग समझें वायु-सेवन करने जा रहे हैं।

सहसा एक खाली इक्का उस ि तरफ जाता हुआ मिल गया। इक्केवान ने पूछा—कहाँ लाला, कहाँ जाना है ?

सेठजी ने कहा—जाना तो कहीं नहीं है, दो परग तो और है; लेकिन लाओ बैठ जायँ।

इक्केवाले ने चुभती हुई आँखों से सेठजी को देखा। सेठजी ने भी अपनी गोल आँखों से उसे घूरा। दोनों समझ गये, आज लोहे के चने चबाने पड़ेंगे।

इक्का चला। सेठजी ने पहला वार किया—कहाँ घर है मियाँ साहब ?

'घर कहाँ है हुजूर' जहाँ पड़ रहूँ, वहीं घर है। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेदर हूँ और सबसे बड़ी बात यह है कि बेपर हूँ। तकदीर ने पर काट लिये। लँडूरा बनाकर छोड़ दिया। मेरे दादा नवाबी में चकलेदार थे हजूर, सात जिले के मालिक, जिसे चाहें तोप-दम कर दें, फाँसी पर लटका दें। सूरज निकलने के पहले लाखों की थैलियाँ नजर चढ़ जाती थीं हजूर। नवाब साहब भाई की तरह मानते थे। एक दिन वह थे, एक दिन यह हैं कि हम आप लोगों की ग़ुलामी कर रहे हैं। दिनों का फेर है।'

सेठजी को हाथ मिलाते ही मालूम हो गया, पक्का फिकैत है, अखाड़ेबाज़,

इससे पेश पाना मुश्किल है, पर अब तो कुश्ती बद गई थी, अखाड़े में उतर पड़े थे। बोले—तो यह कहो कि बादशाही घराने के हो। यह सूरत ही गवाही दे रही है। दिनों का फेर है भाई, सब दिन बराबर नहीं जाते। हमारे यहाँ लक्ष्मी को चञ्चला कहते हैं, बराबर चलती रहती है, आज मेरे घर कल तुम्हारे घर। तुम्हारे दादा ने रुपये तो खूब छोड़े होंगे?

इक्केवाला—अरे सेठ, उस दौलत का कोई हिसाब था। न जाने कितने तहखाने भरे हुए थे! बोरों में तो सोने चाँदी के डले रखे हुए थे। जवाहरात टोकरियों में भरे पड़े थे। एक-एक पत्थर पचास-पचास लाख का। चमक-दमक ऐसी थी, कि चिराग मात। मगर तकदीर भी तो कोई चीज है। इधर दादा का चालीसवाँ हुआ, उधर नवाबी बुर्द हुई। सारा खजाना लुट गया। छकड़ों पर लाद-लादकर लोग जवाहरात ले गये। फिर भी घर में इतना बच रहा था कि अब्बाजान ने जिन्दगी भर ऐश किया—ऐसा ऐश किया, कि क्या कोई भकुवा करेगा। सोलह कहारों के सुखपाल पर निकलते थे। आगे-पीछे चोबदार दौड़ते चलते थे। फिर भी मेरे गुजर भर को उन्होंने बहुत छोड़ा। अगर हिसाब-किताब से रहता तो आज भला आदमी होता; । लेकिन रईस का बेटा रईस ही तो होगा। एक बोतल चढ़ाकर बिस्तर से उठता था। रात-रात भर मुजरे होते रहते थे। क्या जानता था, एक दिन यह ठोकरें खानी पड़ेंगी।

सेठ—अल्लामियाँ का सुकुर करो भाई कि ईमानदारी से अपने बाल-बच्चों की परवरिश तो करते हो। नहीं तो हमारे-तुम्हारे कितने ही भाई रात-दिन कुकर्म करते रहते हैं, फिर भी दाने-दाने को मुहताज रहते हैं। ईमान की सलामती चाहिए, नहीं दिन तो सभी के कट जाते हैं, दूध रोटी खाकर कटे तो क्या, सूखे चने चबाकर कटे तो क्या। बड़ी बात तो ईमान है। मुझे तो तुम्हारी सूरत देखते ही मालूम हो गया था, कि नीयत के साफ सच्चे आदमी हो। बेईमानों की तो सूरत ही से फटकार बरसती है।

इक्केवाला—सेठजी, आपने ठीक कहा कि ईमान सलामत रहे, तो सब कुछ है। आप लोगों से चार पैसे मिल जाते हैं, वही बाल बच्चों को खिला-पिलाकर पड़ रहता हूँ। हुजूर, और इक्केवालों को देखिए, तो कोई किसी मर्ज में मुब्तिला है, कोई किसी मर्ज में। मैंने तोबा बोला! ऐसा काम ही क्यों करें, कि

मुसीबत में फँसें। बड़ा कुनबा है हुजूर, माँ हैं, बच्चे हैं, कई बेवाएं हैं, और कमाई यही इक्का है। फिर भी अल्लाह मियाँ किसी तरह निबाहे जाते हैं।

सेठ—वह बड़ा कारसाज़ है खाँ साहब, तुम्हारी कमाई में हमेशा बरकत होगी।

इक्केवाला—आप लोगों की मेहरबानी चाहिए।

सेठ—भगवान की मेहरबानगी चाहिए। तुमसे खूब भेंट हो गई। मैं इक्केवालों से बहुत घबराता हूँ; लेकिन अब मालूम हुआ, अच्छे बुरे सभी जगह होते हैं। तुम्हारे जैसा सच्चा, दीनदार आदमी मैंने नहीं देखा। कैसी तो साफ तबियत पाई है तुमने कि वाह!

सेठजी की ये लच्छेदार बातें सुनकर इक्केवाला समझ गया कि यह महाशय परले सिरे के बैठकबाज हैं। यह सिर्फ मेरी तारीफ करके मुझे चकमा दिया चाहते हैं। अब और किसी पहलू से अपना मतलब निकालना चाहिए। इनकी दया से तो कुछ ले मरना मुश्किल है, शायद इनसे भय से कुछ ले मरूँ। बोला—मगर लाला, यह न समझिए कि मैं जितना सीधा और नेक नजर आता हूँ, उतना सीधा और नेक हूँ भी। नेकों के साथ नेक हूँ लेकिन बुरों के साथ पक्का बदमाश हूँ। यों कहिए आपकी जूतियाँ सीधी कर दूँ; लेकिन किराये के मामले में किसी के साथ रिआयत नहीं करता। रिआयत करूँ, तो खाऊँ क्या?

सेठजी ने समझा था, इक्केवाले को हत्थे पर चढ़ा लिया, अब यात्रा निर्विघ्न और निःशुल्क समाप्त हो जायगी! लेकिन यह अलाप सुना, तो कान खड़े हुए। बोले—भाई रुपये-पैसे के मामले में मैं भी किसी से रियायत नहीं करता; लेकिन कभी-कभी जब यार-दोस्तों का मामला आ पड़ता है, तो झक मारकर दबना ही पड़ता है। तुम्हें भी कभी-कभी बल खाना ही पड़ता होगा। दोस्तों से बेमुरौवती तो नहीं की जाती।

इक्केवाले ने रूखेपन से कहा—मैं किसी के साथ मुरौवत नहीं करता। मुरौवत का सबक तो उस्ताद ने पढ़ाया ही नहीं। एक ही चंडूल हूँ। मजाल क्या कि कोई एक पैसा दबा ले। घरवाली तक को तो मैं एक पैसा देता नहीं, दूसरों की बात ही क्या है। और इक्केवाले अपने महाजन की खुशामद करते हैं। उसके दरवाजे पर खड़े रहते हैं। यहाँ महाजनों को भी धता बताता

हूँ। सब मेरे नाम को रोते हैं। रुपये लिये और साफ डकार गया। देखें अब कैसे वसूल करते हो बच्चा, नालिश करो, घर में क्या धरा है, जो ले लोगे।

सेठजी को मानों जूड़ी चढ़ आई। समझ गये, यह शैतान बिना पैसे लिये न मानेगा। जानते कि यह विपत्ति गले पड़ेगी, तो भूलकर भी इक्के पर पाँव न रखते। इतनी दूर पैदल चलने में कौन पैर टूटे जाते थे। अगर इस तरह रोज पैसे देने पड़े, तो फिर लेन-देन कर चुका।

सेठजी भक्त जीव थे। शिवजी को जल चढ़ाने में, जबसे होश सँभाला, एक नागा भी न किया। क्या भक्तवत्सल शंकर भगवान, इस अवसर पर मेरी सहायता न करेंगे। इष्टदेव का सुमिरन करके बोले—खाँ साहब, और किसी से चाहे न दबो; पर पुलिस से तो दबना ही पड़ता होगा। वह तो किसी के सगे नहीं होते।

इक्केवाले ने कहकहा मारा—कभी नहीं, उनसे उल्टे और कुछ न कुछ वसूल करता हूँ। जहाँ कोई शिकार मिला, झट सस्ते भाड़े बैठाता हूँ और थाने पर पहुँचा देता हूँ। किराया भी मिल जाता है और इनाम भी। क्या मजाल कि कोई बोल सके। लइसन नहीं लिया आज तक लइसन! मजे में सदर में इक्का दौड़ाता फिरता हूँ। कोई साला चूँ नहीं कर सकता। मेले-ठेलों में अपनी खूब बन आती है। अच्छे-अच्छे माल चुन-चुनकर कोतवाली पहुँचाता हूँ। वहाँ कौन किसी की दाल गलती है। जिसे चाहें रोक लें, एक दिन, दो दिन, तीन दिन। बीस बहाने हैं। कह दिया, शक था कि यह औरत को भगाये लिये जाता था, या औरत को कह दिया कि अपनी ससुराल से रूठकर भागी जाती थी। फिर कौन बोल सकता है। साहब भी छोड़ना चाहें, तो नहीं छोड़ सकते। मुझे सीधा न समझिएगा। एक ही हरामी हूँ। सवारियों से पहले किराया तय नहीं करता, ठिकाने पर पहुँचकर एक के दो लेता हूँ। जरा भी चीं-चपड़ किया, तो आस्तीन चढ़ा, पैतरे बदलकर खड़ा हो जाता हूँ। फिर कौन है जो सामने ठहर सके।

सेठजी को रोमांच हो आया। हाथ में एक सोटा तो था, पर उसका व्यवहार करने की शक्ति का उनमें अभाव था। आज बुरे फँसे, न जाने किस मनहूस का मुँह देखकर घर से चले थे। कहीं यह दुष्ट उलझ पड़े, तो दस-पाँच

दिन हल्दी-सोंठ पीना पड़े। अब से भी कुशल है, यहाँ उतर जाऊँ, जो बच जाय वही सही। भीगी बिल्ली बनकर बोले—अच्छा, अब रोक लो खाँ साहब, मेरा गाँव आ गया। बोलो, तुम्हें क्या दे दूँ?

इक्केवाले ने घोड़ी को एक चाबुक और लगाया और निर्दयता से बोला—मजूरी सोच लो भाई। तुमको न बैठाया होता, तो तीन सवारियाँ बैठा लेता। तीनों चार-चार आने भी देते, तो बारह आने हो जाते। तुम आठ ही आने दे दो।

सेठजी की बधिया बैठ गई। इतनी बड़ी रकम उन्होंने उम्र भर इस मद में नहीं खर्च की थी। इतनी-सी दूर के लिए इतना किराया, वह किसी तरह न दे सकते थे। मनुष्य के जीवन में एक ऐसा अवसर भी आता है, जब परिणाम की उसे चिन्ता नहीं रहती। सेठजी के जीवन में यह ऐसा ही अवसर था। अगर आने-दो आने की बात होती, तो खून घूँट पीकर दे देते; लेकिन आठ आने के लिए कि जिसका द्विगुण एक कलदार होता है, अगर तू तू मैं-मैं ही नहीं हाथापाई की भी नौबत आये, तो वह करने को तैयार थे। यह निश्चय करके वह दृढ़ता के साथ बैठे रहे।

सहसा सड़क के किनारे एक झोंपड़ा नजर आया। इक्का रुक गया, सेठजी उतर पड़े और कमर से एक दुअन्नी निकालकर इक्केवान की ओर बढ़ाई।

इक्केवान ने सेठजी के तेवर देखे, तो समझ गया, ताव बिगड़ गया। चाशनी कड़ी होकर कठोर हो गयी। अब यह दाँतों से लड़ेगी। इसे चुबला। कर ही मिठास का आनन्द लिया जा सकता है। नम्रता से बोला—मेरी ओर से इसकी रेवड़ियाँ लेकर बाल-बच्चों को खिला दीजिएगा। अल्लाह आपको सलामत रखे।

सेठजी ने एक आना और निकाला और बोले—बस, अब जबान न हिलाना, एक कौड़ी भी बेसी न दूँगा।

इक्केवाला—नहीं मालिक, आप ही ऐसा कहेंगे, तो हम गरीबों के बाल बच्चे कहाँ से पलेंगे। हम लोग भी आदमी पहचानते हैं हुजूर।

इतने में झोपड़ी में से एक स्त्री गुलाबी साड़ी पहने, पान चबाती हुई निकल आई और बोली—आज बड़ी देर लगाई (यकायक सेठजी को

देखकर) अच्छा, आज लालाजी तुम्हारे इक्के पर थे। फिर आज तुम्हारा मिजाज काहे को मिलेगा। एक चेहरेशाही तो मिली ही होगी। इधर बढ़ा दो सीधे से।

यह कहकर वह सेठजी के समीप आकर बोली—आराम से चरपैया पर बैठो लाला। बड़े भाग थे कि आज सबेरे-सबेरे आपके दर्शन हुए।

उसके वस्त्र मन्द-मन्द महक रहे थे। सेठजी का दिमाग ताजा हो गया। उसकी ओर कनखियों से देखा। औरत चंचल, बाँकी-कटीली, तेज-तर्रार थी। सेठानीजी की मूर्ति आँखों के सामने आ गई—भद्दी, थल-थल पिल-पिल, पैरों में बेवाय फटी हुई, कपड़ों से दुर्गन्ध उड़ती हुई। सेठजी नाममात्र को भी रसिक न थे; पर इस समय आँखों से हार गये। आँखों को उधर से हटाने की चेष्टा करके चारपाई पर बैठ गये। अभी कोस भर की मंजिल बाकी है, इसका ख्याल ही न रहा।

स्त्री एक छोटी-सी पंखिया उठा लाई और सेठजी को झलने लगी। हाथ की प्रत्येक गति के साथ सुगन्ध का एक झोंका आकर सेठजी को उन्मत्त करने लगा।

सेठजी ने जीवन में ऐसा उल्लास कभी अनुभव न किया था। उन्हें प्रायः सभी घृणा की दृष्टि से देखते थे। चोला मस्त हो गया। उसके हाथ से पंखिया छीन लेनी चाही।

'तुम्हें कष्ट हो रहा है, लाओ मैं झल लूँ।'

'यह कैसी बात है लालाजी। आप हमारे दरवाजे पर आये हैं। क्या इतनी खातिर भी न करने दीजियेगा। और हम किस लायक हैं। इधर कहीं दूर जाना है? अब तो बहुत देर हो गई। कहाँ जाइएगा।'

सेठजी ने पापी आँखों को फेरकर और पापी मन को दबाकर कहा—यहाँ से थोड़ी दूर पर एक गाँव है, वहीं जाना है। साँझ को इधर ही से लौटूँगा।

सुन्दरी ने प्रसन्न होकर कहा—तो फिर आज यहीं रहिएगा। साँझ को फिर कहाँ जाइएगा। एक दिन घर के बाहर की हवा भी खाइए। फिर न-जाने कब मुलाकात होगी।

इक्केवाले ने आकर सेठजी के कान में कहा—पैसे निकालिए तो दाने-चारे का इन्तजाम करूँ।

सेठजी ने चुपके से अठन्नी निकालकर दे दी।

इक्केवाले ने फिर पूछा—आपके लिए कुछ मिठाई लेता आऊँ? यहाँ आपके लायक मिठाई तो क्या मिलेगी, हाँ मुँह मीठा हो जायगा।

सेठजी बोले—मेरे लिये कोई जरूरत नहीं, हाँ बच्चों के लिए यह चार आने की मिठाई लिवाते आना।

चवन्नी निकालकर, सेठजी ने उसके सामने ऐसे गर्व से फेंकी मानो इसकी उनके सामने कोई हकीकत नहीं है। सुन्दरी के मुँह का भाव तो देखना चाहते थे; पर डरते थे कि कहीं वह यह न समझे, लाला चवन्नी क्या दे रहे हैं, मानो किसी को मोल ले रहे हैं।

इक्केवाला चवन्नी उठाकर जा ही रहा था कि सुन्दरी ने कहा—सेठजी की चवन्नी लौटा दो। लपककर उठा ली। शर्म नहीं आती। यह मुझसे रुपया ले लो। आठ आने की ताजी मिठाई बनवाकर लाओ।

उसने रुपया निकाल कर फेंका। सेठजी मारे लाज के गड़ गये। एक इक्केवान की भठियारिन जिसकी टके की भी औक़ात नहीं, इतनी खातिरदारी करे कि उनके लिए पूरा रुपया निकालकर दे दे, यह भला वह कैसे सह सकते थे। बोले—नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम अपना रुपया रख लो। (रसिक आँखों को तृप्त करके) मैं रुपया दिये देता हूँ। यह लो, आठ आने की ले लेना।

इक्केवान तो उधर मिठाई और दाना-चारे की फिक्र में चला, इधर सुन्दरी ने सेठ से कहा—वह तो अभी देर में आयेगा लाला, तब तक पान तो खाओ।

सेठजी ने इधर-उधर ताककर कहा—यहाँ तो कोई तम्बोली नहीं है।

सुन्दरी उनकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखकर बोली—क्या मेरे लगाये पान तम्बोली के पानों से भी खराब होंगे?

सेठजी ने लज्जित होकर कहा—नहीं-नहीं, यह बात नहीं। तुम मुसलमान हो न?

सुन्दरी ने विनोदमय आग्रह से कहा—खुदा की कसम, इसी बात पर मैं तुम्हें पान खिलाकर छोड़ूँगी !

यह कहकर उसने पानदान से एक बीड़ा निकाला और सेठजी की तरफ चली। सेठजी ने एक मिनिट तक तो हाँ ! हाँ ! किया, फिर दोनों हाथ बढ़ाकर उसे हटाने की चेष्टा की, फिर जोर से दोनों ओठ बन्द कर लिये पर जब सुन्दरी किसी तरह न मानी, तो सेठजी अपना धर्म लेकर बेतहाशा भागे। लोटा वहीं चारपाई पर रह गया। बीस कदम पर जाकर आप रुक गये और हाँफकर बोले—देखो, इस तरह किसी का धर्म नहीं लिया जाता। हम लोग तुम्हारा छूआ पानी पी लें, तो धर्म भ्रष्ट हो जाय।

सुन्दरी ने फिर दौड़ाया। सेठजी फिर भागे। इधर पचास वर्ष से उन्हें इस तरह भागने का अवसर न पड़ा था। धोती खिसककर गिरने लगी मगर इतना अवकाश न था कि धोती बाँध लें। बेचारे धर्म को कंधे पर रखे दौड़े चले जाते थे। न मालूम कब कमर से रुपयों का बटुआ खिसक पड़ा। जब एक पचास कदम पर फिर रुके और धोती ऊपर उठाई, तो बटुआ नदारद। पीछे फिरकर देखा। सुन्दरी हाथ में बटुआ लिये उन्हें दिखा रही थी और इशारे से बुला रही थी। मगर सेठजी को धर्म रुपये से कहीं प्यारा था। दो-चार कदम चले फिर रुक गये।

यकायक धर्म-बुद्धि ने डाँट बताई। थोड़े रुपये के लिए धर्म छोड़े देते हो। रुपये बहुत मिलेंगे। धर्म कहाँ मिलेगा।

यह सोचते हुए वह अपनी राह चले, जैसे कोई कुत्ता झगड़ालू कुत्तों के बीच से आहत, दुम दबाये भागा जाता हो और बार-बार पीछे फिरकर देख लेता हो कि कहीं वे दुष्ट आ तो नहीं रहे हैं।

दो कब्रें

अब न वह यौवन है, न वह नशा, न वह उन्माद । वह महफिल उठ गई, वह दीपक बुझ गया, जिससे महफिल की रौनक थी । वह प्रेममूर्ति कब्र की गोद में सो रही है । हाँ, उसके प्रेम की छाप अब भी हृदय पर है और उसकी अमर स्मृति आँखों के सामने । वारांगनाओं में ऐसी वफा, ऐसा प्रेम, ऐसा व्रत दुर्लभ है और रईसों में ऐसा विवाह, ऐसा समर्पण, ऐसी भक्ति और भी दुर्लभ । कुँअर रनवीरसिंह रोज बिला नागा संध्या समय ज़ुहरा की कब्र के दर्शन करने जाते, उसे फूलों से सजाते, आँसुओं से सींचते । पंद्रह साल गुजर गये, एक दिन भी नागा नहीं हुआ । प्रेम की उपासना ही उनके जीवन का उद्देश्य था, उस प्रेम का जिसमें उन्होंने जो कुछ देखा वही पाया और जो कुछ अनुभव किया, उसी की याद अब भी उन्हें मस्त कर देती है । इस उपासना में सुलोचना भी उनके साथ होती, जो ज़ुहरा का प्रसाद और कुँअर साहब की सारी अभिलाषाओं का केन्द्र थी ।

कुँअर साहब ने दो शादियाँ की थीं, पर दोनों स्त्रियों में से एक भी संतान का मुँह न देख सकी । कुँअर साहब ने फिर विवाह न किया । एक दिन एक महफिल में उन्हें ज़ुहरा के दर्शन हुए । उस निराश पति और अतृप्त युवती में ऐसा मेल, मानो चिरकाल से बिछुड़े हुए दो साथी फिर मिल गये हों । जीवन का बसन्त विकास संगीत और सौरभ से भरा हुआ आया मगर अफसोस ! पाँच वर्षों के अल्पकाल में उसका भी अंत हो गया । वह मधुर स्वप्न निराशा से भरी हुई जागृति में लीन हो गया । वह सेवा और व्रत की देवी तीन साल की सुलोचना को उनकी गोद में सौंपकर सदा के लिए सिधार गई ।

कुँअर साहब ने इस प्रेमादेश का इतने अनुराग से पालन किया कि देखनेवालों को आश्चर्य होता था । कितने ही तो उन्हें पागल समझते थे । सुलोचना ही की नींद सोते, उसी की नींद जागते, खुद पढ़ाते, उसके साथ

सैर करते—इतनी एकाग्रता के साथ, जैसे कोई विधवा अपने अनाथ बच्चे को पाले।

जब से वह यूनिवर्सिटी में दाखिल हुई, उसे खुद मोटर में पहुँचा आते और शाम को खुद जाकर ले आते। वह उसके माथे पर से वह कलंक धो डालना चाहते थे, जो मानो विधाता ने क्रूर हाथों से लगा दिया था। धन तो उसे न धो सका, शायद विद्या धो डाले।

एक दिन शाम को कुँवर साहब जुहरा के मजार को फूलों से सजा रहे थे और सुलोचना कुछ दूर पर खड़ी अपने कुत्ते को गेंद खेला रही थी कि सहसा उसने अपने कालेज के प्रोफेसर डाक्टर रामेंद्र को आते देखा। सकुचाकर मुँह फेर लिया, मानो उन्हें देखा नहीं। शंका हुई कहीं रामेंद्र इस मजार के विषय में कुछ पूछ न बैठें।

यूनिवर्सिटी में दाखिल हुए उसे एक साल हुआ। इस एक साल में उसने प्रणय के विविध रूपों को देख लिया था। कहीं क्रीड़ा थी, कहीं विनोद था, कहीं कुत्सा थी, कहीं लालसा थी, कहीं उच्छृङ्खलता थी, किन्तु कहीं वह सहृदयता न थी, जो प्रेम का मूल है। केवल रामेंद्र ही एक ऐसे सज्जन थे, जिन्हें अपनी ओर ताकते देखकर उसके हृदय में सनसनी होने लगती थी; पर उनकी आँखों में कितनी विवशता, कितनी पराजय, कितन वेदना छिपी होती थी।

रामेंद्र ने कुँवर साहब की ओर देखकर कहा—तुम्हारे बाबा इस कब्र क्या कर रहे हैं?

सुलोचना का चेहरा कानों तक लाल हो गया—बोली—यह इनकी आदत है।

रामेंद्र—किसी महात्मा की समाधि है?

सुलोचना ने इस सवाल को उड़ा देना चाहा। रामेंद्र यह तो जानते थे कि सुलोचना कुँवर साहब की दाश्ता औरत की लड़की है; पर उन्हें यह न मालूम था कि यह उसी की कब्र है और कुँवर साहब अतीत प्रेम के इतने तदेहसक हैं। मगर यह प्रश्न उन्होंने बहुत धीमे स्वर में न किया था। कुँवर ही यब जूते पहन रहे थे। यह प्रश्न उनके कान में पड़ गया। जल्दी से जूता

पहन लिया और समीप जाकर बोले—संसार की आँखों में तो वह महात्मा न थी; पर मेरी आँखों में थी, और है। यह मेरे प्रेम की समाधि है।

सुलोचना की इच्छा होती थी, यहाँ से भाग जाऊँ; लेकिन कुँवर साहब को जुहरा के यशोगान में आत्मिक आनन्द मिलता था। रामेंद्र का विस्मय देखकर बोले—इसमें वह देवी सो रही है, जिसने मेरे जीवन को स्वर्ग बना दिया था। यह सुलोचना उसी का प्रसाद है।

रामेंद्र ने कब्र की तरफ देखकर आश्चर्य से कहा—अच्छा!

कुँवर साहब ने मन में उस प्रेम का आनन्द उठाते हुए कहा—वह जीवन ही और था, प्रोफेसर साहब। ऐसी तपस्या मैंने और कहीं नहीं देखी। आपको फुरसत हो, तो मेरे साथ चलिए। आपको उन यौवन-स्मृतियों......

सुलोचना बोल उठी—वह सुनाने की चीज नहीं है, दादा!

कुँवर—मैं रामेंद्र बाबू को गैर नहीं समझता।

रामेंद्र को प्रेम का यह अलौकिक रूप मनोविज्ञान का एक रत्न-सा मालूम हुआ। वह कुँवर साहब के साथ ही उनके घर आये और कई घंटे तक उन हसरत में डूबी हुई प्रेम-स्मृतियों को सुनते रहे।

जो वरदान माँगने के लिए उन्हें साल भर से साहस न होता था, दुविधे में पड़कर रह जाते थे, वह आज उन्होंने माँग लिया।

(२)

लेकिन विवाह के बाद रामेंद्र को नया अनुभव हुआ। महिलाओं का आना-जाना प्रायः बंद हो गया। इसके साथ ही मर्द दोस्तों की आमद-रफ्त बढ़ गई। दिन भर उनका ताँता लगा रहता था। सुलोचना उनके आदर-सत्कार में लगी रहती। पहले एक-दो महीने तक तो रामेंद्र ने इधर ध्यान नहीं दिया; लेकिन जब कई महीने गुजर गये और स्त्रियों ने बहिष्कार का त्याग न किया तो उन्होंने एक दिन सुलोचना से कहा—यह लोग आजकल अकेले ही आते हैं!

सुलोचना ने धीरे से कहा—हाँ देखती तो हूँ।

रामेंद्र—इनकी औरतें तो तुमसे परहेज नहीं करतीं?

सुलोचना—शायद करती हों।

रामेंद्र—मगर वे लोग तो विचारों के बड़े स्वाधीन हैं। इनकी औरतें भी शिक्षित हैं, फिर यह क्या बात है?

सुलोचना ने दबी जबान से कहा—मेरी समझ में कुछ नहीं आता।

रामेंद्र ने कुछ देर असमंजस में पड़कर कहा—हम लोग किसी दूसरी जगह चले जायँ, तो क्या हर्ज? वहाँ तो कोई हमें न जानता होगा।

सुलोचना ने अबकी तीव्र स्वर में कहा—दूसरी जगह क्यों जायें। हमने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है, किसी से कुछ माँगते नहीं। जिसे आना हो आये, न आना हो न आये। मुँह क्यों छिपायें।

धीरे-धीरे रामेंद्र पर एक और रहस्य खुलने लगा, जो महिलाओं के व्यवहार से कहीं अधिक घृणास्पद और अपमान-जनक था। रामेन्द्र को अब मालूम होने लगा कि ये महाशय जो आते हैं और घंटों बैठे सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर बहसें किया करते हैं, वास्तव में विचार-विनिमय के लिए नहीं बल्कि रूप की उपासना के लिए आते हैं। उनकी आँखें सुलोचना को खोजती रहती हैं। उनके कान उसी की बातों की ओर लगे रहते हैं। उसकी रूप माधुरी का आनंद उठाना ही उनका अभीष्ट है। यहाँ उन्हें वह संकोच नहीं होता, जो किसी भले आदमी की बहू-बेटी की ओर आँखें नहीं उठने देता। शायद वे सोचते हैं, यहाँ उन्हें कोई रोक-टोक नहीं है।

कभी-कभी जब रामेंद्र की अनुपस्थिति में कोई महाशय आ जाते, तो सुलोचना को बड़ी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता। वे अपनी चितवनों से, अपने कुत्सित संकेतों से, अपनी रहस्यपूर्ण बातों से, अपनी लम्बी साँसों से उसे दिखाना चाहते थे, कि हम भी तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं; अगर रामेंद्र का तुम पर सोलहों आना अधिकार है, तो थोड़ी-सी दक्षिणा के अधिकारी हम भी हैं। सुलोचना उस वक्त जहर का घूँट पीकर रह जाती।

अब तक रामेंद्र और सुलोचना दोनों क्लब जाया करते थे। वहाँ उदार सज्जनों का अच्छा जमघट रहता था। जब तक रामेंद्र को किसी की ओर से संदेह न था, वह उसे आग्रह करके अपने साथ ले जाते थे। सुलोचना के पहुँचते ही वहाँ एक स्फूर्ति-सी उत्पन्न हो जाती थी। जिस मेज पर सुलोचना बैठती,

उसे लोग घेर लेते थे। कभी-कभी सुलोचना गाती भी थी। उस वक्त सब-के-सब उन्मत्त हो जाते।

क्लब में महिलाओं की संख्या अधिक न थी। मुश्किल से पाँच-छः लेडियाँ आती थीं; मगर वे भी सुलोचना से दूर-दूर रहती थीं, बल्कि अपनी भाव-भंगियों और कटाक्षों से वे उसे जता देना चाहती थीं कि तुम पुरुषों का दिल खुश करो, हम कुल-वधुओं के पास तुम नहीं आ सकती।

लेकिन जब रामेंद्र पर इस कटु सत्य का प्रकाश हुआ, तो उन्होंने क्लब जाना छोड़ दिया, मित्रों के यहाँ आना-जाना भी कम कर दिया, और अपने यहाँ आनेवालों की भी उपेक्षा करने लगे। वह चाहते थे कि मेरे एकांतवास में कोई विघ्न न डाले। आखिर उन्होंने बाहर आना-जाना छोड़ दिया। अपने चारों ओर छल-कपट का जाल-सा बिछा हुआ मालूम होता था, किसी पर विश्वास न कर सकते थे, किसी से सद्व्यवहार की आशा नहीं। सोचते—ऐसे धूर्त, कपटी, दोस्ती की आड़ में गला काटनेवाले आदमियों से मिलें ही क्यों?

वे स्वभाव से मिलनसार आदमी थे। पक्के यारबाश। यह एकान्तवास जहाँ न कोई सैर थी, न विनोद, न कोई चहल-पहल, उनके लिए कठिन कारा-वास से कम न था। यद्यपि कर्म और वचन से सुलोचना की दिलजोई करते रहते थे; लेकिन सुलोचना की सूक्ष्म और सशंक आँखों से अब यह बात छिपी न थी कि यह अवस्था इनके लिए दिन-दिन असह्य होती जाती थी। वह दिल में सोचती—इनकी यह दशा मेरे ही कारण तो है, मैं ही तो इनके जीवन का काँटा हो गई!

एक दिन उसने रामेंद्र से कहा—आजकल क्लब क्यों नहीं चलते? कई सप्ताह हुए घर से निकलते तक नहीं।

रामेंद्र ने बेदिली से कहा—मेरा जी कहीं जाने को नहीं चाहता। अपना घर सबसे अच्छा।

सुलोचना—जी तो ऊबता ही होगा। मेरे कारण यह तपस्या क्यों करते हो? मैं तो न जाऊँगी। उन स्त्रियों से मुझे घृणा होती है। उनमें एक भी ऐसी नहीं, जिसके दामन पर काले दाग नहीं; लेकिन सब सीता बनी फिरती

हैं। मुझे तो उनकी सूरत से चिढ़ हो गई है। मगर तुम क्यों नहीं जाते? कुछ दिल ही बहल जायगा।

रामेंद्र—दिल नहीं पत्थर बहलेगा। जब अन्दर आग लगी हुई हो, तो बाहर शांति कहाँ?

सुलोचना चौंक पड़ी। आज पहिली बार उसने रामेंद्र के मुँह से ऐसी बात सुनी। वह अपने ही को बहिष्कृत समझती थी। अपना अनादर जो कुछ था, उसका था। रामेंद्र के लिए तो अब भी सब दरवाजे खुले हुए थे। वह जहाँ चाहें जा सकते हैं, जिनसे चाहें मिल सकते हैं, उनके लिए कौन-सी रुकावट है। लेकिन नहीं, अगर उन्होंने किसी कुलीन स्त्री से विवाह किया होता, तो उनकी यह दशा क्यों होती? प्रतिष्ठित घरानों की औरतें आतीं, आपस में मैत्री बढ़ती, जीवन सुख से कटता, रेशम में रेशम का पैबन्द लग जाता। अब तो उसमें टाट का पैबन्द लग गया। मैंने आकर सारे तालाब को गंदा कर दिया। उसके मुख पर उदासी छा गई।

रामेंद्र को भी तुरन्त मालूम हो गया कि उनकी जबान से एक ऐसी बात निकल गई, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं। उन्होंने फौरन बात बनाई – क्या तुम समझती हो कि हम और तुम अलग अलग हैं। हमारा और तुम्हारा जीवन एक है। जहाँ तुम्हारा आदर नहीं वहाँ मैं कैसे जा सकता हूँ? फिर मुझे भी समाज के इन रंगे सियारों से घृणा हो रही है। मैं इन सबों के कच्चे चिट्ठे जानता हूँ। पद या उपाधि या धन से किसी की आत्मा शुद्ध नहीं हो जाती। जो ये लोग करते हैं, वह अगर कोई नीचे दरजे का आदमी करता, उसे कहीं मुँह दिखाने की हिम्मत न होती। मगर यह लोग अपनी सारी बुराइयाँ उदारतावाद के पर्दे में छिपाते हैं। इन लोगों से दूर रहना ही अच्छा।

सुलोचना का चित्त शांत हो गया।

(४)

दूसरे साल सुलोचना की गोद में एक चाँद-सी बालिका का उदय हुआ। उसका नाम रक्खा गया शोभा। कुँवर साहब का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ अच्छा न था। मंसूरी गये हुये थे। यह खबर पाते ही रामेंद्र को तार दिया कि जच्चा और बच्चा को लेकर यहाँ आ जाओ।

लेकिन रामेंद्र इस अवसर पर न जाना चाहते थे। अपने मित्रों की सज्जनता और उदारता की अंतिम परीक्षा लेने का इससे अच्छा और कौन-सा अवसर हो सकता था। सलाह हुई, एक शानदार दावत दी जाय। प्रोग्राम में संगीत भी शामिल था। कई अच्छे-अच्छे गवैये बुलाये गये। अँगरेजी, हिंदुस्तानी, मुसलमानी, सभी प्रकार के भोजनों का प्रबन्ध किया गया।

कुँवर साहब गिरते-पड़ते मंसूरी से आये। उसी दिन दावत थी। नियत समय पर निमंत्रित लोग एक-एक करके आने लगे। कुँवर साहब स्वयं उनका स्वागत कर रहे थे। खाँ साहब आये, मिर्जा साहब आये, मीर साहब आये; मगर पंडितजी और बाबूजी और लाला साहब और चौधरी साहब और कक्कड़, मेहरा और चोपड़ा, कौल और हुक्कू, श्रीवास्तव और खरे किसी का पता न था।

यह सभी लोग होटलों में सब कुछ खाते थे, अंडे और शराब उड़ाते थे—इस विषय में किसी तरह का विवेक या विचार न करते थे। फिर आज क्यों तशरीफ नहीं लाये? इसलिए नहीं कि छूत-छात का विचार था; बल्कि इसलिए कि वह अपनी उपस्थिति को इस विवाह के समर्थन की सनद समझते थे और वह सनद देने की उनकी इच्छा न थी।

दस बजे रात तक कुँवर साहब फाटक पर खड़े रहे। जब उस वक्त तक कोई न आया, तो कुँवर साहब ने आकर रामेंद्र से कहा—अब लोगों का इन्तजार फजूल है। मुसलमानों को खिला दो और बाकी सामान गरीबों को दिला दो।

रामेंद्र एक कुर्सी पर हतबुद्धि-से बैठे हुए थे। कुंठित स्वर में बोले—जी हाँ, यही तो मैं सोच रहा हूँ।

कुँवर—मैंने तो पहले ही समझ लिया था। हमारी तौहीन नहीं हुई। खुद उन लोगों की कलई खुल गई।

रामेंद्र—खैर, परीक्षा तो हो गई। कहिए तो अभी जाकर एक-एक की खबर लूँ।

कुँवर साहब ने विस्मित होकर कहा—क्या उनके घर जाकर?

रामेंद्र—जी हाँ। पूछूँ, कि आप लोग जो समाज-सुधार का राग अलापते फिरते हैं, वह किस बल पर?

कुँवर—व्यर्थ है। जाकर आराम से लेटो। नेक और बद की सबसे बड़ी पहचान अपना दिल है। अगर हमारा दिल गवाही दे कि यह काम बुरा नहीं, तो फिर सारी दुनिया मुँह फेर ले, हमें किसी की परवाह न करनी चाहिए।

रामेंद्र—लेकिन मैं इन लोगों को यों न छोड़ूँगा—एक-एक की बखिया उधेड़ कर न रख दूँ तो नाम नहीं।

यह कहकर उन्होंने पत्तल और सकोरे उठवा-उठवा कर कंगालों को देना शुरू किया।

(५)

रामेन्द्र सैर करके लौटे ही थे कि वेश्याओं का एक दल सुलोचना को बधाई देने के लिए आ पहुँचा! जुहरा की एक सगी भतीजी थी, गुलनार। सुलोचना के यहाँ पहले बराबर आती-जाती थी। इधर दो साल से न आई थी। यह उसी का बधावा था। दरवाजे पर अच्छी खासी भीड़ हो गई थी। रामेंद्र ने यह शोर-गुल सुना, गुलनार ने आगे बढ़कर उन्हें सलाम किया और बोली—बाबूजी, बेटी मुबारक, बधावा लाई हूँ।

रामेंद्र पर मानो लकवा-सा गिर गया। सिर झुक गया और चेहरे पर कालिमा सी पुत गई। न मुँह से बोले, न किसी को बैठने का इशारा किया, न वहाँ से हिले। बस मूर्तिवत् खड़े रह गये। एक बाजारी औरत से नाता पैदा करने का ख्याल इतना लज्जास्पद था इतना जघन्य कि उसके सामने सज्जनता भी मौन रह गई। इतना शिष्टाचार भी न कर सके कि सबों को कमरे में ले जाकर बिठा तो देते। आज पहली ही बार उन्हें अपने अधःपतन का अनुभव हुआ। मित्रों की कुटिलता और महिलाओं की उपेक्षा को वह उनका अन्याय समझते थे, अपना अपमान नहीं, लेकिन यह बधावा उनकी अबाध उदारता के लिए भी भारी था।

सुलोचना का जिस वातावरण में पालन-पोषण हुआ था, वह एक प्रतिष्ठित हिन्दू कुल का वातावरण था। यह सच है कि अब भी सुलोचना नित्य जुहरा के मजार की परिक्रमा करने जाती थी; मगर जुहरा अब एक पवित्र स्मृति थी, दुनिया की मलिनताओं और कलुषताओं से रहित। गुलनार से नातेदारी और परस्पर का निबाह दूसरी बात थी। जो लोग तसवीरों के सामने सिर झुकाते हैं,

उन पर फूल चढ़ाते हैं, वे भी तो मूर्ति पूजा की निन्दा करते हैं। एक स्पष्ट है, दूसरा सांकेतिक। एक प्रत्यक्ष है, दूसरा आँखों से छिपा हुआ।

सुलोचना अपने कमरे में चिक की आड़ में खड़ी रामेन्द्र का असमंजस और क्षोभ देख रही थी। जिस समाज को उसने अपना उपास्य बनाना चाहा था, जिसके द्वार पर सिजदे करते उसे बरसों हो गये थे, उसकी तरफ से निराश होकर, उसका हृदय इस समय उससे विद्रोह करने पर तुला हुआ था। उसके जी में आता था—गुलनार को बुलाकर गले लगा लूँ? जो लोग मेरी बात भी नहीं पूछते, उनकी खुशामद क्यों करूँ? यह बेचारियाँ इतनी दूर से आई हैं मुझे अपना ही समझकर तो। उनके दिल में प्रेम तो है, यह मेरे दुःख-सुख में शरीक होने को तैयार तो हैं।

आखिर रामेंद्र ने सिर उठाया और शुष्क मुस्कान के साथ गुलनार से बोले—आइए, आप लोग अन्दर चली आइए। यह कहकर वह आगे-आगे रास्ता दिखाते हुए दीवानखाने की ओर चले कि सहसा महरी निकली और गुलनार के हाथ में एक पुर्जा देकर चली गई। गुलनार ने वह पुर्जा लेकर देखा और उसे रामेंद्र के हाथ में देकर वहीं खड़ी हो गई। रामेन्द्र ने पुर्जा देखा, लिखा था—बहन गुलनार, तुम यहाँ नाहक आईं। हम लोग योंही बदनाम हो रहे हैं। अब और बदनाम मत करो, बधावा वापस ले जाओ। कभी मिलने का जी चाहे, तो रात को आना और अकेली। मेरा जी तुमसे गले लिपटकर रोने के लिए तड़प रहा है मगर मजबूर हूँ।

रामेंद्र ने पुर्जा फाड़कर फेंक दिया और उद्दण्ड होकर बोले—इन्हें लिखने दो। मैं किसी से नहीं डरता। अन्दर आओ।

गुलनार ने एक कदम पीछे फिरकर कहा—नहीं बाबूजी, अब हमें आज्ञा दीजिए।

रामेंद्र—एक मिनट तो बैठो।

गुलनार—जी नहीं। एक सेकिंड भी नहीं।

(६)

गुलनार के चले जाने के बाद रामेन्द्र अपने कमरे में जा बैठे। जैसी पराजय उन्हें आज ई, वैसी पहले कभी नहीं हुई। वह आत्माभिमान, वह सच्चा क्रोध,

जो अन्याय के ज्ञान से पैदा होता है, लुप्त हो गया था। उसकी जगह लज्जा थी और ग्लानि। इसे बधावे की क्यों सूझ गई। यों तो कभी आती-जाती न थी, आज न-जाने कहाँ से फट पड़ी। कुँवर साहब होंगे इतने उदार। उन्होंने जुहरा के नातेदारों से भाईचारे का निबाह किया होगा, मैं इतना उदार नहीं हूँ। कहीं सुलोचना छिपकर इसके पास आती-जाती तो नहीं! लिखा भी तो है कि मिलने का जी चाहे, तो रात को आना और अकेली—क्यों न हो, खून तो वही है, मनोवृत्ति वही, विचार वही, आदर्श वही। माना, कुँवर साहब के घर में पालन-पोषण हुआ; मगर रक्त का प्रभाव इतनी जल्दी नहीं मिट सकता। अच्छा, दोनों बहनें मिलती होंगी, तो उनमें क्या बातें होती होंगी? इतिहास या नीति की चर्चा तो हो नहीं सकती। वही निर्लज्जता की बातें होती होंगी। गुलनार अपना वृत्तांत कहती होगी, उस बाजार के खरीदारों और दूकानदारों के गुण-दोषों पर बहस होती होगी। यह तो हो ही नहीं सकता कि गुलनार इसके पास आते ही अपने को भूल जाय और कोई भद्दी, अनर्गल और कलुषित बातें न करे। एक क्षण में उनके विचारों ने पलटा खाया—मगर आदमी बिना किसी से मिले-जुले रह भी तो नहीं सकता, यह भी तो एक तरह की भूख है। भूख में अगर शुद्ध भोजन न मिले, तो आदमी जूठा खाने से भी परहेज नहीं करता। अगर इन लोगों ने सुलोचना को अपनाया होता, उसका यों बहिष्कार न करते, तो उसे क्यों ऐसे प्राणियों से मिलने की इच्छा होती। उसका कोई दोष नहीं, यह सारा दोष परिस्थितियों का है, जो हमारे अतीत की याद दिलाती रहती हैं।

रामेंद्र इन्हीं विचारों में पड़े हुए थे कि कुँवर साहब आ पहुँचे और कटु स्वर में बोले—मैंने सुना गुलनार अभी बधावा लाई थी, तुमने उसे लौटा दिया।

रामेंद्र का विरोध सजीव हो उठा। बोले—मैंने तो नहीं लौटाया, सुलोचना ने लौटाया। पर मेरे ख्याल में अच्छा किया।

कुँवर—तो यह कहो तुम्हारा इशारा था। तुमने इन पतितों को अपनी ओर खींचने का कितना अच्छा अवसर हाथ से खो दिया है! सुलोचना को देखकर जो कुछ असर पड़ा, वह तुमने मिटा दिया। बहुत संभव था कि एक प्रतिष्ठित आदमी से नाता रखने का अभिमान उसके जीवन में एक नये युग का आरम्भ करता, मगर तुमने इन बातों पर जरा भी ध्यान न दिया।

रामेंद्र ने कोई जवाब न दिया। कुँवर साहब जरा उत्तेजित होकर बोले—आप लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हरेक बुराई मजबूरी से होती है। चोर इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनन्द आता है; बल्कि केवल इसलिए कि जरूरत उसे मजबूर करती है। हाँ, वह जरूरत वास्तविक है या काल्पनिक इसमें मतभेद हो सकता है। स्त्री के मैके जाते समय कोई गहना बनवाना एक आदमी के लिए जरूरी हो सकता है। दूसरे के लिए बिल्कुल गैरजरूरी। क्षुधा से व्यथित होकर एक आदमी अपना ईमान खो सकता है, दूसरा मर जायगा पर किसी के सामने हाथ न फैलायेगा। पर प्रकृति का यह नियम आप जैसे विद्वानों को न भूलना चाहिए कि जीवन-लालसा प्राणीमात्र में व्यापक है। जिंदा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। जिंदा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेंगी, जितना ही आसान होगा उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि जिंदा रहना हरेक के लिए सुलभ हो। रामेंद्र बाबू आप ने इस वक्त इन लोगों के साथ वही व्यवहार किया जो दूसरे आप के साथ कर रहे हैं और जिससे आप बहुत दुःखी हैं।

रामेंद्र ने इस लंबे व्याख्यान को इस तरह सुना, जैसे कोई पागल बक रहा हो। इस तरह की दलीलों का वह खुद कितनी ही बार समर्थन कर चुके थे; पर दलीलों से व्यथित अंग की पीड़ा नहीं शांत होती। पतित स्त्रियों का नातेदार की हैसियत से द्वार पर आना इतना अपमानजनक था कि रामेंद्र किसी दलील से पराभूत होकर उसे भूल न सकते थे। बोले—मैं ऐसे प्राणियों से कोई संबंध नहीं रखना चाहता। यह विष अपने घर में नहीं फैलाना चाहता।

सहसा सुलोचना भी कमरे में आ गई। प्रसवकाल का असर अभी बाकी था; पर उत्तेजना ने चेहरे को आरक्त कर रखा था। रामेंद्र सुलोचना को देखकर और तेज हो गये। वह उसे जता देना चाहते थे कि इस विषय में मैं एक रेखा तक जा सकता हूँ, उसके आगे किसी तरह नहीं जा सकता। बोले—मैं यह कभी पसंद न करूँगा कि कोई बाजारी औरत किसी भेष में मेरे घर आये। रात को अकेले या सूरत बदलकर आने से इस बुराई का असर नहीं मिट सकता। मैं समाज के दंड से नहीं डरता, इस नैतिक विष से डरता हूँ।

सुलोचना अपने विचार में मर्यादा-रक्षा के लिए काफी आत्मसमर्पण कर चुकी थी। उसकी आत्मा ने अभी तक उसे क्षमा न किया था। तीव्र स्वर में बोली—क्या तुम चाहते हो कि मैं इस कैद में अकेले जान दे दूँ! कोई तो हो जिससे आदमी हँसे, बोले!

रामेंद्र ने गर्म होकर कहा—हँसने-बोलने का इतना शौक था, तो मेरे साथ विवाह न करना चाहिए था। विवाह का बंधन बड़ी हद तक त्याग का बंधन है। जब तक संसार में इस विधान का राज्य है, और स्त्री कुलमर्यादा की रक्षक समझी जाती है, उस वक्त तक कोई मर्द यह स्वीकार न करेगा कि उसकी पत्नी बुरे आचरण के प्राणियों से किसी प्रकार का संसर्ग रक्खे।

कुँवर साहब समझ गये कि इस वाद-विवाद से रामेंद्र और भी जिद पकड़ लेंगे, और मुख्य विषय लुप्त हो जायगा; इसलिए नम्र स्वर में बोले—लेकिन बेटा, यह क्यों ख्याल करते हो कि एक ऊँचे दरजे की पढ़ी-लिखी स्त्री दूसरों के प्रभाव में आ जायगी, अपना प्रभाव न डालेगी?

रामेंद्र—इस विषय में शिक्षा पर मेरा विश्वास नहीं। शिक्षा ऐसी कितने बातों को मानती है, जो रीति-नीति और परंपरा की दृष्टि से त्याज्य हैं। अगर पाँव फिसल जाय तो हम उसे काटकर फेंक नहीं देते। पर मैं इस analogy के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं हूँ। मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मेरे साथ रहकर पुराने संबंधों का त्याग करना पड़ेगा! इतना ही नहीं, मन को ऐसा बना लेना पड़ेगा कि ऐसे लोगों से उसे खुद घृणा हो। हमें इस तरह अपना संस्कार करना पड़ेगा कि समाज अपने अन्याय पर लज्जित हो, न यह कि हमारे आचरण ऐसे भ्रष्ट हो जायँ कि दूसरों की निगाह में यह तिरस्कार औचित्य का स्थान पा जाय।

सुलोचना ने उद्धत होकर कहा—स्त्री इसके लिए मजबूर नहीं है कि वह आपकी आँखों से देखे और आपके कानों से सुने। उसे यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौन-सी चीज उसके हित की है, कौन-सी नहीं।

कुँवर साहब भयभीत होकर बोले—सिल्लो, तुम भूली जाती हो कि बात-चीत में हमेशा मुलायम शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। हम झगड़ा नहीं कर रहे हैं, केवल एक प्रश्न पर अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे हैं।

सुलोचना ने निर्भीकता से कहा—जी नहीं, मेरे लिए बेड़ियाँ तैयार की जा रही हैं। मैं इन बेड़ियों को नहीं पहन सकती। मैं अपनी आत्मा को उतना ही स्वाधीन समझती हूँ, जितना कोई मर्द समझता है।

रामेंद्र ने अपनी कठोरता पर कुछ लज्जित होकर कहा—मैंने तुम्हारी आत्मा की स्वाधीनता को छीनने की कभी इच्छा नहीं की। और न मैं इतना विचार-हीन हूँ। शायद तुम भी इसका समर्थन करोगी। लेकिन क्या तुम्हें विपरीत मार्ग पर चलते देखूँ तो मैं समझा भी नहीं सकता?

सुलोचना—उसी तरह जैसे मैं तुम्हें समझा सकती हूँ। तुम मुझे मजबूर नहीं कर सकते।

रामेंद्र—मैं इसे नहीं मान सकता।

सुलोचना—अगर मैं अपने किसी नातेदार से मिलने जाऊँ, तो आपकी इज्जत में बट्टा लगता है। क्या इसी तरह आप यह स्वीकार करेंगे कि आपका व्यभिचारियों से मिलना-जुलना मेरी इज्जत में दाग लगाता है?

रामेन्द्र—हाँ, मैं मानता हूँ।

सुलोचना—आपका कोई व्यभिचारी भाई आ जाय, तो आप उसे दरवाजे से भगा देंगे?

रामेन्द्र—तुम मुझे इसके लिए मजबूर नहीं कर सकतीं।

सुलोचना—और आप मुझे मजबूर कर सकते हैं?

'बेशक।'

'क्यों?'

'इसीलिए कि मैं पुरुष हूँ, इस छोटे-से परिवार का मुख्य अंग हूँ। इसीलिए कि तुम्हारे ही कारण मुझे....' रामेंद्र कहते-कहते रुक गये। पर सुलोचना उनके मुँह से निकलनेवाले शब्दों को ताड़ गई। उसका चेहरा तमतमा उठा, मानो छाती में बरछी-सी लग गई। मन में ऐसा उद्वेग उठा कि इसी क्षण घर छोड़कर, सारी दुनिया से नाता तोड़कर चली जाऊँ और फिर इन्हें कभी मुँह न दिखाऊँ। अगर इसी का नाम विवाह है कि किसी की मर्जी की गुलाम होकर रहूँ, अपमान सहन करूँ, तो ऐसे विवाह को दूर ही से सलाम है।

वह तैश में आकर कमरे से निकलना चाहती थी कि कुँवर साहब ने लपककर

उसे पकड़ लिया और बोले—क्या करती हो बेटी, घर में जाओ, क्यों रोती हो ? अभी तो मैं जीता हूँ, तुम्हें क्या गम है ? रामेंद्र बाबू ने कोई ऐसी बात नहीं कही और न कहना चाहते थे। फिर आपस की बातों का क्या बुरा मानना। किसी अवसर पर तुम भी जो जी में आवे कह लेना।

यों समझाते हुए कुँवर साहब उसे अन्दर ले गये। वास्तव में सुलोचना कभी गुलनार से मिलने की इच्छुक न थी। वह उससे स्वयं भागती थी। एक क्षणिक आवेश में उसने गुलनार को वह पुरजा लिख दिया था। मन में स्वयं समझती थी, इन लोगों से मेल जोल रखना मुनासिब नहीं; लेकिन। रामेंद्र ने यह विरोध किया, यही उसके लिए असह्य था। यह मुझे मना क्यों करें ? क्या मैं इतना भी नहीं समझती ? क्या इन्हें मेरी ओर से इतनी शंका है ! इसीलिए तो, कि मैं कुलीन नहीं हूँ !

मैं अभी-अभी गुलनार से मिलने जाऊँगी, ज़िद्दन जाऊँगी; देखूँ मेरा क्या करते हैं।

लाड़-प्यार में पली हुई सुलोचना को कभी किसी ने तीखी आँखों से न देखा था। कुँवर साहब उसकी मर्जी के गुलाम थे। रामेंद्र भी इतने दिनों उसका मुँह जोहते रहे। आज अकस्मात् यह तिरस्कार और फटकार पाकर उसकी स्वेच्छा प्रेम और आत्मीयता के सारे नातों को पैरों से कुचल डालने के लिए विकल हो उठी। वह सब कुछ सह लेगी पर यह धौंस, यह अन्याय, यह अपमान उससे न सहा जायगा।

उसने खिड़की से सिर निकालकर कोचवान को पुकारा और बोली—गाड़ी लाओ, मुझे चौक जाना है, अभी लाओ।

कुँवर साहब ने चुमकारकर कहा—बेटी सिल्लो, क्या कर रही हो, मेरे ऊपर दया करो। इस वक्त कहीं मत जाओ, नहीं हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा। रामेंद्र बाबू भी बड़े गुस्सेवर आदमी हैं। फिर तुमसे बड़े हैं, ज्यादा विचारवान हैं, उन्हीं का कहना मान जाओ। मैं तुमसे सच कहता हूँ। तुम्हारी माँ जब थीं, तो कई बार ऐसी नौबत आई कि मैंने उनसे कहा—घर से निकल जाओ, पर उस प्रेम की देवी ने कभी ड्योढ़ी के बाहर पाँव नहीं निकाला। इस वक्त

धैर्य से काम लो। मुझे विश्वास है, जरा देर में रामेंद्र बाबू खुद लज्जित होकर तुम्हारे पास अपना अपराध क्षमा कराने आयेंगे।

सहसा रामेंद्र ने आकर पूछा—गाड़ी क्यों मँगवाई? कहाँ जा रही हो?

रामेन्द्र का चेहरा इतना क्रोधोन्मत्त हो रहा था, कि सुलोचना सहम उठी। दोनों आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। नथने फड़क रहे थे। पिंडलियाँ काँप रही थीं। यह कहने की हिम्मत न पड़ी कि गुलनार के घर जाती हूँ। गुलनार का नाम सुनते ही शायद यह मेरी गर्दन पर सवार हो जायँगे—इस भय से वह काँप उठी। आत्मरक्षा का भाव प्रबल हो गया। बोली—जरा अम्माँ के मजार तक जाऊँगी।

रामेन्द्र ने डाँटकर कहा—कोई जरूरत नहीं वहाँ जाने की।

सुलोचना ने कातर स्वर में कहा—क्यों अम्माँ के मजार तक जाने की भी रोक है? रामेंद्र ने उसी ध्वनि में कहा—हाँ।

सुलोचना—तो फिर अपना घर सम्हालो, मैं जाती हूं।

रामेन्द्र—जाओ, तुम्हारे लिए क्या, यह न सही दूसरा घर सही!

अभी तक तस्मा बाकी था, वह कट गया। यों शायद सुलोचना वहाँ से कुँवर साहब के बँगले पर जाती, दो-चार दिन रूठी रहती, फिर रामेंद्र उसे मना लाते और मामला तय हो जाता; लेकिन इस चोट ने समझौते और संधि की जड़ काट दी। सुलोचना दरवाजे तक पहुँची थी, वहीं चित्र-लिखित-सी खड़ी रह गई। मानो किसी ऋषि के शाप ने उसके प्राण खींच लिये हों। वहीं बैठ गई। न कुछ बोल सकी, न कुछ सोच सकी। जिसके सिर पर बिजली गिर पड़ी हो, वह क्या सोचे, क्या रोये, क्या बोले। रामेंद्र के वह शब्द बिजली से कहीं अधिक घातक थे।

सुलोचना कब तक वहाँ बैठी रही, उसे कुछ खबर न थी। जब उसे कुछ होश आया, तो घर में सन्नाटा छाया हुआ था। घड़ी की तरफ आँख उठी, एक बज रहा था। सामने आराम कुर्सी पर कुँवर साहब नवजात शिशु को गोद में लिये सो गये थे। सुलोचना ने उठकर बरामदे में झाँका, रामेंद्र अपने पलँग पर लेटे हुए थे। उसके जी में आया, इसी वक्त इन्हीं के सामने जाकर कलेजे में छुरी मार लूँ और इन्हीं के सामने तड़प तड़प कर मर जाऊँ। वह

घातक शब्द याद आ गये। इनके मुँह से ऐसे शब्द निकले क्योंकर। इतने चतुर, इतने उदार और इतने विचारशील होकर भी वह जबान पर ऐसे शब्द क्योंकर ला सके।

उसका सारा सतीत्व, भारतीय आदर्शों की गोद में पली हुई, भूमि पर आहत पड़ी हुई अपनी दीनता पर रो रहा था। वह सोच रही थी, अगर मेरे नाम पर यह दाग न होता, मैं भी कुलीन होती, तो क्या यह शब्द इनके मुँह से निकल सकते थे? लेकिन मैं बदनाम हूँ, दलित हूँ, त्याज्य हूँ, मुझे सब कुछ कहा जा सकता है। उफ् इतना कठोर हृदय! क्या वह किसी दशा में भी रामेंद्र पर इतना कठोर प्रहार कर सकती थी?

बरामदे में बिजली की रोशनी थी। रामेंद्र के मुख पर क्षोभ या ग्लानि का नाम भी न था। क्रोध की कठोरता अब तक उसके मुख को विकृत किये हुए थी। शायद इन आँखों में आँसू देखकर अब भी सुलोचना के आहत हृदय को तसकीन होती; लेकिन वहाँ तो अभी तक तलवार खिंची हुई थी। उसकी आँखों में सारा संसार सूना हो गया।

...... सुलोचना फिर अपने कमरे में आई। कुँवर साहब की आँखें अब भी बन्द थीं। इन चन्द घण्टों ही में उनका तेजस्वी मुख कांतिहीन हो गया था। गालों पर आँसुओं की रेखाएँ सूख गई थीं। सुलोचना ने उनके पैरों के पास बैठकर सच्ची भक्ति के आँसू बहाये। हाय! मुझ अभागिनी के लिए इन्होंने कौन-कौन से कष्ट नहीं झेले, कौन-कौन से अपमान नहीं सहे, अपना सारा जीवन ही मुझ पर अर्पण कर दिया और उसका यह हृदय-विदारक अन्त।

सुलोचना ने फिर बच्ची को देखा; मगर उसका गुलाब का-सा विकसित मुख देखकर भी उसके हृदय में ममता की तरंग न उठी। उसने उसकी तरफ से मुँह फेर लिया। यही उस अपमान की मूर्तिमान वेदना है, जो इतने दिनों मुझे भोगनी पड़ी। मैं इसके लिए क्यों अपने प्राण संकट में डालूँ। अगर उसके निदयी पिता को उसका प्रेम है, तो उसको पाले। और एक दिन वह भी उसी तरह रोये, जिस तरह आज मेरे पिता को रोना पड़ रहा है। ईश्वर अबकी अगर जन्म देना, तो किसी भले आदमी के घर जन्म देना....

जहाँ ज़ुहरा का मज़ार था उसी के बगल में एक दूसरा मज़ार बना हुआ है। ज़ुहरा के मज़ार पर घास जम आई है, जगह-जगह से चूना गिर गया है; लेकिन दूसरा मज़ार बहुत साफ़-सुथरा और सजा हुआ है। उसके चारों तरफ गमले रखे हुए हैं और मज़ार तक जाने के लिए गुलाब के बेलों की रविशें बनी हुई हैं।

शाम हो गई है। सूर्य की क्षीण उदास, पीली किरणें मानों उस मज़ार पर आँसू बहा रही हैं। एक आदमी एक तीन-चार साल की बालिका को गोद में लिये हुए आया और उस मज़ार को अपने रूमाल से साफ करने लगा। रविशों में जो पत्तियाँ पड़ी थीं उन्हें चुनकर साफ किया और मज़ार पर सुगन्ध छिड़कने लगा। बालिका दौड़-दौड़कर तितलियों को पकड़ने लगी।

यह सुलोचना का मज़ार है। उसकी आखिरी नसीहत थी, कि मेरी लाश जलाई न जाय, मेरी माँ की बगल में मुझे सुला दिया जाय। कुँवर साहब तो सुलोचना के बाद छः महीने से ज्यादा न चल सके। हाँ, रामेंद्र अपने अन्याय का पश्चात्ताप कर रहे हैं।

शोभा अब तीन साल की हो गई है और उसे विश्वास है कि एक दिन उसकी माँ इसी मज़ार से निकलेगी!

DHAPORSANKH

ढपोरसंख

मुरादाबाद में मेरे एक पुराने मित्र हैं, जिन्हें दिल में तो मैं एक रत्न समझता हूँ पर पुकारता हूँ ढपोरसंख कहकर और वह बुरा भी नहीं मानते। ईश्वर ने उन्हें जितना हृदय दिया है, उसकी आधी बुद्धि दी होती, तो आज वह कुछ और होते! उन्हें हमेशा तंगदस्त ही देखा; मगर किसी के सामने कभी हाथ फैलाते नहीं देखा। हम और वह बहुत दिनों तक साथ पढ़े, हैं, खासी बेतकल्लुफी है; पर यह जानते हुए भी कि मेरे लिए सौ-पचास रुपये से उनकी मदद करना कोई बड़ी बात नहीं और मैं बड़ी खुशी से करूँगा, कभी मुझसे एक पाई के रवादार न हुए। अगर हीले से बच्चों को दो-चार रुपये दे देता हूँ, तो बिदा होते समय उसकी दुगनी रकम के मुरादाबादी बरतन लादने पड़ते हैं। इसलिए मैंने यह नियम बना लिया है कि जब उनके पास जाता हूँ, तो एक दो दिन में जितनी बड़ी-से-बड़ी चपत दे सकता हूँ, देता हूँ। मौसम में जो महँगी-से-महंगी चीज होती है, वही खाता हूँ और माँग-माँगकर खाता हूं। मगर दिल के ऐसे बेहया हैं, कि अगर एक बार भी उधर से निकल जाऊँ और उनसे न मिलूँ तो बुरी तरह डाँट बताते हैं। इधर दो-तीन साल से मुलाकात न हुई थी। जी देखने को चाहता था। मई में नैनीताल जाते हुए उनसे मिलने के लिए उतर पड़ा। छोटा-सा घर है, छोटा-सा परिवार, छोटा-सा डील। द्वार पर आवाज दी—ढपोरसंख! तुरन्त बाहर निकल आये और गले से लिपट गये। तांगे पर से मेरे ट्रङ्क को उतारकर कंधे पर रखा, बिस्तर बगल में दबाया और घर में दाखिल हो गये। कहता हूँ, बिस्तर मुझे दे दो मगर कौन सुनता है। भीतर कदम रखा तो देवीजी के दर्शन हुए। छोटे बच्चे ने आकर प्रणाम किया। बस, यही परिवार है।

कमरे में गया तो देखा खतों का एक दफतर फैला हुआ है। खतों को सुरक्षित रखने की तो इनकी आदत नहीं। इतने खत किसके हैं। कुतूहल से पूछा—यह क्या कूड़ा फैला रखा है जी, समेटो।

देवीजी मुसकुराकर बोलीं—कूड़ा न कहिए, एक-एक पत्र साहित्य का रत्न है। आप तो इधर आये नहीं। इनके एक नये मित्र पैदा हो गये हैं। यह उन्हीं के कर-कमलों के प्रसाद हैं।

ढपोरसंख ने अपनी नन्हीं-नन्हीं आँखें सिकोड़कर कहा—तुम उसके नाम से क्यों इतना जलती हो, मेरी समझ में नहीं आता? अगर तुम्हारे दो-चार सौ रुपये उस पर आते हैं, तो उनका देनदार मैं हूँ। वह भी अभी जीता-जागता है। किसी को बेईमान क्यों समझती हो? यह क्यों नहीं समझतीं कि उसे अभी सुविधा नहीं है। और फिर दो-चार सौ रुपये एक मित्र के हाथों डूब ही जायँ, तो क्यों रोओ। माना हम गरीब हैं, दो-चार सौ रुपये हमारे दो-चार लाख से कम नहीं; लेकिन खाया तो एक मित्र ने!

देवीजी जितनी रूपवती थीं, उतनी ही जबान की तेज थी। बोलीं—अगर ऐसों ही का नाम मित्र है, तो मैं नहीं समझती, शत्रु किसे कहते हैं।

ढपोरसंख ने मेरी तरफ देखकर, मानों मुझसे हामी भराने के लिए कहा—औरतों का हृदय बहुत ही संकीर्ण होता है।

देवीजी नारी-जाति पर यह आक्षेप कैसे सह सकती थीं, आँखें तरेरकर बोलीं—यह क्यों नहीं कहते, कि उल्लू बनाकर ले गया, ऊपर से हेकड़ी जताते हो! दाल गिर जाने पर तुम्हें भी सूखा अच्छा लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं जानती हूँ, रुपया हाथ का मैल है। यह भी समझती हूँ कि जिसके भाग्य का जितना होता है, उतना वह खाता है; मगर यह मैं कभी न मानूँगी, कि वह सज्जन था और आदर्शवादी था और यह था, वह था। साफ-साफ क्यों नहीं कहते, लंपट था, दगाबाज था! बस, मेरा तुमसे कोई झगड़ा नहीं।

ढपोरसंख ने गर्म होकर कहा—मैं यह नहीं मान सकता। देवीजी भी गर्म होकर बोलीं—तुम्हें मानना पड़ेगा। महाशयजी आ गये हैं। मैं इन्हें पंच बदती हूं। अगर यह कह देंगे, कि सज्जनता का पुतला था, आदर्शवादी था, वीरात्मा था, तो मैं मान लूँगी और फिर उसका नाम न लूँगी। और यदि इनका फैसला मेरे अनुकूल हुआ, तो लाला तुम्हें इनको अपना बहनोई करना पड़ेगा!

मैंने पूछा—मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है, आप किसका जिक्र कर रही हैं? वह कौन था?

देवीजी ने आँखें नचाकर कहा—इन्हीं से पूछो, कौन था? इनका बहनोई था!

ढपोरसंख ने झेंपकर कहा—अजी, एक साहित्य-सेवी था—करुणाकर जोशी। बेचारा विपत्ति का मारा यहाँ आ पड़ा था। उस वक्त तो यह भी भैया भैया करती थीं, हलवा बना-बनाकर खिलाती थीं, उसकी विपत्ति-कथा सुनकर टेसवे बहाती थीं, और आज वह दगाबाज है, लंपट है, लबार है!

देवीजी ने कहा—वह तुम्हारी खातिर थी। मैं समझती थी, लेख लिखते हो, व्याख्यान देते हो, साहित्य के मर्मज्ञ बनते हो, कुछ तो आदमी पहचानते होगे। पर अब मालूम हो गया, कि कलम घिसना और बात है, मनुष्य की नाड़ी पहचानना और बात।

मैं इस जोशी का वृत्तांत सुनने के लिए उत्सुक हो उठा। ढपोरसंख तो अपना पचड़ा सुनाने को तैयार थे; मगर देवीजी ने कहा—खाने-पीने से निवृत्त होकर पंचायत बैठे। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया।

देवीजी घर में जाती हुई बोलीं—तुम्हें कसम है जो अभी जोशी के बारे में एक शब्द भी इनसे कहो। मैं भोजन बनाकर जब तक खिला न लूँ, तब तक दोनों आदमियों पर दफा १४४ है।

ढपोरसंख ने आँखें मारकर कहा—तुम्हारा नमक खाकर यह तुम्हारी तरफदारी करेंगे ही!

बारे देवीजी के कानों में यह जुमला न पड़ा। धीमे स्वर में कहा भी गया था, नहीं तो देवीजी ने कुछ-न-कुछ जवाब जरूर दिया होता। देवीजी चूल्हा जला चुकीं और ढपोरसंख उनकी ओर से निश्चिंत हो गये, तो मुझसे बोले—जब तक वह रसोई में हैं, मैं संक्षेप में तुम्हें वह वृत्तांत सुना दूँ?

मैंने धर्म की आड़ लेकर कहा—नहीं भाई मैं पंच बनाया गया हूँ, और इस विषय में कुछ न सुनूँगा। उन्हें आ जाने दो।

'मुझे भय है, कि तुम उन्हीं का-सा फैसला कर दोगे और फिर वह मेरा घर में रहना अपाढ़ कर देंगी।'

मैंने ढाढ़स दिया—यह आप कैसे कह सकते हैं, मैं क्या फैसला करूँगा ?

'मैं तुम्हें जानता जो हूँ। तुम्हारी अदालत में औरत के सामने मर्द कभी जीत ही नहीं सकता।'

'तो क्या चाहते हो तुम्हारी डिग्री कर दूँ!'

'क्या दोस्ती का इतना हक भी नहीं अदा कर सकते ?'

'अच्छा लो, तुम्हारी जीत होगी, चाहे गालियाँ ही क्यों न मिलें।'

खाते-पीते दोपहर हो गयी। रात का जागा था। सोने की इच्छा हो रही थी पर देवीजी कब माननेवाली थीं। भोजन करके आ पहुँचीं। ढपोरसंख ने पत्रों का पुलिंदा समेटा और वृत्तान्त सुनाने लगे।

देवीजी ने सावधान किया—एक शब्द भी झूठ बोले, तो जुर्माना होगा।

ढपोरसंख ने गम्भीर होकर कहा—झूठ वह बोलता है, जिसका पक्ष निर्बल होता है। मुझे तो अपनी विजय का विश्वास है।

इसके बाद कथा शुरू हो गई।

'दो साल से ज्यादा हुए, एक दिन मेरे पास एक पत्र आया, जिसमें साहित्य सेवा के नाते एक ड्रामे की भूमिका लिखने की प्रेरणा की गई थी। यह करुणाकर का पत्र था। इस साहित्यिक रीति से मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। साहित्यकारों की इस जमाने में जो दुर्दशा है, उसका अनुभव कर चुका हूँ, और करता रहता हूँ, और यदि भूमिका तक बात रहे, तो उनकी सेवा करने में पसोपेश नहीं होता। मैंने तुरन्त जवाब दिया—आप ड्रामा भेज दीजिये। एक सप्ताह में ड्रामा आ गया; पर अबके पत्र में भूमिका लिखने ही की नहीं, कोई प्रकाशक ठीक कर देने की भी प्रार्थना की गयी थी। मैं प्रकाशकों के झंझट में नहीं पड़ता। दो-एक बार पड़कर कई मित्रों को जानी दुश्मन बना चुका हूँ। मैंने ड्रामे को पढ़ा, उस पर भूमिका लिखी और हस्तलिपि लौटा दी। ड्रामा मुझे सुन्दर मालूम हुआ; इसलिए भूमिका भी प्रशंसात्मक थी। कितनी ही पुस्तकों की भूमिका लिख भी चुका हूँ। कोई नई बात न थी; पर अबकी भूमिका लिखकर पिंड न छूटा। एक सप्ताह के बाद एक लेख आया, कि इसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर दीजिये। (ढपोरसंख एक पत्रिका के सम्पादक हैं) इसे गुण कहिए या दोष, मुझे दूसरों पर विश्वास बहुत जल्द आ जाता है।

और जब किसी लेखक का मुआमला हो, तो मेरी विश्वास-क्रिया और भी तीव्र हो जाती है। मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ, जो साहित्यवालों के साये से भागते हैं। वह खुद निपुण लेखक हैं, बड़े ही सज्जन हैं, बड़े ही जिन्दा-दिल। अपनी शादी करके लौटने पर जब-जब रास्ते में मुझसे भेंट हुई, कहा—आपकी मिठाई रखी हुई है, भेजवा दूँगा; पर वह मिठाई आज तक न आई, हालाँकि अब ईश्वर की दया से विवाह-तरु में फल भी लग आये, लेकिन खैर, मैं साहित्य-सेवियों से इतना चौकन्ना नहीं रहता। इन पत्रों में इतनी विनय, इतना आग्रह, इतनी भक्ति होती थी, कि मुझे जोशी से बिना साक्षात्कार के ही स्नेह हो गया। मालूम हुआ, एक बड़े बाप का बेटा है, घर से इसलिए निर्वासित है, कि उसके चाचा दहेज की लम्बी रकम लेकर उसका विवाह करना चाहते थे, यह उसे मंजूर न हुआ। इस पर चाचा ने घर से निकाल दिया। बाप के पास गया। बाप आदर्श भ्रातृ-भक्त था। उसने चाचा के फैसले की अपील न सुनी। ऐसी दशा में सिद्धांत का मारा युवक सिवाय घर से बाहर निकल भागने के और क्या करता? यों वन-वन के पत्ते तोड़ता, द्वार-द्वार ठोकरें खाता वह ग्वालियर आ गया था। उस पर मंदाग्नि का रोगी, जीर्ण ज्वर से ग्रस्त। आप ही बतलाइए, ऐसे आदमी से क्या आपको सहानुभूति न होती? फिर जब एक आदमी आपको 'प्रिय भाई साहब' लिखता है, अपने मनोरहस्य आपके सामने खोलकर रखता है, विपत्ति में भी धैर्य और पुरुषार्थ को हाथ से नहीं छोड़ता, कड़े से कड़ा परिश्रम करने को तैयार है, तो यदि आप में सौजन्य का अणुमात्र भी है, तो आप उसकी मदद जरूर करेंगे।

अच्छा, अब फिर ड्रामे की तरफ आइए। कई दिनों बाद जोशी का पत्र प्रयाग से आया। वह वहाँ के एक मासिक-पत्रिका के सम्पादकीय-विभाग में नौकर हो गया था। यह पत्र पाकर मुझे कितना संतोष और आनन्द हुआ, कह नहीं सकता। कितना उद्यमशील आदमी है! उसके प्रति मेरा स्नेह और भी प्रगाढ़ हो गया। पत्रिका का स्वामी संपादक सख्ती से पेश आता था, जरा-सी देर हो जाने पर दिन-भर की मजदूरी काट लेता था, बात-बात पर घुड़कियाँ जमाता था; पर यह सत्याग्रही वीर सब कुछ सहकर भी अपने काम में लगा रहता था। अपना भविष्य बनाने का ऐसा अवसर पाकर वह उसे कैसे छोड़ देता। यह

सारी बातें स्नेह और विश्वास को बढ़ानेवाली थीं। एक आदमी को कठिनाइयों का सामना करते देखकर किसे उससे प्रेम न होगा, विश्वास न होगा, गर्व न होगा !

प्रयाग में वह ज्यादा न ठहर सका। उसने मुझे लिखा, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ, भूखों मरने को तैयार हूँ पर आत्मसम्मान में दाग नहीं लगा सकता, कुवचन नहीं सह सकता।

ऐसा चरित्र यदि आप पर प्रभाव न डाल सके, तो मैं कहूँगा, आप चालाक चाहे जितने हों पर हृदय-शून्य हैं।

एक सप्ताह के बाद प्रयाग से फिर पत्र आया—यह व्यवहार मेरे लिए असह्य हो गया। आज मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। यह न समझिए कि मैंने हलके दिल से लगी-लगाई रोजी छोड़ दी। मैंने वह सब किया, जो मुझे करना चाहिए था। यहाँ तक कि कुछ-कुछ वह भी किया, जो मुझे न करना चाहिए था; पर आत्मसम्मान का खून नहीं कर सकता। अगर यह कर सकता, तो मुझे घर छोड़कर निकलने की क्या आवश्यकता थी। मैंने बम्बई जाकर अपनी किस्मत आजमाने का निश्चय किया है। मेरा दृढ़ संकल्प है कि अपने घरवालों के सामने हाथ न फैलाऊँगा, उनसे दया की भिक्षा न माँगूगा। मुझे कुलीगिरी करनी मंजूर है, टोकरी ढोना मंजूर है; पर अपनी आत्मा को कलंकित नहीं कर सकता।

मेरी श्रद्धा और बढ़ गई। यह व्यक्ति अब मेरे लिए केवल ड्रामा का चरित्र न था, जिसके सुख से सुखी और दुख से दुखी होने पर भी हम दर्शक ही रहते हैं। वह अब मेरे इतने निकट पहुँच गया था, कि उस पर आघात होते देखकर मैं उसकी रक्षा करने को तैयार था, उसे डूबते देखकर पानी में कूदने से भी न हिचकता।

मैं बड़ी उत्कंठा से उसके बंबई से आने वाले पत्र का इंतजार करने लगा। छठवें दिन पत्र आया। वह बंबई में काम खोज रहा था, लिखा था—घबड़ाने की कोई बात नहीं है, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ। फिर दो-दो चार-चार दिन अन्तर से कई पत्र आये। वह वीरों की भाँति कठिनाइयों के सामने कमर कसे खड़ा था, हालाँकि तीन दिन से उसे भोजन न मिला था।

ओह ! कितना ऊँचा आदर्श है। कितना उज्ज्वल चरित्र ! मैं समझता हूँ, मैंने उस समय बड़ी कृपणता की। मेरी आत्मा ने मुझे धिक्कारा—यह बेचारा इतने कष्ट उठा रहा है, और तुम बैठे देख रहे हो। क्यों इसके पास कुछ रुपये नहीं भेजते ? मैंने आत्मा के कहने पर अमल न किया, पर अपनी बेदर्दी पर खिन्न अवश्य था।

जब कई दिन की बेचैनी भरे हुए इन्तजार के बाद यह समाचार आया, कि वह एक साप्ताहिक पत्र के सम्पादकीय विभाग में जगह पा गया है, तो मैंने आराम की सस ली और ईश्वर को सच्चे दिल से धन्यवाद दिया।

साप्ताहिक में जोशी के लेख निकलने लगे। उन्हें पढ़कर मुझे गर्व होता था। कितने सजीव, कितने विचार से भरे लेख थे। उसने मुझसे भी लेख माँगे; पर मुझे अवकाश न था। क्षमा माँगी, हालाँकि इस अवसर पर उसको प्रोत्साहन न देने पर मुझे बड़ा खेद होता था।

लेकिन शायद बाधाएँ हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी थीं। पत्र के ग्राहक कम थे। चन्दे और डोनेशन से काम चलता था। रुपये हाथ आ जाते, तो कर्मचारियों को थोड़ा-थोड़ा मिल जाता, नहीं आसरा लगाये काम करते रहते। इस दशा में गरीब ने तीन महीने काटे होंगे। आशा थी, तीन महीने का हिसाब होगा, तो अच्छी रकम हाथ लगेगी; मगर वहाँ सूखा जवाब मिला। स्वामी ने टाट उलट दिया, पत्र बन्द हो गया और कर्मचारियों को अपना-सा मुँह लिये बिदा होना पड़ा। स्वामी की सज्जनता में सन्देह नहीं; लेकिन रुपये कहाँ से लाता ! सज्जनता के नाते लोग आधे वेतन पर काम कर सकते थे लेकिन पेट बाँधकर काम करना कब मुमकिन था। और फिर बम्बई का खर्च। बेचारे जोशी को फिर ठोकरें खानी पड़ीं। मैंने खत पढ़ा, तो बहुत दुःख हुआ। ईश्वर ने मुझे इस योग्य न बनाया, नहीं बेचारा क्यों पेट के लिए यों मारा-मारा फिरता !

बारे अबकी बहुत हैरान न होना पड़ा। किसी मिल में गाँठों पर नम्बर लिखने का काम मिल गया। एक रुपया रोज मजूरी थी बम्बई में एक रुपया इधर के चार आने बराबर समझो। कैसे उसका काम चलता था, ईश्वर ही जाने।

कई दिन के बाद एक लम्बा पत्र आया। एक जर्मन एजेंसी उसे रखने पर तैयार थी; अगर वह तुरन्त सौ रुपये की जमानत दे सके। एजेंसी यहाँ की फौजों में जूते, सिगार, साबुन आदि सप्लाई करने का काम करती थी। अगर यह जगह मिल जाती, तो उसके दिन आराम से कटने लगते। लिखा था, अब जिन्दगी से तंग आ गया हूँ। हिम्मत ने जवाब दे दिया। आत्महत्या करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं सूझता। केवल माताजी की चिन्ता है। रो-रोकर प्राण दे देंगी। पिताजी के साथ उन्हें शारीरिक सुखों की कमी नहीं; पर मेरे लिए उनकी आत्मा तड़पती रहती है। मेरी यही अभिलाषा है, कि कहीं बैठने का ठिकाना मिल जाता, तो एक बार उन्हें अपने साथ रखकर उनकी जितनी सेवा हो सकती, करता। इसके सिवा मुझे कोई इच्छा नहीं है; लेकिन जमानत कहाँ से लाऊँ ? बस, कल का दिन और है। परसों कोई दूसरा उम्मेदवार जमानत देकर यह ले लेगा और मैं ताकता रह जाऊँगा। एजेंट मुझे रखना चाहता है; लेकिन अपने कार्यालय के नियमों को क्या करे।

इस पत्र ने मेरी कृपण प्रकृति को भी वशीभूत कर लिया। इच्छा हो जाने पर कोई-न-कोई राह निकल आती है। मैंने रुपये भेजने का निश्चय कर लिया। अगर इतनी मदद से एक युवक का जीवन सुधर रहा हो, तो कौन ऐसा है, जो मुँह छिपा ले। इससे बड़ा रुपयों का और क्या सदुपयोग सकता है। हिन्दी कलम घिसनेवालों के पास इतनी बड़ी रकम जरा मुश्किल ही से निकलती है; पर संयोग से उस वक्त मेरे कोष में रुपये मौजूद थे। मैं इसके लिए अपनी कृपणता का ऋणी हूँ। देवीजी की सलाह ली। वह बड़ी खुशी से राजी हो गईं; हालाँकि अब सारा दोष मेरे ही सिर मढ़ा जाता है। कल रुपयों का पहुँचना आवश्यक था, नहीं तो अवसर हाथ से निकल जायगा। मनीआर्डर तीन दिन में पहुँचेगा। तुरन्त तारघर गया और तार से रुपये भेज दिये। जिसने बरसों की कतर-ब्योंत के बाद इतने रुपये जोड़े हों और जिसे भविष्य भी अभावमय ही दीखता हो, वही उस आनन्द का अनुभव कर सकता है, जो इस समय मुझे हुआ। सेठ अमीरचन्द को दस लाख का दान करके भी इतना आनन्द न हुआ होगा। दिया तो मैंने ऋण

समझकर ही; पर वह दोस्ती का ऋण था, जिसका अदा होना स्वप्न का यथार्थ होना है।

उस पत्र को मैं कभी न भूलूँगा, जो धन्यवाद के रूप में चौथे दिन मुझे मिला। कैसे सच्चे उद्‌गार थे! एक-एक शब्द अनुग्रह में डूबा हुआ। मैं उसे साहित्य की एक चीज समझता हूँ।

देवीजी ने चुटकी ली—सौ रुपये में उससे बहुत अच्छा पत्र मिल सकता है!

ढपोरसंख ने कुछ जवाब न दिया। कथा कहने में तन्मय थे।

बम्बई में वह किसी प्रसिद्ध स्थान पर ठहरा था। केवल नाम और पोस्ट-बाक्स लिखने ही से उसे पत्र मिल जाता था। वहाँ से कई पत्र आये। वह प्रसन्न था।

देवीजी फिर बोलीं—प्रसन्न क्यों न होता, कम्पे में एक चिड़िया जो फंस गई थी।

ढपोरसंख ने चिढ़कर कहा—या तो मुझे कहने दो, या तुम कहो। बीच में बोलो मत।

बम्बई से कई दिन के बाद एक पत्र आया कि एजेन्सी ने उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे काशी में नियुक्त कर दिया है और वह काशी आ रहा है। उसे वेतन के उपरान्त भत्ता भी मिलेगा। काशी में उसके एक मौसा थे जो वहाँ के प्रसिद्ध डाक्टर थे; पर वह उनके घर न उतरकर अलग ठहरा। इससे उसके आत्मसम्मान का पता चलता है। मगर एक महीने में काशी से उसका जी भर गया। शिकायत से भरे पत्र आने लगे—सुबह से शाम तक फौजी आदमियों की खुशामद करनी पड़ती है, सुबह का गया-गया दस बजे रात को घर आता हूं, उस वक्त अकेला अंधेरा घर देखकर चित्त दुःख से भर जाता है, किससे बोलूँ, किससे हँसूँ। बाजार की पूरियाँ खाते-खाते तंग आ गया हूँ। मैंने समझा था; अब कुछ दिन चैन से कटेंगे; लेकिन मालूम होता है अभी किस्मत में ठोकरें खाना लिखा है। मैं इस तरह जीवित नहीं रह सकता। रात-रात भर पड़ा रोता रहता हूँ, आदि। मुझे इन पत्रों में वह अपने आदर्श से गिरता हुआ मालूम हुआ। मैंने उसे समझाया, लगी रोजी न छोड़ो, काम किये जाओ। जवाब आया, मुझसे अब यहाँ नहीं रहा जाता! फौजियों का

व्यवहार असह्य है। फिर, मैनेजर साहब मुझे रंगून भेज रहे हैं और रंगून जाकर मैं बच नहीं सकता। मैं कोई साहित्यिक काम करना चाहता हूँ। कुछ दिन आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ।

मैं इस पत्र का जवाब देने जा ही रहा था कि फिर पत्र आया। मैं कल देहरादून-एक्सप्रेस से आ रहा हूँ। दूसरे दिन वह आ पहुँचा। दुबला-सा आदमी, साँवला रंग, लम्बा मुँह, बड़ी-बड़ी आँखें, अँग्रेजी वेश, साथ में कई चमड़े के ट्रंक, एक सूटकेस, एक होल्डाल। मैं तो उसका ठाट देखकर दंग रह गया।

देवीजी ने टिप्पणी की—फिर भी तो न चेते!

मैंने समझा था, गाढ़े का कुर्त्ता, चप्पल, ज्यादा-से-ज्यादा फाउण्टेनपेन-वाला आदमी होगा; मगर यह महाशय तो पूरे साहब बहादुर निकले। मुझे इस छोटे से घर में उन्हें ठहराते हुए संकोच हुआ।

देवीजी से बिना बोले न रहा गया—आते ही श्री-चरणों पर सिर तो रख दिया, अब और क्या चाहते थे!

ढपोरसंख अबकी मुसकराये—देखो श्यामा बीच-बीच में टोको मत। अदालत की प्रतिष्ठा यह कहती है कि अभी चुपचाप सुनती जाओ। जब तुम्हारी बारी आये, तो जो चाहे कहना।

फिर सिलसिला शुरू हुआ—था तो दुबला-पतला मगर बड़ा फुर्तीला, बातचीत में बड़ा चतुर, एक जुमला अँग्रेजी बोलता, एक जुमला हिन्दी, और हिन्दी भी अंग्रेजी की खिचड़ी, जैसे आप जैसे सभ्य लोग बोलते हैं। बात-चीत शुरू हुई—आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। मैंने जैसा अनुमान किया था, वैसा ही आपको देखा। बस, अब मालूम हो रहा है, कि मैं भी आदमी हूँ। इतने दिनों तक कैदी था।

मैंने कहा—तो क्या इस्तीफा दे दिया?

'नहीं, अभी तो छुट्टी लेकर आया हूँ। अभी इस महीने का वेतन भी नहीं मिला। मैंने लिख दिया है, यहाँ के पते से भेज दें। नौकरी तो अच्छी है; मगर काम बहुत करना पड़ता है और मुझे कुछ लिखने का अवसर नहीं मिलता।

खैर, रात को तो मैंने इसी कमरे में उन्हें सुलाया। दूसरे दिन यहाँ के

एक होटल में प्रबंध कर दिया। होटलवाले पेशगी रुपये ले लेते हैं। जोशी के पास रुपये न थे। मुझे तीस रुपये देने पड़े। मैंने समझा, इसका वेतन तो आता ही होगा, ले लूँगा।

यहाँ मेरे एक माथुर मित्र हैं। उनसे भी मैंने जोशी का जिक्र किया था। उसके आने की खबर पाते ही होटल दौड़े। दोनों में दोस्ती हो गई। जोशी दो-तीन बार दिन में, एक बार रात को जरूर आते और खूब बातें करते। देवीजी उनको हाथों पर लिये रहतीं। कभी उनके लिए पकौड़ियाँ बन रही हैं, कभी हलवा। जोशी हरफनमौला था। गाने में कुशल, हारमोनियम में निपुण, इन्द्रजाल के करतब दिखलाने में कुशल। सालन अच्छा पकाता था। देवीजी को गाना सीखने का शौक पैदा हो गया था। उसे म्यूजिक मास्टर बना लिया।

देवीजी लाल मुँह करके बोलीं—तो क्या मुफ्त में हलवा, पकौड़ियाँ और पान बना-बनाकर खिलाती थी?

एक महीना गुजर गया पर जोशी का वेतन न आया। मैंने पूछा भी नहीं। सोचा, अपने दिल में समझेगा, अपने होटलवाले रुपयों का तकाजा कर रहे हैं। माथुर के घर भी उसने आना-जाना शुरू कर दिया। दोनों साथ घूमने जाते, साथ रहते। जोशी जब आते, माथुर का बखान करते; माथुर जब आते जोशी की तारीफ करते। जोशी के पास अपने अनुभवों का विशेष भण्डार था। वह फौज में रह चुका था। जब उसकी मँगेतर का विवाह दूसरे आदमी से हो गया, तो शोक में उसने फौजी नौकरी छोड़ दी थी। सामाजिक जीवन की न जाने कितनी ही घटनाएँ उसे याद थीं। और जब अपने माँ-बाप और चाचा-चाची का जिक्र करने लगता, तो उसकी आँखों में आँसू भर आते। देवीजी भी उसके साथ रोतीं।

देवीजी तिर्छी आँखों से देखकर रह गईं। बात सच्ची थी।

एक दिन मुझसे अपने एक ड्रामे की बड़ी तारीफ की। वह ड्रामा कलकत्ते में खेला गया। और मदन कंपनी के मैनेजर ने उसे बधाइयाँ दी थीं। ड्रामे के दो-चार टुकड़े जो उसके पास पड़े थे, मुझे सुनाये। मुझे ड्रामा बहुत पसन्द आया। उसने काशी के एक प्रकाशक के हाथ वह ड्रामा बेच दिया था और कुल पचीस रुपये पर। मैंने कहा, उसे वापस मँगा लो। रुपये मैं दे दूँगा। ऐसी

सुन्दर रचना किसी अच्छे प्रकाशक को देंगे, या किसी थियेटर कम्पनी से खेलवायेंगे। तीन-चार दिन के बाद मालूम हुआ कि प्रकाशक अब पचास रुपये लेकर लौटायेगा। कहता है, मैं इसका कुछ अंश छपा चुका हूँ। मैंने कहा, मँगा लो पचास रुपये ही सही। ड्रामा वी० पी० से वापस आया। मैंने पचास रुपये दे दिये।

महीना खत्म हो रहा था। होटलवाले दूसरा महीना शुरू होते ही रुपये पेशगी माँगेंगे। मैं इसी चिन्ता में था, कि जोशी ने आकर कहा—मैं अब माथुर के साथ रहूँगा। बेचारा गरीब आदमी है। अगर मैं बीस रुपये भी दे दूँगा, तो उसका काम चल जायगा। मैं बहुत खुश हुआ। दूसरे दिन वह माथुर के घर डट गया।

अब आता, तो माथुर के घर का कोई-न-कोई रहस्य लेकर आता। यह तो मैं जानता था, कि माथुर की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। बेचारा रेलवे के दफ्तर में नौकर था। वह नौकरी भी छूट गई थी। मगर यह न मालूम था कि उसके यहाँ फाके हो रहे हैं। कभी मालिक मकान आकर गालियाँ सुना जाता है, कभी दूधवाला, कभी बनिया, कभी कपड़ेवाला। बेचारा उनसे मुँह छिपाता फिरता है। जोशी आँखों में आँसू भर-भरकर उसके संकटों की करुण कहानी कहता और रोता। मैं तो जानता था, मैं ही एक आफत का मारा हूँ। माथुर की दशा देखकर मुझे अपनी विपत्ति भूल गई। मुझे अपनी ही चिन्ता है, कोई दूसरी फिक्र नहीं। जिसके द्वार पर जा पड़ूँ दो रोटियाँ मिल जायँगी; मगर माथुर के पीछे तो पूरा खटला है। माँ, दो विधवा बहनें, एक भांजी, दो भांजे, एक छोटा भाई। इतने बड़े परिवार के लिए पचास रुपये तो केवल रोटी-दाल के लिए चाहिए। माथुर सच्चा वीर है, देवता है, जो इतने बड़े परिवार का पालन कर रहा है। वह अब अपने लिए नहीं, माथुर के लिए दुखी था।

देवीजी ने टीका की––जभी माथुर की भांजी पर डोरे डाल रहा था। दुःख का भार कैसे हलका करता!

ढपोरसंख ने बिगड़कर कहा—अच्छा तो अब तुम्हीं कहो।

मैंने समझाया—तुम तो यार जरा-जरा-सी बात पर तिनक उठते हो! क्या तुम समझते हो, यह फुलझड़ियाँ मुझे न्याय-पथ से विचलित कर देंगी!

फिर कहानी शुरू हुई—एक दिन आकर बोला—आज मैंने माथुर के उद्धार का उपाय सोच निकाला। मेरे एक माथुर मित्र बैरिस्टर हैं। उनसे जग्गो (माथुर की भांजी) के विवाह के विषय में पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ। उसकी एक विधवा बहन को दोनों बच्चों के साथ ससुराल भेज दूँगा। दूसरी विधवा बहन अपने देवर के पास जाने पर राजी है। बस, तीन-चार आदमी रह जायँगे। कुछ मैं दूँगा, कुछ माथुर पैदा करेगा, गुजर हो जायगा। मगर आज उसके घर का दो महीनों का किराया देना पड़ेगा। मालिक मकान ने सुबह ही से धरना दे रखा है। कहता है, अपना किराया लेकर ही हटूँगा। आपके पास तीस रुपये हों, तो दे दीजिए। माथुर के छोटे भाई का वेतन कल परसों तक मिल जायगा, रुपये मिल जायँगे। एक मित्र संकट में पड़ा हुआ है। दूसरा मित्र उसकी सिफारिश कर रहा है। मुझे इनकार करने का साहस न हुआ। देवीजी ने उस वक्त नाक-भौं जरूर सिकोड़ा था पर मैंने न माना, रुपये दे दिये।

देवीजी ने डंक मारा—यह क्यों नहीं कहते, कि वह रुपये मेरी बहन ने बर्तन खरीदकर भेजने के लिए भेजे थे।

ढपोरसंख ने गुस्सा पीकर कहा—खैर, यही सही। मैंने रुपये दे दिये। मगर मुझे यह उलझन होने लगी, कि इस तरह तो मेरा कचूमर ही निकल जायगा। माथुर पर एक-न-एक संकट रोज ही सवार रहेगा। मैं कहाँ तक उन्हें उबारूँगा। जोशी भी जान खा रहा था कि कहीं कोई जगह दिला दीजिए। संयोग से उन्हीं दिनों मेरे एक आगरे के मित्र आ निकले। काउंसिल में मेम्बर थे। अब जेल में हैं। गाने-बजाने का शौक है, दो-एक ड्रामे भी लिख चुके हैं, अच्छे-अच्छे रईसों से परिचय है। खुद भी बड़े रसिक हैं। अबकी वह आये, तो मैंने जोशी का उनसे जिक्र किया। उसका ड्रामा भी सुनाया। बोले—तो उसे मेरे साथ कर दीजिए। अपना प्राइवेट सिक्रेटरी बना लूँगा। मेरे घर में रहे, मेरे साथ घर के आदमी की तरह रहे। जेब खर्च के लिए मुझसे तीस रुपये महीना लेता जाय। मेरे साथ ड्रामे लिखे। मैं फूला न समाया। जोशी से कहा। जोशी भी तैयार हो गया; लेकिन जाने के पहले उसे कुछ रुपयों की जरूरत हुई। एक भले आदमी के साथ फटेहालों तो जाते नहीं बनता और

न यही उचित था, कि पहले ही दिन से रुपये का तकाजा होने लगे। बहुत काट-छाँट करने पर भी चालिस रुपये का खर्च निकल आया। जूतें टूट गये थे, धोतियाँ फट गई थीं। और भी कई खर्च थे, जो इस वक्त याद नहीं आते। मेरे पास रुपये न थे। श्यामा से माँगने का हौसला न हुआ।

देवीजी बोलीं—मेरे पास तो कारूँ का खजाना रखा था न! कई हजार महीने लाते हो, सौ-दो-सौ रुपये बचत में आ ही जाते होंगे।

डपोरसंख इस व्यंग पर ध्यान न देकर अपनी कथा कहते रहे—रुपये पाकर जोशी ने ठाट बनाया और काउन्सिलर साहब के साथ चले। मैं स्टेशन तक पहुँचाने गया। माथुर भी था। लौटा, तो मेरे दिल पर से एक बोझ उतर गया था।

माथुर ने कहा—बड़ा मुहब्बती आदमी है।

मैंने समर्थन किया—बड़ा। मुझे तो भाई-सा मालूम होता है।

'मुझे तो अब घर अच्छा न लगेगा। घर के सब आदमी रोते रहे। मालूम ही न होता था, कि कोई गैर आदमी है। अम्माँ से लड़के की तरह बातें करता था। बहनों से भाई की तरह।'

'बदनसीब आदमी है, नहीं, जिसका बाप दो हजार रुपये माहवारी कमाता हो, वह यों मारा-मारा फिरे।'

'दार्जिलिंग में इनके बाप की दो कोठियाँ हैं!'

'आई० एम० एस० है!'

'जोशी मुझे भी वहीं ले जाना चाहता है। साल-दो साल में तो वहाँ जायगा ही। कहता है, तुम्हें मोटर की एजेंसी खुलवा दूँगा।'

इस तरह खयाली पुलाव पकाते हुए हम लोग घर आये।

मैं दिल में खुश था, कि चलो अच्छा हुआ, जोशी के लिए अच्छा सिलसिला निकल आया। मुझे यह आशा भी बँध चली, कि अबकी उसे वेतन मिलेगा, तो मेरे रुपये देगा। चार-पाँच महीने में चुकता कर देगा। हिसाब लगाकर देखा, तो अच्छी खासी रकम हो गई थी। मैंने दिल में समझा, यह भी अच्छा ही हुआ। यों जमा करता, तो कभी न जमा होते। इस बहाने से किसी तरह जमा तो हो गये। मैंने यह सोचा कि अपने मित्र से जोशी के वेतन

के रुपये पेशगी क्यों न ले लूँ, कह दूँ, उसके वेतन से महीने-महीने काटते रहिएगा।

लेकिन अभी मुश्किल से एक सप्ताह हुआ होगा कि एक दिन देखता हूँ, तो जोशी और माथुर, दोनों चले आ रहे हैं। मुझे भय हुआ, कहीं जोशीजी फिर तो नहीं छोड़ आये; लेकिन शंका को दबाता हुआ बोला—कहो भाई, कब आये? मजे में तो हो?

जोशी ने बैठकर एक सिगार जलाते हुए कहा—बहुत अच्छी तरह हूँ। मेरे बाबू साहब बड़े ही सज्जन आदमी हैं। मेरे लिए अलग एक कमरा खाली करा दिया है। साथ ही खिलाते हैं। बिलकुल भाई की तरह रखते हैं। आजकल किसी काम से दिल्ली गये हैं। मैंने सोचा, यहाँ पड़े-पड़े क्या करूँ, तब तक आप ही लोगों से मिलता आऊँ। चलते वक्त बाबू साहब ने मुझसे कहा था, मुरादाबाद से थोड़े से बर्तन लेते आना; मगर शायद उन्हें रुपये देने की याद नहीं रही। मैंने उस वक्त माँगना भी उचित न समझा। आप एक पचास रुपये दे दीजिएगा। मैं परसों तक जाऊँगा और वहाँ से जाते-ही-जाते भेजवा दूँगा। आप तो जानते हैं, रुपये के मुआमले में वे कितने खरे हैं।

मैंने जरा रुखाई के साथ कहा—रुपये तो इस वक्त मेरे पास नहीं हैं।

देवीजी ने टिप्पणी की—क्यों झूठ बोलते हो? तुमने रुखाई से कहा था, कि रुपये नहीं हैं!

ढपोरसंख ने पूछा—और क्या चिकनाई के साथ कहा था?

देवीजी—तो फिर कागज के रुपये क्यों दे दिये थे? बड़ी रुखाई करनेवाले!

ढपोरसंख—अच्छा साहब, मैंने हँसकर रुपये दे दिये। बस, अब खुश हुई। तो भई मुझे बुरा तो लगा; लेकिन अपने सज्जन मित्र का वास्ता था। मेरे ऊपर बेचारे बड़ी कृपा रखते हैं। मेरे पास पत्रिका का कागज खरीदने के लिए पचास रुपये रखे हुए थे। वह मैंने जोशी को दे दिये।

शाम को माथुर ने आकर कहा—जोशी तो चले गये। कहते थे, बाबू साहब का तार आ गया है। बड़ा उदार आदमी है। मालूम ही नहीं होता, कोई बाहरी आदमी है। स्वभाव भी बालकों का-सा है। भाँजी की शादी तय करने को कहते थे। लेन-देन का तो कोई जिक्र है ही नहीं, पर कुछ नजर तो

देनी ही पड़ेगी। बैरिस्टर साहब, जिनसे विवाह हो रहा है, दिल्ली के रहनेवाले हैं। उनके पास जाकर नजर देनी होगी। जोशीजी चले जायँगे। आज मैंने रुपये भी दे दिये। चलिए एक बड़ी चिन्ता सिर से टली।

मैंने पूछा—रुपये तो तुम्हारे पास न होंगे?

माथुर ने कहा—रुपये कहाँ थे साहब! एक महाजन से स्टाम्प लिखकर लिये, दो रुपये सैकड़े सूद पर।

देवीजी ने क्रोध भरे स्वर में कहा—मैं तो उस दुष्ट को पा जाऊँ तो मुँह नोच लूँ। पिशाच ने इस गरीब को भी न छोड़ा।

ढपोरसंख बोला—यह क्रोध तो आपको अब आ रहा है न। तब तो आप भी समझती थीं, कि जोशी दया और धर्म का पुतला है।

देवीजी ने विरोध किया—मैंने उसे पुतला-पुतली कभी नहीं समझा। हाँ तुम्हारी तकलीफों के भुलावे में पड़ जाती थी।

ढपोरसंख—तो साहब, इस तरह कोई दो महीने गुजरे, इस बीच में भी जोशी दो-तीन बार आये; मगर मुझसे कुछ माँगा नहीं। हाँ, अपने बाबू साहब के संबंध में तरह-तरह की बातें कीं, जिनसे मुझे दो-चार गल्प लिखने कि सामग्री मिल गई।

मई का महीना था। एक दिन प्रातःकाल जोशी आ पहुँचे। मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, उनके बाबू साहब नैनीताल चले गये। इन्हें भी लिए जाते थे; पर उन्होंने हम लोगों के साथ यहाँ रहना अच्छा समझा और चले आये।

देवीजी ने फुलझड़ी छोड़ी—कितना त्यागी था बेचारा। नैनीताल की बहार छोड़कर यहाँ गर्मी में प्राण देने चला आया।

ढपोरसंख ने इसकी ओर कुछ ध्यान न देकर कहा—मैंने पूछा—कोई नई बात तो नहीं हुई वहाँ!

जोशी ने हँसकर कहा—मेरे भाग्य में तो नई-नई विपत्तियाँ लिखी हैं। उनसे कैसे जान बच सकती है। अबकी भी एक नई विपत्ति सिर पड़ी। यह कहिए आपका आशीर्वाद था, जान बच गई, नहीं तो अब तक जमुनाजी में बहा चला जाता होता। एक दिन जमुना किनारे सैर करने चला गया। वहाँ तैराकी का मैच था। बहुत से आदमी तमाशा देखने आये हुए थे। मैं भी एक

जगह खड़ा होकर देखने लगा। मुझसे थोड़ी दूर पर एक और महाशय एक युवती के साथ खड़े थे। मैंने बातचीत की, तो मालूम हुआ, मेरी ही बिरादरी के हैं। यह भी मालूम हुआ, मेरे पिता और चाचा, दोनों ही से उनका परिचय है। मुझसे स्नेह की बातें करने लगे—तुम्हें इस तरह ठोकरें खाते तो बहुत दिन हो गये; क्यों नहीं चले जाते, अपने माँ-बाप के पास। माना कि उनका लोक व्यवहार तुम्हें पसन्द नहीं; लेकिन माता पिता का पुत्र पर कुछ-न-कुछ अधिकार तो होता है। तुम्हारी माताजी को कितना दुःख हो रहा होगा।

सहसा एक युवक किसी तरफ से आ निकला और वृद्ध महाशय तथा युवती को देखकर बोला—आपको शर्म नहीं आती कि आप अपनी युवती कन्या को इस तरह मेले में लिए खड़े हैं।

वृद्ध महाशय का मुँह जरा-सा निकल आया और युवती तुरत घूँघट निकालकर पीछे हट गई। मालूम हुआ कि उसका विवाह इसी युवक से ठहरा हुआ है। वृद्ध उदार, सामाजिक विचारों के आदमी थे परदे के कायल न थे। युवक, वयस में युवक होकर भी खूसट विचारों का आदमी था, परदे का कट्टर पक्षपाती। वृद्ध थोड़े देर तक तो अपराधी-भाव से बातें करते रहे; पर युवक प्रतिक्षण गर्म होता जाता था। आखिर बूढ़े बाबा भी तेज हुए।

युवक ने आँखें निकालकर कहा—मैं ऐसी निर्लज्जा से विवाह करना अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ।

वृद्ध ने क्रोध से काँपते हुए स्वर में कहा—और मैं तुम-जैसे लंपट से अपनी कन्या [illegible]व विवाह करना लज्जा की बात समझता हूँ।

युवक ने क्रोध के आवेश में वृद्ध का हाथ पकड़कर धक्का दिया। बातों से न जीतकर अब वह हाथों से काम लेना चाहता था। वृद्ध धक्का खाकर गिर पड़े। मैंने लपककर उन्हें उठाया और युवक को डाँटा।

वह वृद्ध को छोड़कर मुझसे लिपट गया। मैं कोई कुश्तीबाज तो हूँ नहीं। वह लड़ना जानता था। मुझे उसने बात-की-बात में गिरा दिया और मेरा गला दबाने लगा। कई आदमी जमा हो गये थे। जब तक कुश्ती होती रही, लोग कुश्ती का आनंद उठाते रहे; लेकिन जब देखा मुआमला संगीन हुआ चाहता है, तो तुरंत बीच-बचाव कर दिया। युवक बूढ़े बाबा से जाते-जाते कह गया—

तुम अपनी लड़की को वेश्या बनाकर बाजार में घुमाना चाहते हो, तो अच्छी तरह घुमाओ, मुझे अब उससे विवाह नहीं करना है। वृद्ध चुपचाप खड़े थे और युवती रो रही थी। भाई साहब, तब मुझसे न रहा गया। मैंने कहा—महाशय, आप मेरे पिता के तुल्य हैं और मुझे जानते हैं। यदि आप मुझे इस योग्य समझें, तो मैं इन देवीजी को अपनी हृदयेश्वरी बनाकर अपने को धन्य समझूँगा। मैं जिस दशा में हूँ, आप देख रहे हैं। संभव है, मेरा जीवन इसी तरह कट जाय; लेकिन श्रद्धा, सेवा और प्रेम यदि जीवन को सुखी बना सकता है, तो मुझे विश्वास है, कि देवी के प्रति मुझमें इन भावों की कमी न रहेगी। बूढ़े बाबा ने गद्‌गद होकर मुझे कंठ से लगा लिया। उसी क्षण मुझे अपने घर ले गये, भोजन कराया और विवाह का सगुन कर दिया। मैं एक बार युवती से मिलकर उसकी सम्मति भी लेना चाहता था। बूढ़े बाबा ने मुझे इसकी सहर्ष अनुमति दे दी। युवती से मिलकर मुझे ज्ञात हुआ, कि वह रमणियों में रत्न है। मैं उसकी बुद्धिमत्ता देखकर चकित हो गया। मैंने अपने मन में जिस सुन्दरी की कल्पना की थी, वह उससे हूबहू मिलती है। मुझे उतनी ही देर में विश्वास हो गया कि मेरा जीवन उसके साथ सुखी होगा। मुझे अब आशीर्वाद दीजिए। युवती आप की पत्रिका बराबर पढ़ती है और आपसे उसे बड़ी श्रद्धा है। जून में विवाह होना निश्चय हुआ है। मैंने स्पष्ट कह दिया—मै जेवर-कपड़े नाम मात्र को लाऊँगा, न कोई धूम-धाम ही करूँगा। वृद्ध ने कहा—मैं तो स्वयं यही कहनेवाला था। मैं कोई तैयारी नहीं चाहता, न धूम-धाम की मुझे इच्छा है। जब मैंने आपका नाम लिया, कि वह मेरे बड़े भाई के तुल्य हैं तो वह बहुत प्रसन्न हुए। आपके लेखों को वह बड़े आदर से देखते हैं।

मैंने कुछ खिन्न होकर कहा—यह तो सब कुछ है; लेकिन इस समय तुम्हें विवाह करने की सामर्थ्य भी नहीं है। और कुछ न हो, तो पचास रुपये की बँधी हुई आमदनी तो होनी ही चाहिए।

जोशी ने कहा—भाई साहब, मेरा उद्धार विवाह ही से होगा। मेरे घर से निकलने का कारण भी विवाह ही था और घर वापस जाने का कारण भी विवाह ही होगा। जिस समय प्रमिला हाथ बाँधे हुए जाकर पिताजी के चरणों पर गिर पड़ेगी, उनका पाषाण हृदय भी पिघल जायगा। समझेंगे विवाह तो

हो ही चुका, अब वधू पर क्यों जुल्म किया जाय। जब उसे आश्रय मिल जायगा, तो मुझे झक मारकर बुलायेंगे। मैं इसी जिद पर घर से निकला था, कि अपना विवाह अपने इच्छानुसार बिना कुछ लिये दिये करूँगा और वह मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई जा रही है। प्रमिला इतनी चतुर है, कि वह मेरे घरवालों को चुटकियों में मना लेगी। मैंने तखमीना लगा लिया है। कुल तीन सौ रुपये खर्च होंगे और यही तीन-चार सौ रुपये मुझे ससुराल से मिलेंगे। मैंने सोचा है, प्रमिला को पहले यहीं लाऊँगा। यहीं से वह मेरे घर पत्र लिखेगी और आप देखिएगा तीसरे ही दिन चचा साहब गहनों की पिटारी लिये आ पहुँचेंगे। विवाह हो जाने पर वह कुछ नहीं कर सकते। इसलिए मैंने विवाह की खबर किसी को नहीं दी।

मैंने कहा—लेकिन मेरे पास तो अभी कुछ भी नहीं है भाई। मैं तीन सौ रुपए कहाँ से लाऊँगा?

जोशी ने कहा—तीन सौ रुपये नकद थोड़े ही लगेंगे। कोई सौ रुपये के कपड़े लगेंगे। सौ रुपये की दो-एक सोहाग की चीजें बनवा लूँगा और सौ रुपये राह-खर्च समझ लीजिए। उनका मकान काशीपुर में है। वहीं से विवाह करेंगे। यह बंगाली सोनार जो सामने है, आपके कहने से एक सप्ताह के वादे पर जो जो चीजें मागूँगा, दे देगा। बजाज भी आपके कहने से दे देगा। नकद मुझे कुल सौ रुपये की जरूरत पड़ेगी और ज्यों ही उधर से लौटा त्यों ही दे दूँगा। बारात में आप और माथुर के सिवा कोई तीसरा आदमी न होगा। आपको मैं कष्ट नहीं देना चाहता, लेकिन जिस तरह अब तक आपने मुझे भाई समझकर सहायता दी है, उसी तरह एक बार और दीजिए। मुझे विश्वास था, कि आप इस शुभ कार्य में आपत्ति न करेंगे। इसलिए मैंने वचन दे दिया। अब तो आपको यह डोंगी पार लगानी ही पड़ेगी।

देवीजी बोलीं—मैं कहती थी, उसे एक पैसा मत दो। कह दो हम तुम्हारी शादी-विवाह के झंझट में नहीं पड़ते।

ढपोरसंख ने कहा—हाँ, तुमने अबकी बार जरूर समझाया; लेकिन मैं क्या करता। शादी का मुआमला, उस पर उसने मुझे भी घसीट लिया था अपनी इज्जत का कुछ खयाल तो करना ही पड़ता है।

देवीजी ने मेरा लिहाज किया और चुप हो गईं।

अब मैं उस वृत्तान्त को न बढ़ाऊँगा। सारांश यह है, कि जोशी ने ढपोरसंख के मत्थे सौ रुपये के कपड़े और सौ रुपये से कुछ ऊपर के गहनों का बोझ लादा। बेचारे ने एक मित्र से सौ रुपये उधार लेकर उनके सफर खर्च को दिया। खुद ब्याह में शरीक हुए। ब्याह में खासी धूमधाम रही। कन्या के पिता ने मेहमानों का आदर-सत्कार खूब किया। उन्हें जल्दी थी; इसलिए वह खुद तो दूसरे ही दिन चले आये; पर माथुर जोशी के साथ विवाह के अन्त तक रहा। ढपोरसंख को आशा थी, कि जोशी ससुराल के रुपये पाते ही माथुर के हाथों भेज देगा, या खुद लेता आयेगा। मगर माथुर भी दूसरे दिन आ गये, खाली हाथ और यह खबर लाये, कि जोशी को ससुराल में कुछ भी हाथ नहीं लगा। माथुर से उन्हें अब मालूम हुआ कि लड़की से जमुना-तट पर मिलने की बात सर्वथा निर्मूल थी। इस लड़की से जोशी बहुत दिनों तक पत्र-व्यवहार कर रहा था। फिर तो ढपोरसंख के कान खड़े हो गये। माथुर से पूछा—अच्छा! यह बिलकुल कल्पना थी उसकी?

माथुर—जी हाँ।

ढपोर०—अच्छा, तुम्हारी भांजी के विवाह का क्या हुआ?

माथुर—अभी तो कुछ नहीं हुआ।

ढपोर०—मगर जोशी ने कई महीने तक तुम्हारी सहायता तो खूब की?

माथुर—मेरी सहायता वह क्या करता। हाँ, दोनों जून भोजन भले कर लेता था।

ढपोर०—तुम्हारे नाम पर उसने मुझसे जो रुपये लिये थे, वह तो तुम्हें दिये होंगे?

माथुर—क्या मेरे नाम पर भी कुछ रुपये लिये थे?

ढपोर०—हाँ भाई, तुम्हारे घर का किराया देने के लिए तो ले गया था।

माथुर—सरासर बेईमानी। मुझे उसने एक पैसा भी नहीं दिया, उलटे और एक महाजन से मेरे नाम पर सौ रुपयों का स्टाम्प लिखकर रुपये लिये। मैं क्या जानता था, कि धोखा दे रहा है। संयोग से उसी वक्त आगरे से वह सज्जन आ गये, जिनके पास जोशी कुछ दिनों रहा था। उन्होंने माथुर को

देखकर पूछा—अच्छा! आप अभी जिंदा हैं। जोशी ने तो कहा था, माथुर मर गया है।

माथुर ने हँसकर कहा—मेरे तो सिर में दर्द भी नहीं हुआ।

ढपोरसंख ने पूछा—अच्छा आपके मुरादाबादी बरतन तो पहुँच गये?

आगरा-निवासी मित्र ने कुतूहल से पूछा—कैसे मुरादाबादी बरतन?

'वही जो आपने जोशी की मारफत मंगवाये थे?'

'मैंने कोई चीज उसकी मारफत नहीं मंगवाई। मुझे जरूरत होती तो आपको सीधा न लिखता!'

माथुर ने हँसकर कहा—तो यह रुपये भी उसने हजम कर लिये।

आगरा-निवासी मित्र बोले—मुझसे भी तो तुम्हारी मृत्यु के बहाने सौ रुपये लाया था। यह तो एक ही जालिया निकला। उफ! कितना बड़ा चकमा दिया है इसने! जिन्दगी में यह पहला मौका है, कि मैं यों बेवकूफ बना। बच्चा को पा जाऊँ, तो तीन साल को भेजवाऊँ। कहाँ है आजकल?

माथुर ने कहा—अभी तो ससुराल में है।

ढपोरसंख का वृत्तान्त समाप्त हो गया। जोशी ने उन्हीं को नहीं, माथुर जैसे और ग़रीब, आगरा-निवासी सज्जन-जैसे घाघ को भी उलटे छुरे से मूड़ा और अगर भंडा न फूट गया होता, तो अभी न-जाने कितने दिनों तक मूड़ता। उसकी इन मौलिक चालों पर मैं भी मुग्ध हो गया। बेशक! अपने फन का उस्ताद है, छटा हुआ गुर्गा।

देवीजी बोलीं—सुन ली आपने सारी कथा?

मैंने डरते-डरते कहा—हाँ, सुन तो ली।

'अच्छा, तो अब आपका क्या फैसला है? (पति की ओर इशारा करके) इन्होंने घोंघापन किया या नहीं? जिस आदमी को एक-एक पैसे के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़े, वह घर के पाँच छः सौ रुपये इस तरह उड़ा दे, इसे आप उसकी सज्जनता कहेंगे या बेवकूफी? अगर इन्होंने यह समझकर रुपये दिये होते, कि पानी में फेंक रहा हूँ, तो मुझे कोई आपत्ति न थी; मगर यह बराबर इस धोखे में रहे और मुझे भी उसी धोखे में डालते रहे, कि वह घर का मालदार है और मेरे सब रुपये ही न लौटा देगा; बल्कि और भी कितने सलूक करेगा। जिसका बाप दो हजार रुपये महीना पाता हो, जिसके चाचा की आम-

दनी एक हजार मासिक हो और एक लाख की जायदाद घर में हो, वह और कुछ नहीं तो यरोप की सैर तो एक बार करा ही सकता था। मैं अगर कभी मना भी करती, तो आप बिगड़ जाते थे और उदारता का उपदेश देने लगते थे। यह मैं स्वीकार करती हूँ, कि शुरू में मैं भी धोखे में आ गई थी; मगर पीछे से मुझे उसका सन्देह होने लगा था। और विवाह के समय तो मैंने जोर देकर कह दिया था, कि अब एक पाई भी न दूँगी। पूछिये झूठ कहती हूँ, या सच ? फिर अगर मुझे धोखा हुआ, तो मैं घर में रहनेवाली स्त्री हूँ। मेरा धोखे में आ जाना क्षम्य है, मगर यह जो लेखक और विचारक और उपदेशक बनते हैं. यह क्यों धोखे में आये और जब मैं इन्हें समझाती थी; तो यह क्यों अपने को बुद्धिमत्ता का अवतार समझकर मेरी बातों की उपेक्षा करते थे ? देखिए, रू-रिआयत न कीजियेगा, नहीं मैं बुरी तरह खबर लूँगी। मैं निष्पक्ष न्याय चाहती हूँ।'

ढपोरसंख ने दर्दनाक आँखों से मेरी तरफ देखा, जो मानो मान-भिक्षा माँग रही थीं। उसी के साथ देवीजी की आग्रह, आदेश और गर्व से भरी आँखें ताक रही थीं। एक को अपनी हार का विश्वास था, दूसरी को अपनी जीत का। एक रिआयत चाहती, दूसरी सच्चा न्याय।

मैंने कृत्रिम गंभीरता से अपना निर्णय सुनाया—मेरे मित्र ने कुछ भावुकता से अवश्य काम लिया है; पर उनकी सज्जनता निर्विवाद है।

ढपोरसंख उछल पड़े और मेरे गले लिपट गये। देवीजी ने सगर्व नेत्रों से देखकर कहा—यह तो मैं जानती ही थी, कि चोर-चोर मौसेरे भाई होंगे। तुम दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो। अब तक रुपये में एक पाई मर्दों का विश्वास था। आज तुमने वह भी उठा दिया। आज निश्चय हुआ, कि पुरुष छली कपटी, विश्वासघाती और स्वार्थी होते हैं। मैं इस निर्णय को नहीं मानती। मुफ्त में ईमान बिगाड़ना इसी को कहते हैं। भला मेरा पक्ष लेते, तो अच्छा भोजन मिलता; उनका पक्ष लेकर आपको सड़े सिगरेटों के सिवा और क्या हाथ लगेगा। खैर, हाँड़ी गई तो गई, कुत्ते की जात तो पहचानी गई।

उस दिन से दो-तीन बार देवीजी से भेंट हो चुकी है, और वही फटकार सुननी पड़ी है। वह न क्षमा चाहती हैं; न क्षमा कर सकती हैं।

DEMONSTRATION

डिमांसट्रेशन

प्रदर्शन

DIMANSTRATION x

महाशय गुरुप्रसादजी रसिक जीव हैं, गाने-बजाने का शौक है, खाने-खिलाने का शौक है और सैर-तमाशे का शौक है ; पर उसी मात्रा में द्रव्योपार्जन का शौक नहीं है। यों वह किसी के मुँहताज नहीं हैं, भले आदमियों की तरह हैं और हैं भी भले आदमी ; मगर किसी काम में चिमटे नहीं सकते। गुड़ होकर भी उनमें लस नहीं है। वह कोई ऐसा काम उठाना चाहते हैं, जिसमें चटपट कारूँ का खजाना मिल जाय और हमेशा के लिए बेफिक्र हो जायँ। बैंक से छमाही सूद चला आये, खाएँ और मजे से पड़े रहें ; किसी ने सलाह दी नाटक-कम्पनी खोलो। उनके दिल में भी बात जम गई। मित्रों को लिखा—मैं ड्रामेटिक कंपनी खोलने जा रहा हूँ, आप लोग ड्रामे लिखना शुरू कीजिए। कंपनी का प्रासपेक्टस बना, कई महीने उसकी खूब चर्चा रही, कई बड़े-बड़े आदमियों ने हिस्से खरीदने के वादे किये। लेकिन न हिस्से बिके, न कंपनी खड़ी हुई, हाँ इसी धुन में गुरुप्रसादजी ने एक नाटक की रचना कर डाली। और यह फिक्र हुई कि इसे किसी कंपनी को दिया जाय। लेकिन यह तो मालूम ही था, कंपनीवाले एक ही घाघ होते हैं। फिर हरेक कंपनी में उसका एक नाटककार भी होता है। वह कब चाहेगा कि उसकी कंपनी में किसी बाहरी आदमी का प्रवेश हो। वह इस रचना में तरह-तरह के ऐब निकालेगा और कंपनी के मालिक को भड़का देगा। इसलिए प्रबंध किया गया, कि मालिकों पर नाटक का कुछ ऐसा प्रभाव जमा दिया जाय कि नाटककार महोदय की कुछ दाल न गल सके। पाँच सज्जनों की एक कमेटी बनाई गई, उसमें सारा प्रोग्राम विस्तार के साथ तय किया गया और दूसरे दिन पाँचों सज्जन गुरुप्रसादजी के साथ नाटक दिखाने चले! ताँगे आ गये। हारमोनियम, तबला आदि सब उस पर रख दिये गये ; क्योंकि नाटक का डिमांसट्रेशन (demonstration) करना निश्चित हुआ था।

सहसा विनोदबिहारी ने कहा—यार, ताँगे पर जाने में तो कुछ बदरोबी होगी। मालिक सोचेगा, यह महाशय यों ही हैं। इस समय दस-पाँच रुपये का

मुँह न देखना चाहिए। मैं तो अँग्रेजी की विज्ञापनबाजी का कायल हूँ कि रुपये में पंद्रह आने उसमें लगाकर शेष एक आने में रोजगार करते हैं। कहीं से दो मोटरें मँगानी चाहिएँ।

रसिकलाल बोले—लेकिन किराये की मोटरों से यह बात न पैदा होगी, जो आप चाहते हैं। किसी रईस से दो मोटरें माँगनी चाहिए, मारिस हो या नये चाल की आस्टिन।

बात सच्ची थी। भेष से भीख मिलती है। विचार होने लगा किस रईस से याचना की जाय। अजी वह महाखूसट है। सबेरे उसका नाम ले लो तो दिन भर पानी न मिले। अच्छा सेठजी के पास चलें तो कैसा? मुँह धो रखिए, उसकी मोटरें अफसरों के लिए रिजर्व हैं, अपने लड़के तक को कभी बैठने नहीं देता, आपको दिये देता है। तो फिर कपूर साहब के पास चलें। अभी उन्होंने नई मोटर ली है। अजी उसका नाम न लो। कोई-न-कोई बहाना करेगा, ड्राइवर नहीं है, मरम्मत में है।

गुरुप्रसाद ने अधीर होकर कहा—तुम लोगों ने तो व्यर्थ का बखेड़ा कर दिया। ताँगों पर चलने में क्या हरज था।

विनोदबिहारी ने कहा—आप तो घास खा गये हैं। नाटक लिख लेना दूसरी बात है और मुआमले को पटाना दूसरी बात है। रुपये पृष्ठ सुना देगा, अपना-सा मुँह लेकर रह जाओगे।

अमरनाथ ने कहा—मैं तो समझता हूँ, मोटर के लिए किसी राजा-रईस की खुशामद करना बेकार है। तारीफ तो जब है कि पाँव-पाँव चलें और वहाँ ऐसा-ऐसा रंग जमायें कि मोटर से भी ज्यादा शान रहे। विनोदबिहारी उछल पड़े। सब लोग पाँव-पाँव चले। वहाँ पहुँचकर किस तरह बातें शुरू होंगी, किस तरह तारीफों के पुल बाँधे जाएँगे, किस तरह ड्रामेटिस्ट साहब को खुश किया जायगा, इसपर बहस होती जाती थी।

हम लोग कम्पनी के कैंप में कोई दो बजे पहुँचे। वहाँ मालिक साहब, उनके ऐक्टर, नाटककार सब पहले ही से हमारा इन्तजार कर रहे थे। पान, इलायची, सिगरेट मँगा लिए गये थे।

ऊपर जाते ही रसिकलाल ने मालिक से कहा—क्षमा कीजिएगा, हमें आने

में देर हुई। हम मोटर से नहीं, पाँव-पाँव आये हैं। आज यही सलाह हुई कि प्रकृति की छटा का आनन्द उठाते चलें; गुरुप्रसाद जी तो प्रकृति के उपासक हैं। इनका बस होता, तो आज चिमटा लिये या तो कहीं भीख माँगते होते, या किसी पहाड़ी गाँव में वटवृक्ष के नीचे बैठे पक्षियों का चहकना सुनते होते।

विनोद ने रद्दा जमाया—और आये भी तो सीधे रास्ते से नहीं, जाने कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाते, खाक छानते। पैरों में जैसे सनीचर हैं।

अमर ने और रङ्ग जमाया—पूरे सतजुगी आदमी हैं। नौकर-चाकर तो मोटरों पर सवार होते हैं और आप गली-गली मारे-मारे फिरते हैं। जब और रईस मीठी नींद के मजे लेते होते हैं, तो आप नदी के किनारे ऊषा का शृंगार देखते हैं। मस्तराम ने फरमाया—कवि होना, मानो दीन-दुनिया से मुक्त हो जाना है। गुलाब ने ही युरोप के बड़े-बड़े कवियों को आसमान पर पहुँचा दिया है। युरोप में होते तो आज इनके द्वार पर हाथी झूमता होता। एक दिन एक बालक को रोते देखकर आप रोने लगे। पूछता हूँ—भई क्यों रोते हो, तो और रोते हैं। मुँह से आवाज नहीं निकलती। बड़ी मुश्किल से आवाज निकली।

विनोद—जनाब! कवि का हृदय कोमल भावों का स्रोत है, मधुर संगीत का भण्डार है, अनन्त का आईना है।

रसिक—क्या बात कही है आपने, अनन्त का आईना है! वाह! कवि की सोहबत में आप भी कुछ कवि हुए जा रहे हैं।

गुरुप्रसाद ने नम्रता से कहा—मैं कवि नहीं हूँ और न मुझे कवि होने का दावा है। आप लोग मुझे जबरदस्ती कवि बनाये देते हैं। कवि स्रष्टा की वह अद्भुत रचना है जो पंचभूतों की जगह नौ रसों से बनती है।

मस्तराम—आपका यही एक वाक्य है, जिसपर सैकड़ों कविताएँ न्योछावर हैं। सुनी आपने रसिकलाल जी, कवि की महिमा। याद कर लीजिए, रट डालिए।

रसिकलाल—कहाँ तक याद करें, भैया, यह तो सूक्तियों में बातें करते हैं और नम्रता का यह हाल है कि अपने को कुछ समझते ही नहीं। महानता का यही लक्षण है। जिसने अपने को कुछ समझा, वह गया। (कम्पनी के स्वामी से) आप तो अब खुद ही सुनेंगे, ड्रामे में अपना हृदय निकालकर रख

दिया है। कवियों में जो एक प्रकार का अल्हड़पन होता है, उसकी आप में कहीं गन्ध भी नहीं। इस ड्रामें की सामग्री जमा करने के लिए आपने कुछ नहीं तो एक हजार बड़े-बड़े पोथों का अध्ययन किया होगा। वाजिदअली शाह को स्वार्थी, इतिहास-लेखकों ने कितना कलङ्कित किया है, आप लोग जानते ही हैं। उस लेख-राशि को छाँटकर उसमें से सत्य के तत्व खोज निकालना आप ही का काम था!

विनोद—इसीलिए हम और आप दोनों कलकत्ते गये और वहाँ कोई छः महीने मटियाबुर्ज की खाक छानते रहे। वाजिदअली शाह की हस्तलिखित एक पुस्तक की तलाश की। उसमें उन्होंने खुद अपनी जीवन चर्चा लिखी है। एक बुढ़िया की पूजा की गई तब कहीं जाके छः महीने में किताब मिली।

अमरनाथ—पुस्तक नहीं रत्न है।

मस्तराम—उस वक्त तो उसकी दशा कोयले की थी, गुरुप्रसाद जी ने उसपर मोहर लगाकर अशर्फी बना दिया। ड्रामा ऐसा चाहिए कि जो सुने दिल हाथों से थाम ले। एक-एक वाक्य दिल में चुभ जायँ।

अमरनाथ—संसार साहित्य के सभी नाटकों को आपने चाट डाला और नाट्य-रचना पर सैकड़ों किताबें पढ़ डालीं।

विनोद—जभी तो चीज भी लासानी हुई है।

अमरनाथ—लाहौर ड्रामेटिक क्लब का मालिक हफ्ते भर यहाँ पड़ा रहा, पैरों पड़ा कि मुझे यह नाटक दे दीजिए, लेकिन आपने न दिया। जब ऐक्टर ही अच्छे नहीं, तो उनसे अपना ड्रामा खेलवाना उसकी मिट्टी खराब कराना था। इस कम्पनी के ऐक्टर माशाअल्लाह अपना जवाब नहीं रखते और इसके नाटककार की सारे जमाने में धूम है। आप लोगों के हाथों में पड़कर यह ड्रामा धूम मचा देगा।

विनोद—एक तो लेखक साहब खुद शैतान से ज्यादा मशहूर हैं, उस पर यहाँ के ऐक्टरों का नाट्य-कौशल! शहर लुट जायगा।

मस्तराम—रोज ही तो किसी न-किसी कम्पनी का आदमी सिर पर सवार रहता है, मगर बाबू साहब किसी से सीधे मुँह बात नहीं करते।

विनोद—बस एक यह कम्पनी है, जिसके तमाशों के लिए दिल बेकरार

रहता है, नहीं तो और जितने ड्रामे खेले जाते हैं दो कौड़ी के। मैंने तमाशा देखना ही छोड़ दिया।

गुरुप्रसाद—नाटक लिखना लिखाना बच्चों का खेल नहीं है; खूने जिगर पीना पड़ता है। मेरे ख्याल में एक नाटक लिखने के लिए पाँच साल का समय भी काफी नहीं। बल्कि अच्छा ड्रामा जिंदगी में एक ही लिखा जा सकता है। यों कलम घिसना दूसरी बात है। बड़े-बड़े धुरंधर आलोचकों का यही निर्णय है कि आदमी जिंदगी में एक ही नाटक लिख सकता है। रूस, फ्रांस, जर्मनी सभी देशों के ड्रामे पढ़े; पर कोई-न-कोई दोष सभी में मौजूद। किसी में भाव है तो भाषा नहीं, भाषा है तो भाव नहीं। हास्य है तो गाना नहीं, गाना है तो हास्य नहीं। जब तक भाव, भाषा, हास्य और गाना यह चारों अंग न पूरे हों, उसे ड्रामा कहना ही न चाहिए। मैं तो बहुत ही तुच्छ आदमी हूँ, कुछ आप लोगों की सोहबत में शुदबुद आ गया। मेरी रचना की हस्ती ही क्या। लेकिन ईश्वर ने चाहा, तो ऐसे दोष आपको न मिलेंगे।

विनोद—जब आप उस विषय के मर्मज्ञ हैं, तो दोष रह ही कैसे सकते हैं।

रसिकलाल—दस साल तक तो आपने केवल संगीत कला का अभ्यास किया है। घर के हजारों रुपये उस्तादों को भेंट कर दिये, फिर भी दोष रह जाय, तो दुर्भाग्य है।

रिहर्सल—

रिहर्सल शुरू और वाह! वाह! हाय! हाय का तार बंधा। कोरस सुनते ही ऐक्टर और प्रोप्राइटर और नाटककार सभी मानो जाग पड़े। भूमिका ने उन्हें विशेष प्रभावित न किया था, पर असली चीज सामने आते ही आँखें खुलीं। समाँ बँध गया। पहला सीन आया। आँखों के सामने वाजिदअली शाह के दर्बार की तसवीर खिंच गई। दरबारियों की हाजिर-जवाबी और फड़कते हुए लतीफे! वाह! वाह! क्या कहना है! क्या वाक्य रचना थी, क्या शब्द योजना थी, रसों का कितना सुरुचि से भरा हुआ समावेश था! तीसरा दृश्य हास्यमय था। हँसते-हसते लोगों की पसलियाँ दुखने लगीं, स्थूल-काय स्वामी की संयत अविचलता भी आसन से डिग गई। चौथा सीन करुणाजनक था। हास्य के बाद करुणा, आँधी के बाद अनेवाली शान्ति थी।

विनोद आँखों पर हाथ रखे सिर झुकाये, जैसे रो रहे थे। मस्तराम बार-बार ठंडी आहें खींच रहे थे और अमरनाथ बार-बार सिसकियाँ भर रहे थे। इसी तरह सीन-पर-सीन और अंक-पर-अंक समाप्त होते गये, यहाँ तक कि जब रिहर्सल समाप्त हुआ, तो दीपक जल चुके थे।

सेठजी अब तक सोंठ बने हुए बैठे थे। ड्रामा समाप्त हो गया, पर उनके मुखारविंद पर उनके मनोविचार का लेशमात्र भी आभास न था। जड़भरत की तरह बैठे हुए थे, न मुसकराहट थी, न कुतूहल, न हर्ष; न कुछ विनोद-बिहारी ने मुआमले की बात पूछी—तो इस ड्रामा के बारे में श्रीमान् की क्या राय है?

सेठजी ने उसी विरक्त भाव से उत्तर दिया—मैं इसके विषय में कल निवेदन करूँगा। कल यहीं भोजन भी कीजिएगा। आप लोगों के लायक भोजन तो क्या होगा, उसे केवल विदुर का साग समझकर स्वीकार कीजिएगा।

पंच पांडव बाहर निकले, तो मारे खुशी के सबकी बाछें खिली जाती थीं।

विनोद—पाँच हजार की थैली है। नाक-नाक बद सकता हूँ।

अमरनाथ—पाँच हजार है कि दस, यह तो नहीं कह सकता, पर रंग खूब जम गया।

रसिक—मेरा अनुमान तो चार हजार का है।

मस्तराम—और मेरा विश्वास है कि दस हजार से कम वह कहेगा ही नहीं। मैं तो सेठ के चेहरे की तरफ ध्यान से देख रहा था। आज ही कह देता; पर डरता था, कहीं ये लोग अस्वीकार न कर दें। उसके होंठों पर तो हँसी न न थी; पर मगन हो रहा था।

गुरुप्रसाद—मैंने पढ़ा भी तो जी तोड़कर।

विनोद—ऐसा जान पड़ता था तुम्हारी वाणी पर सरस्वती बैठ गई हैं। सभी की आँखें खुल गईं।

रसिक—मुझे उसकी चुप्पी से जरा संदेह होता है।

अमर—आपके संदेह का क्या कहना। आपको ईश्वर पर भी संदेह है।

मस्त—ड्रामाटिस्ट भी बहुत खुश हो रहा था। दस-बारह हजार का वारा-न्यारा है। भई, आज इस खुशी में एक दावत होनी चाहिए।

गुरुप्रसाद—अरे, तो कुछ बोहनी-बट्टा तो हो जाय।

मस्त—जी नहीं, तब तो जलसा होगा। आज दावत होगी।

विनोद—भाग्य के बली हो तुम गुरुप्रसाद।

रसिक—मेरी राय है, जरा उस ड्रामेटिस्ट को गाँठ लिया जाय। उसका मौन मुझे भयभीत कर रहा है।

मस्त—आप तो वाही हुए हैं। वह नाक रगड़कर रह जाय, तब भी यह सौदा होकर रहेगा। सेठजी अब बचकर निकल नहीं सकते।

विनोद—हम लोगों की भूमिका भी तो जोरदार थी।

अमर—उसी ने तो रंग जमा दिया। अब कोई छोटी रकम कहने का उसे साहस न होगा।

अभिनय—

रात को गुरुप्रसाद के घर मित्रों की दावत हुई। दूसरे दिन कोई ६ बजे पाँचों आदमी सेठजी के पास जा पहुँचे। संध्या का समय हवाखोरी का है। आज मोटर पर न आने के लिए बना बनाया बहाना था। सेठजी आज बेहद खुश नजर आते थे। कल की वह मुहर्रमी सूरत अंतरध्यान हो गई थी। बात-बात पर चहकते थे, हँसते थे, जैसे लखनऊ का कोई रईस हो। दावत का सामान तैयार था। मेजों पर भोजन चुना जाने लगा। अंगूर, संतरे, केले, सूखे मेवे, कई किस्म की मिठाइयाँ कई तरह के मुरब्बे, शराब आदि सजा दिये गये और यारों ने खूब मजे से दावत खाई। सेठजी मेहमाननेवाजी के पुतले बने हुए हरेक मेहमान के पास आ-आकर पूछते—कुछ और मँगवाऊँ? कुछ तो और लीजिए। आप लोगों के लायक भोजन यहाँ कहाँ बन सकता है।

भोजन के उपरांत लोग बैठे, तो मुआमले की बात-चीत होने लगी। गुरुप्रसाद का हृदय आशा और भय से काँपने लगा।

सेठजी—हजूर ने बहुत ही सुंदर नाटक लिखा है। क्या बात है।

ड्रामेटिस्ट—यहाँ जनता अच्छे ड्रामों की कद्र नहीं करती, नहीं तो यह ड्रामा लाजवाब होता।

सेठजी—जनता कद्र नहीं करती न करे, हमें जनता की बिलकुल परवाह नहीं है, रत्ती बराबर परवाह नहीं है। मैं इसकी तैयारी में ५० हजार केवल

बाबू साहब की खातिर से खर्च कर दूंगा आपने इतनी मेहनत से एक चीज लिखी है, तो मैं उसका प्रचार भी उतने ही हौसले से करूँगा। हमारे साहित्य के लिए क्या यह कुछ कम सौभाग्य की बात है कि आप-जैसे महान् पुरुष इस क्षेत्र में आ गये। यह कीर्ति हुजूर को अमर बना देगी।

ड्रामेटिस्ट—मैंने तो ऐसा ड्रामा आज तक नहीं देखा। लिखता मैं भी हूँ, और लोग भी लिखते हैं। लेकिन आपकी उड़ान को कोई क्या पहुँचेगा! कहीं कहीं तो आपने शेक्सपियर को भी मात कर दिया है।

सेठजी—तो जनाब, जो चीज दिल की उमंग से लिखी जाती है, वह ऐसी ही अद्वितीय होती है। शेक्सपियर ने जो कुछ लिखा, रुपये के लोभ से लिखा। हमारे दूसरे नाटककार भी धन ही के लिए लिखते हैं। उनमें वह बात कहाँ पैदा हो सकती है। गोसाईं जी की रामायण क्यों अमर है, इसीलिए कि वह भक्ति और प्रेम से प्रेरित होकर लिखी गई है। सादी की गुलिस्ताँ और बोस्ताँ, होमर की रचनाएं, इसीलिए स्थायी हैं कि उन कवियों ने दिल की उमंग से लिखा। जो उमंग से लिखता है, वह एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य, एक-एक उक्ति पर महीनों खर्च कर देता है। धनेच्छु को तो एक काम जल्दी से समाप्त करके दूसरा काम शुरू करने की फिक्र होती है।

ड्रामेटिस्ट—आप बिलकुल सत्य कह रहे हैं। हमारे साहित्य की अवनति केवल इसलिए हो रही है कि हम सब धन के लिए या नाम के लिए लिखते हैं।

सेठजी—सोचिए, आपने दस साल केवल संगीतालय में खर्च कर दिये। लाखों रुपये कलावंतों और गायकों को दे डाले होंगे। कहाँ-कहाँ से और कितने परिश्रम और खोज से इस नाटक की सामग्री एकत्र की। न जाने कितने राजों-महराजों को सुनाया। इस परिश्रम और लगन का पुरस्कार कौन दे सकता है।

ड्रामेटिस्ट—मुमकिन ही नहीं। ऐसी रचनाओं के पुरस्कार की कल्पना करना ही उनका अनादर करना है। इनका पुरस्कार यदि कुछ है, तो वह अपनी आत्मा का संतोष है, वह संतोष आपके एक-एक शब्द से प्रकट होता है।

सेठजी—आपने बिलकुल सत्य कहा कि ऐसी रचनाओं का पुरस्कार अपनी आत्मा का संतोष है। यश तो बहुधा ऐसी रचनाओं को मिल जाता है, जो साहित्य के कलंक हैं। आपसे ड्रामा ले लीजिए और आज ही पार्ट भी तकसीम

कर दीजिए। तीन महीने के अन्दर इसे खेल डालना होगा। मेज पर ड्रामे की हस्तलिपि पड़ी हुई थी। ड्रामेटिस्ट ने उसे उठा लिया। गुरुप्रसाद ने दीन नेत्र से विनोद की ओर देखा, विनोद ने अमर की ओर, अमर ने रसिक की ओर, पर शब्द किसी के मुँह से न निकला। सेठजी ने मानो सभी के मुँह सी दिये हों। ड्रामेटिस्ट साहब किताब लेकर चल दिये।

सेठजी ने मुस्किराकर कहा—हुजूर को थोड़ी-सी तकलीफ और करनी होगी। ड्रामा का रिहर्सल शुरू हो जायगा, तो आपको थोड़े दिनों कंपनी के साथ रहने का कष्ट उठाना पड़ेगा। हमारे ऐक्टर अधिकांश गुजराती हैं। वह हिन्दी भाषा के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। कहीं-कहीं शब्दों पर अनावश्यक जोर देते हैं। आपकी निगरानी से यह सारी बुराइयाँ दूर हो जायँगी। ऐक्टरों ने यदि पार्ट अच्छी न किया, तो आपके सारे परिश्रम पर पानी पड़ जायगा। यह कहते हुए उसने लड़के को आवाज दी—बॉय! आप लोगों के लिए सिगार लाओ।

सिगार आ गया। सेठजी उठ खड़े हुए। यह मित्र-मंडली के लिए विदाई की सूचना थी। पाँचों सज्जन भी उठे। सेठजी आगे-आगे द्वार तक आये। फिर सबसे हाथ मिलाते हुए कहा—आज इस गरीब कम्पनी का तमाशा देख लीजिए। फिर यह संयोग न जाने कब प्राप्त हो।

गुरुप्रसाद ने मानो किसी कब्र के नीचे से कहा—हो सका तो आ जाऊँगा। सड़क पर आकर पाँचों मित्र खड़े होकर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। तब पाँचों ही जोर से कहकहा मारकर हँस पड़े।

विनोद ने कहा—यह हम सब का गुरुघंटाल निकला।

अमर—साफ आँखों में धूल झोंक दी।

रसिक—मैं उसकी चुप्पी देखकर पहले ही से डर रहा था कि यह कोई पक्के सिरे का घाघ है।

मस्त—मान गया इसकी खोपड़ी को। यह चपत उम्र भर न भूलेगी।

गुरुप्रसाद इस आलोचना में शरीक न हुए। वह इस तरह सिर झुकाये चले जा रहे थे, मानो अभी तक वह स्थिति को समझ ही न पाये हों।

—:o:—

दारोगाजी

कल शाम को एक जरूरत से ताँगे पर बैठा हुआ जा रहा था कि रास्ते में एक और महाशय ताँगे पर आ बैठे। ताँगेवाला उन्हें बैठाना तो न चाहता था, पर इनकार भी न कर सकता था। पुलिस के आदमी से झगड़ा कौन मोल ले। यह साहब किसी थाने के दारोगा थे। एक मुकदमे की पैरवी करने सदर आये थे। मेरी आदत है कि पुलिसवालों से बहुत कम बोलता हूँ। सच पूछिए, तो मुझे उनकी सूरत से नफरत है। उनके हाथों प्रजा को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका अनुभव इस जीवन में कई बार कर चुका हूँ। मैं जरा एक तरफ खिसक गया और मुँह फेरकर दूसरी ओर देखने लगा कि दारोगाजी बोले—जनाब, यह आम शिकायत है कि पुलिस वाले बहुत रिश्वत लेते हैं; लेकिन यह कोई नहीं देखता कि पुलिसवालों को रिश्वत लेने के लिये कितना मजबूर किया जाता है। अगर पुलिसवाले रिश्वत लेना बन्द कर दें, तो मैं हलफ से कहता हूँ, ये जो बड़े बड़े ऊँची पगड़ियोंवाले रईस नजर आते हैं, सब-के-सब जेलखाने अन्दर बैठे दिखाई दें। अगर हर एक मामले का चालान करने लगें, तो दुनिया पुलिसवालों को और भी बदनाम करे। आपको यकीन न आयेगा जनाब, रुपये की थैलियाँ गले लगाई जाती हैं। हम हजार इनकार करें, पर चारों तरफ से ऐसे दबाव पड़ते हैं कि लाचार होकर लेना ही पड़ता है।

मैंने उपहास के भाव से कहा---जो काम रुपये लेकर किया जाता है, वही काम बिना रुपये लिये भी तो किया जा सकता है।

दारोगाजी हँसकर बोले—वह तो गुनाह बेलज्जत होगा, बंदापरवर। पुलिस का आदमी इतना कट्टर देवता नहीं होता, और मेरा ख्याल है कि शायद कोई इंसान भी इतना बेलौस नहीं हो सकता। और सीगों के लोगों को भी देखता हूँ, मुझे तो कोई देवता न मिला....

मैं अभी इसका कुछ जवाब दे ही रहा था कि एक मियाँ साहब लम्बी अचकन पहने, तुर्की टोपी लगाये, ताँगे के सामने से निकले। दारोगाजी ने

उन्हें देखते ही झुककर सलाम किया और शायद मिजाज शरीफ पूछना चाहते थे कि उस भले आदमी ने सलाम का जवाब गालियों से देना शुरू किया। जब ताँगा कई कदम आगे निकल आया, तो वह एक पत्थर लेकर ताँगे के पीछे दौड़ा। ताँगेवाले ने घोड़े को तेज किया। उस भलेमानुस ने भी कदम तेज किये और पत्थर फेंका। मेरा सिर बाल-बाल बच गया। उसने दूसरा पत्थर उठाया, वह हमारे सामने आकर गिरा। तीसरा पत्थर इतने जोर से आया कि दारोगाजी के घुटने में बड़ी चोट आयी; पर इतनी देर में ताँगा इतनी दूर निकल आया था कि हम अब पत्थरों की मार से दूर हो गये थे। हाँ, गालियों की मार अभी तक जारी थी। जब तक वह आदमी आँखों से ओझल न हो गया, हम उसे एक हाथ में पत्थर उठाये, गालियाँ बकते हुए देखते रहे।

जब जरा चित्त शान्त हुआ, मैंने दारोगाजी से पूछा—यह कौन आदमी है, साहब? कोई पागल तो नहीं है?

दारोगाजी ने घुटने को सहलाते हुए कहा—पागल नहीं है साहब, मेरा पुराना दुश्मन है। मैंने समझा था, जालिम पिछली बातें भूल गया होगा। वरना मुझे क्या पड़ी थी कि सलाम करने जाता।

मैंने पूछा—आपने इसे किसी मुकदमे में सजा दिलाई होगी?

'बड़ी लम्बी दास्तान है जनाब! बस इतना ही समझ लीजिए कि इसका बस चले, तो मुझे जिन्दा ही निगल जाय।'

'आप तो शौक की आग को और भड़का रहे हैं। अब तो वह दास्तान सुने बगैर तस्कीन न होगी।'

दारोगाजी ने पहलू बदलकर कहा—अच्छी बात है, सुनिए। कई साल हुए, मैं सदर में ही तैनात था। बेफिक्री के दिन थे, ताजा खून, एक माशूक से आँख लड़ गई। आमदरफ्त शुरू हुई। अब भी जब उस हसीना की याद आती है, तो आँखों से आँसू निकल आते हैं। बाजारू औरतों में इतनी हया, इतनी वफा, इतनी मुरव्वत मैंने नहीं देखी। दो साल उसके साथ इतने लुत्फ से गुजरे कि आज भी उसकी याद करके रोता हूँ। मगर किस्से को बढ़ाऊँगा नहीं, वरना अधूरा ही रह जायगा। मुख्तसर यह कि दो साल के बाद मेरे तबादले का हुक्म आ गया। उस वक्त दिल को जितना सदमा पहुँचा, उसका

जिक्र करने के लिए दफ्तर चाहिए। बस, यही जी चाहता था कि इस्तीफा दे दूँ। उस हसीना ने यह खबर सुनी, तो उसकी जान-सी निकल गई। सफर की तैयारी के लिए मुझे तीन दिन मिले थे। ये तीन दिन हमने मंसूबे बाँधने में काटे। उस वक्त मुझे अनुभव हुआ कि औरतों को अक्ल से खाली समझने में हमने कितनी बड़ी गलती की है। मेरे मंसूबे शेखचिल्ली के-से होते थे। कलकत्ते भाग चलें, वहाँ कोई दूकान खोल दें, या इसी तरह कोई दूसरी तजवीज करता। लेकिन वह यही जवाब देती कि अभी वहाँ जाकर अपना काम करो। जब मकान का बन्दोबस्त हो जाय, तो मुझे बुला लेना। मैं दौड़ी चली आऊँगी।

आखिर जुदाई की घड़ी आई। मुझे मालूम होता था कि अब जान न बचेगी। गाड़ी का वक्त निकला जाता था, और मैं उसके पास से उठने का नाम न लेता था। मगर मैं फिर किस्से को तूल देने लगा। खुलासा यह कि मैं उसे दो-तीन दिन में बुलाने का वादा करके रुखसत हुआ। पर अफसोस! वे दो-तीन दिन कभी न आये। पहले दस-पाँच दिन तो अफसरों से मिलने और इलाके की देख-भाल में गुजरे। इसके बाद घर से खत आ गया कि तुम्हारी शादी तय हो गई; रुखसत लेकर चले आओ। शादी की खुशी में उस वफा की देवी की मुझे फिक्र न रही। शादी करके महीने-भर बाद लौटा, तो बीबी साथ थी। रही-सही याद भी जाती रही। उसने एक महीने के बाद एक खत भेजा; पर मैंने उसका जवाब न दिया। डरता रहता था कि कहीं एक दिन वह आकर सिर पर सवार न हो जाय; फिर बीबी को मुँह दिखाने लायक भी न रह जाऊँ।

साल भर के बाद मुझे एक काम से सदर आना पड़ा। उस वक्त मुझे उस औरत की याद आई; सोचा, जरा चलकर देखना चाहिए, किस हालत में है। फौरन अपने खत न भेजने और इतने दिनों तक न आने का जवाब सोच लिया और उसके द्वार पर जा पहुँचा। दरवाजा साफ सुथरा था, मकान की हालत भी पहले से अच्छी थी। दिल को खुशी हुई कि इसकी हालत उतन खराब नहीं है, जितनी मैंने समझी थी। और, क्यों खराब होने लगी। मुझ-जैसे दुनिया में क्या और आदमी ही नहीं हैं।

मैंने दरवाजा खटखटाया। अंदर से वह बंद था। आवाज आई—कौन है?

मैंने कहा—वाह! इतनी जल्द भूल गई। मैं हूँ, बशीर....

कोई जवाब न मिला। आवाज उसी की थी, इसमें शक नहीं, फिर दरवाजा क्यों नहीं खोलती? जरूर मुझसे नाराज है। मैंने फिर किवाड़ खट-खटाये और लगा अपनी मुसीबतों का क़िस्सा सुनाने। कोई पन्द्रह मिनट के बाद दरवाजा खुला। हसीना ने मुझे इशारे से अन्दर बुलाया और झट किवाड़ बन्द कर लिये। मैंने कहा—मैं तुमसे मुआफी माँगने आया हूँ। यहाँ से जाकर मैं बड़ी मुश्किल में फँस गया। इलाका इतना खराब है कि दम मारने की मुहलत नहीं मिलती।

हसीना ने मेरी तरफ न देखकर जमीन की तरफ ताकते हुए कहा—मुआफी किस बात की? तुमसे मेरा निकाह तो हुआ न था। दिल कहीं और लग गया, तो मेरी याद क्यों आती। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं। जैसा और लोग करते हैं, वैसा ही तुमने किया। यही क्या कम है कि इतने दिनों के बाद इधर आ तो गये। रहे तो खैरियत से?

'किसी तरह जिंदा हूँ।'

'शायद जुदाई में घुलते-घुलते यह तोंद निकल आई है। खुदा झूठ न बुलवाये, तब से दूने हो गये।'

मैंने झेंपते हुए कहा—यह सारा बलगम का फिसाद है। भला मोटा मैं क्या होता। उधर का पानी निहायत बलगमी है। तुमने तो मेरी याद ही भुला दी।

उसने अबकी मेरी ओर तेज निगाहों से देखा और बोली—खत का जवाब तक न दिया, उलटे मुझी को इलजाम देते हो। मैं तुम्हें शुरू से बेवफा समझती थी, और तुम वैसे ही निकले। बीवी लाये और मुझे खत तक न लिखा!

मैंने ताज्जुब से पूछा—तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मेरी शादी हो गई?

उसने रुखाई से कहा—यह पूछकर क्या करोगे? झूठ तो नहीं कहती। बेवफा बहुत देखे, लेकिन तुम सबसे बढ़कर निकले। तुम्हारी आवाज सुनकर जी में तो आया कि दुत्कार दूँ; लेकिन यह सोचकर दरवाजा खोल दिया कि अपने दरवाजे पर किसी को क्या जलील करूँ।

मैंने कोट उतारकर खूँटी पर लटका दिया, जूते भी उतार डाले और चारपाई पर लेटकर बोला—लैली, देखो, इतनी बेरहमी से न पेश आओ। मैं तो अपनी खताओं को खुद तस्लीम करता हूँ और इसीलिए अब तुमसे मुआफी माँगने आया हूँ। जरा अपने नाजुक हाथों से एक पान तो खिला दो। सच कहना, तुम्हें मेरी याद काहे को आती होगी। कोई और यार मिल गया होगा।

लैली पानदान खोलकर पान बनाने लगी कि एकाएक किसी ने किवाड़ खटखटाये। मैंने घबराकर पूछा—यह कौन शैतान आ पहुँचा?

हसीना ने होंटों पर उँगली रखते हुए कहा—यह मेरे शौहर हैं। तुम्हारी तरफ से जब निराश हो गई, तो मैंने इन के साथ निकाह कर लिया।

मैंने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—तो तुमने मुझसे पहले ही क्यों न बता दिया, मैं उलटे पाँव लौट न जाता, यह नौबत क्यों आती। न-जाने कबकी यह कसर निकाली।

'मुझे क्या मालूम कि यह इतने जल्द आ पहुँचेंगे। रोज तो पहर रात गये आते थे। फिर तुम इतनी दूर से आये थे, तुम्हारी कुछ खातिर भी तो करनी थी।'

'यह अच्छी खातिर की। बताओ; अब मैं जाऊँ कहाँ।'

'मेरी समझ में खुद कुछ नहीं आ रहा है। या अल्लाह! किस अजाब में फँसी।'

इतने में उन साहब ने फिर दरवाजा खटखटाया। ऐसा मालूम होता था कि किवाड़ तोड़ डालेगा। हसीना के चेहरे पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था। बेचारी खड़ी काँप रही थी। बस, जबान से यही निकलता था—या अल्लाह, रहम कर!

बाहरसे आवाज आई—अरे! तुम क्या सरेशाम से सो गई? अभी तो आठ भी नहीं बजे। कहीं साँप तो नहीं सूँघ गया। अल्लाह जानता है, अब और देर की, तो किवाड़ चिड़वा डालूँगा।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा—खुदा के लिए मेरे छिपने की कोई जगह बताओ। पिछवाड़े कोई दरवाजा नहीं न?

'ना!'

'संडास तो है ?'

'सबसे पहले वह वहीं जायँगे ।'

'अच्छा, वह सामने कोठरी कैसी है ?'

'हाँ, है तो, लेकिन कहीं कोठरी खोलकर देखा तो !'

'क्या बहुत डबल आदमी है ?'

'तुम-जैसे दो को बगल में दबा ले ।'

'तो खोल दो कोठरी । वह ज्योंही अन्दर आयेगा, मैं दरवाजा खोलकर निकल भागूँगा ।'

हसीना ने कोठरी खोल दी । मैं अन्दर जा घुसा । दरवाजा फिर बन्द हो गया ।

मुझे कोठरी में बन्द करके हसीना ने जाकर सदर दरवाजा खोला और बोली—क्यों किवाड़ तोड़े डालते हो ! आ तो रही हूँ ।

मैंने कोठरी के किवाड़ों के दराजों से देखा । आदमी क्या पूरा देव था । अन्दर आते ही बोला—तुम सरेशाम से सो गई थीं !

'हाँ, जरा आँख लग गई थी ।'

'मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा था कि तुम किसी से बातें कर रही हो ।'

'वहम की दवा तो लुकमान के पास भी नहीं !'

'मैंने साफ सुना । कोई-न-कोई था जरूर । तुमने उसे कहीं छिपा रखा है ।'

'इन्हीं बातों पर तुमसे मेरा जी जलता है । सारा घर तो पड़ा है, देख क्यों नहीं लेते ।'

'देखूँगा तो मैं जरूर ही, लेकिन तुमसे सीधे-सीधे पूछता हूँ, बतला दो, कौन था ।'

हसीना ने कुँजियों का गुच्छा फेंकते हुए कहा—अगर कोई था तो घर ही में न होगा । लो, सब जगह देख आओ । सुई तो है नहीं कि मैंने कहीं छिपा दी हो ।

वह शैतान इन चकमों में न आया । शायद पहले भी ऐसा ही चरका खा चुका था । कुंजियों का गुच्छा उठाकर सबसे पहले मेरी कोठरी के द्वार पर

आया और उसके ताले को खोलने की कोशिश करने लगा! गुच्छे में उस ताले की कुंजी न थी। बोला—इस कोठरी की कुंजी कहाँ है?

हसीना ने बनावटी ताज्जुब से कहा—अरे, तो क्या उसमें कोई छिपा बैठा है? वह तो लकड़ियों से भरी पड़ी है।

'तुम कुंजी दे दो न।'

'तुम भी कभी-कभी पागलों के-से काम करने लगते हो। अँधेरे में कोई साँप-बिच्छू निकल आये तो। ना भैया, मैं उसकी कुंजी न दूँगी।'

'बला से साँप निकल आयेगा। अच्छा ही हो, निकल आये। इस बेहयाई की जिन्दगी से तो मौत ही अच्छी।'

हसीना ने इधर-उधर तलाश करके कहा—न जाने उसकी कुंजी कहाँ रख दी। खयाल नहीं आता।

'इस कोठरी में तो मैंने और कभी ताला नहीं देखा।'

'मैं तो रोज लगाती हूँ। शायद कभी लगाना भूल गई हूँ, तो नहीं कह सकती।'

'तो तुम कुंजी न दोगी?'

'कहती तो हूँ, इस वक्त नहीं मिल रही है।'

'कहे देता हूँ, कच्चा ही खा जाऊँगा।'

अब तक तो मैं किसी तरह जब्त किये खड़ा रहा। बार-बार अपने ऊपर गुस्सा आ रहा था कि यहाँ क्यों आया। न-जाने यह शैतान कैसे पेश आये। कहीं तैश में आकर मार ही न डाले। मेरे हाथों में तो कोई छुरी भी नहीं। या खुदा! अब तू ही मालिक है। दम रोके हुए खड़ा था कि एक पल का भी मौका मिले, तो निकल भागूँ; लेकिन जब उस मरदूद ने किवाड़ों को जोर से धमधमाना शुरू किया, तब तो रूह ही फ़ना हो गई। इधर-उधर निगाह डाली कि किसी कोने में छिपने की जगह है, या नहीं। किवाड़ के दराजों से कुछ रोशनी आ रही थी! ऊपर जो निगाह उठाई, तो एक मचान-सा दिखाई दिया। डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। उचककर चाहता था कि ऊपर चढ़ जाऊँ कि मचान पर एक आदमी को बैठे देखकर उस हालत में मेरे मुँह से चीख निकल गई। यह हजरत अचकन पहने, घड़ी लगाये

एक खूबसूरत साफा बाँधे, उकड़ूँ बैठे हुए थे। अब मुझे मालूम हुआ कि मेरे लिए दरवाजा खोलने में हसीना ने इतनी देर क्यों की थी। अभी इनको देख ही रहा था कि दरवाजे पर मूसल की चोटें पड़ने लगीं। मामूली किवाड़ तो थे ही, तीन चार चोटों में दोनों किवाड़े नीचे आ रहे, और वह मरदूद लालटेन लिए कमरे में घुसा। उस वक्त मेरी क्या हालत थी, इसका अन्दाज आप खुद कर सकते हैं। उसने मुझे देखते ही लालटेन रख दी और मेरी गर्दन पकड़कर बोला—अच्छा, आप यहाँ तशरीफ रखते हैं। आइए, आपकी कुछ खातिर करूँ। ऐसे मेहमान रोज कहाँ मिलते हैं।

यह कहते हुए उसने मेरा एक हाथ पकड़कर इतने जोर से बाहर की तरफ ढकेला कि मैं आँगन में औंधा जा गिरा। उस शैतान की आँखों से अंगारे निकल रहे थे। मालूम होता था, उसके होंठ मेरा खून चूसने के लिए बढ़े आ रहे हैं। मैं अभी जमीन से उठने भी न पाया था कि वह कसाई एक बड़ा-सा तेज छुरा लिए मेरी गर्दन पर आ पहुँचा; मगर जनाब हूँ पुलिस का आदमी। उस वक्त मुझे एक चाल सूझ गई। उसने मेरी जान बचा ली, वरना आज आपके साथ ताँगे पर न बैठा होता। मैंने हाथ जोड़कर कहा—हुजूर, मैं बिलकुल बेकसूर हूँ। मैं तो मीर साहब के साथ आया था।

उसने गरज कर पूछा—कौन मीर साहब? मैंने जी कड़ा करके कहा—वही, जो मचान पर बैठे हुए हैं। मैं तो हुजूर का गुलाम ठहरा, जहाँ हुक्म पाऊँगा, आपके साथ जाऊँगा। मेरी इसमें क्या खता है।

'अच्छा, तो कोई मीर साहब मचान पर भी तशरीफ रखते हैं?'

उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और कोठरी में जाकर मचान पर देखा। वह हजरत सिमटे-सिमटाये, भीगी बिल्ली बने बैठे थे। चेहरा ऐसा पीला पड़ गया था, गोया बदन में जान ही नहीं।

उसने उनका हाथ पकड़कर एक झटका दिया, तो आप धम से नीचे आ रहे। उनका ठाट देखकर अब इसमें कोई शुबहा न रहा कि वह मेरे मालिक हैं। उनकी सूरत देखकर उस वक्त तरस के साथ हंसी भी आती थी!

'तू कौन है बे?'

'जी, मैं ....मेरा मकान, यह आदमी झूठा है, यह मेरा नौकर नहीं है।'

'तू यहाँ क्या करने आया था ?'

'मुझे यही बदमाश (मेरी तरफ देखकर) धोखा देकर लाया था ।'

'यह क्यों नहीं कहता कि मजे उड़ाने आया था । दूसरों पर इल्जाम रख कर अपनी जान बचाना चाहता है, सुअर ? ले तू भी क्या समझेगा कि किसके पाले पड़ा था ।'

यह कहकर उसने उसी तेज छूरे से उन साहब की नाक काट ली । मैं मौका पाकर बेतहाशा भागा, लेकिन हाय-हाय की आवाज मेरे कानों में आ रही थी । इसके बाद उन दोनों में कैसी छनी, हसीना के सिर पर क्या आफत आई, इसकी मुझे कुछ खबर नहीं । मैं तबसे बीसों बार सदर आ चुका हूँ, पर उधर भूलकर भी नहीं गया । यह पत्थर फेकने वाले हजरत वही हैं, जिनकी नाक कटी थी । आज न-जाने कहाँ से दिखाई पड़ गये और मेरी शामत आई कि उन्हें सलाम कर बैठा । आपने उनकी नाक की तरफ शायद ख्याल नहीं किया ।

मुझे अब ख्याल आया कि उस आदमी की नाक कुछ चिपटी थी । बोला—हाँ, नाक कुछ चिपटी तो थी । मगर आपने उस गरीब को बुरा चरका दिया ।

'और करता ही क्या ?'

'आप दोनों मिलकर उस आदमी को क्या न दबा लेते ?'

'जरूर दबा लेते; मगर चोर का दिल आधा होता है । उस वक्त अपनी-अपनी पड़ी थी कि मुकाबला करने की सूझती । कहीं उस रमझल्ले में धर लिया जाता, तो आबरू अलग जाती और नौकरी से अलग हाथ धोता । मगर अब इस आदमी से होशियार रहना पड़ेगा ।'

इतने में चौक आ गया और हम दोनों ने अपनी-अपनी राह ली ।

अभिलाषा ABHILASHA

कल पड़ोस में बड़ी हलचल मची। एक पानवाला अपनी स्त्री को मार रहा था। वह बेचारी बैठी रो रही थी, पर उस निर्दयी को उसपर लेशमात्र भी दया न आती थी। आखिर स्त्री को भी क्रोध आ गया। उसने खड़े होकर कहा—बस, अब मारोगे, तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुमसे कोई संबंध नहीं। मैं भीख माँगूँगी, पर तेरे घर न आऊँगी। यह कहकर उसने अपनी एक पुरानी साड़ी उठाई और घर से निकल पड़ी। पुरुष काठ के उल्लू की तरह खड़ा देखता रहा। स्त्री कुछ दूर चलकर फिर लौटी और दूकान की संदूकची खोलकर कुछ पैसे निकाले। शायद अभी तक उसे कुछ ममता थी; पर उस निर्दयी ने तुरन्त उसका हाथ पकड़कर पैसे छीन लिये। हाय री हृदय-हीनता! अबला स्त्री के प्रति पुरुष का यह अत्याचार! एक दिन इसी स्त्री पर उसने प्राण दिये होंगे, उसका मुँह जोहता रहा होगा; पर आज इतना निष्ठुर हो गया है, मानो कभी की जान-पहचान ही नहीं। स्त्री ने पैसे रख दिये और बिना कुछ कहे-सुने चली गई। कौन जाने कहाँ! मैं अपने कमरे की खिड़की से घंटों देखती रही कि शायद वह फिर लौटे या शायद पानवाला ही उसे मनाने जाय; पर दो में से एक बात भी न हुई। आज मुझे स्त्री की सच्ची दशा का पहली बार ज्ञान हुआ। यह दूकान दोनों की थी। पुरुष तो मटरगस्ती किया करता था, स्त्री रात-दिन बैठी सती होती थी। दस-ग्यारह बजे रात तक मैं उसे दूकान पर बैठे देखती थी। प्रातःकाल नींद खुलती, तब भी उसे बैठे पाती। नोच-खसोट, काट-कपट जितना पुरुष करता था, उससे कुछ अधिक ही स्त्री करती थी। पर पुरुष सब कुछ है, स्त्री कुछ नहीं! पुरुष जब चाहे उसे निकाल बाहर कर सकता है!

इस समस्या पर मेरा चित्त इतना अशांत हो गया कि नींद आँखों से भाग गई। बारह बज गये और मैं बैठी रही। आकाश पर निर्मल चाँदनी छिटकी हुई थी। निशानाथ अपने रत्न-जटित सिंहासन पर गर्व से फूले बैठे थे। बादल

के छोटे-छोटे टुकड़े धीरे-धीरे चंद्रमा के समीप आते थे और फिर विकृत रूप में पृथक हो जाते थे, मानो श्वेतवसना सुन्दरियाँ उसके हाथों दलित और अपमानित होकर रुदन करती हुई चली जा रही हों। इस कल्पना ने मुझे इतना विकल किया कि मैंने खिड़की बंद कर दी और पलंग पर आ बैठी। मेरे प्रियतम निद्रा में मग्न थे। उनका तेजमय मुखमंडल इस समय मुझे कुछ चंद्रमा से ही मिलता-जुलता-मालूम हुआ। वही सहास छवि थी, जिससे मेरे नेत्र तृप्त हो जाते थे। वही विशाल वक्ष था, जिसपर सिर रखकर मैं अपने अन्तस्तल में एक कोमल, मधुर कंपन का अनुभव करती थी। वही सुदृढ़ बाहें थीं, जो मेरे गले में पड़ जाती थीं, तो मेरे हृदय में आनंद की हिलोरें-सी उठने लगती थीं। पर आज कितने दिन हुए, मैंने उस मुखपर हँसी की उज्ज्वल रेखा नहीं देखी, न देखने को चित्त व्याकुल ही हुआ। कितने दिन हुए, मैंने उस वक्ष पर सिर नहीं रखा और न वह बांहें मेरे गले में पड़ी। क्यों? क्या मैं कुछ और हो गई, या पतिदेव ही कुछ और हो गये।

अभी कुछ बहुत दिन भी तो नहीं बीते, कुल पाँच साल हुए हैं—कुल पाँच साल, जब पतिदेव ने विकसित नेत्रों और लालायित अधरों से मेरा स्वागत किया था। मैं लज्जा से गर्दन झुकाये हुए थी। हृदय में कितनी प्रबल उत्कंठा हो रही थी कि उनकी मुख-छवि देख लूँ; पर लज्जावश सिर न उठा सकती। आखिर एक बार मैंने हिम्मत करके आँखें उठाईं और यद्यपि दृष्टि आधे रास्ते से ही लौट आई, तो भी उस अर्द्ध दर्शन से मुझे जो आनंद मिला, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ। वह चित्र अब भी मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। जब कभी उसका स्मरण आ जाता है, हृदय पुलकित हो उठता है। उस आनंद-स्मृति में अब भी वही गुदगुदी, वही सनसनी है! लेकिन अब रात-दिन उस छवि के दर्शन करती हूँ। उषाकाल, प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, संध्या काल, निशाकाल आठों पहर उसको देखती हूँ; पर हृदय में गुदगुदी नहीं होती। वह मेरे सामने खड़े मुझसे बातें किया करते हैं मैं कोशिए की ओर देखती रहती हूँ। जब वह घर से निकलते थे, तो मैं द्वार पर आकर खड़ी हो जाती थी। और, जब वह पीछे फिरकर मुस्करा देते थे तो मुझे मानों स्वर्ग का राज्य मिल जाता था। मैं तीसरे पहर कोठे पर चढ़ जाती थी, और उनके

आने की बाट जोहने लगती थी। उनको दूर से आते देखकर मैं उन्मत्त-सी होकर नीचे आती और द्वार पर जाकर उनका अभिवादन करती। पर अब मुझे यह भी नहीं मालूम होता कि वह कब जाते और कब आते हैं। जब बाहर का द्वार बंद हो जाता है, तो समझ जाती हूँ कि वह चले गये; जब द्वार खुलने की आवाज आती है, तो समझ जाती हूँ कि आ गये। समझ में नहीं आता कि मैं ही कुछ और हो गई या पतिदेव ही कुछ और हो गये।

तब वह घर में बहुत न आते थे। जब उनकी आवाज कानों में आ जाती तो मेरी देह में बिजली-सी दौड़ जाती थी। उनकी छोटी छोटी बातों, छोटे-छोटे कामों को भी मैं अनुरक्त, मुग्ध नेत्रों से देखा करती थी। वह जब छोटे लाला को गोद में उठाकर प्यार करते थे, जब टामी का सिर थपथपाकर उसे लिटा देते थे, जब बूढ़ी भक्तिन को चिढ़ाकर बाहर भाग जाते थे, जब बाल्टियों में पानी भर-भर पौदों को सींचते थे, तब ये आँखें उसी ओर लगी रहती थीं। पर अब वह सारे दिन घर में रहते हैं, मेरे सामने हँसते हैं, बोलते हैं, मुझे खबर भी नहीं होती। न जाने क्यों?

तब किसी दिन उन्होंने फूलों का एक गुलदस्ता मेरे हाथ में रख दिया था और मुस्किराये थे। वह प्रणय का उपहार पाकर मैं फूली न समाई थी। केवल थोड़े-से फूल और पत्तियाँ थीं; पर उन्हें देखने से मेरी आँखें किसी भाँति तृप्त ही न होती थीं। कुछ देर हाथ में लिये रही, फिर अपनी मेज पर फूलदान में, रख दिया। कोई काम करती होती, तो बार-बार आकर उस गुलदस्ते को देख जाती। कितनी बार उसे आँखों से लगाया, कितनी बार उसे चूमा! कोई एक लाख रुपये भी देता, तो उसे न देती। उसकी एक-एक पंखड़ी मेरे लिए एक-एक रत्न थी। जब वह मुरझा गया, तो मैंने उसे उठाकर अपने बक्स में रख दिया था। तबसे उन्होंने मुझे हजारों चीजें उपहार में दी हैं—एक-से-एक रत्न-जटित आभूषण हैं, एक-से-एक बहुमूल्य वस्त्र हैं और गुलदस्ते तो प्रायः नित्य ही लाते हैं; लेकिन इन चीजों को पाकर वह उल्लास नहीं होता। मैं उन चीजों को पहनकर आईने में अपना रूप देखती हूँ और गर्व से फूल उठती हूँ। अपनी हमोजलियों को दिखाकर अपना गौरव और उनकी ईर्ष्या बढ़ाती हूँ। बस।

अभी थोड़े ही दिन हुए हैं, उन्होंने मुझे यह चन्द्रहार दिया है। जो इसे

देखता है, मोहित हो जाता है। मैं भी उसकी बनावट और सजावट पर मुग्ध हूँ। मैंने अपना संदूक खोला और उस गुलदस्ते को निकाल लाई। आह! उसे हाथ में लेते ही मेरी एक-एक नस में बिजली दौड़ गई। हृदय के सारे तार कंपित हो गये। वह सूखी हुई पंखड़ियाँ, जो अब पीले रंग की हो गई थीं, बोलती हुई मालूम होती थीं। उनके सूखे, मुरझाये हुए मुखों के अस्फुटित कंपित, अनुराग में डूबे शब्द साँय-साँय करके निकलते हुए जान पड़ते थे; किंतु वह रत्न-जटित, कांति से दमकता हुआ हार स्वर्ण और पत्थरों का एक समूह था, जिसमें प्राण न थे, संज्ञा न थी, मर्म न था। मैंने फिर गुलदस्ते को चूमा, कंठ से लगाया, आर्द्र नेत्रों से सींचा और फिर सन्दूक में रख आई! आभूषणों से भरा हुआ सन्दूक उस एक स्मृति चिह्न के सामने तुच्छ था। यह क्या रहस्य था?

फिर मुझे उनके एक पुराने पत्र की याद आ गई। उसे उन्होंने कालेज से मेरे पास भेजा था। उसे पढ़कर मेरे हृदय में जो आनन्द हुआ था, जो तूफान उठा था, आँखों से जो नदी बही थी, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ! उस पत्र को मैंने अपनी सोहाग की पिटारी में रख दिया था। इस समय उस पत्र को पढ़ने की प्रबल इच्छा हुई। मैंने पिटारी से वह पत्र निकाला। उसे स्पर्श करते ही मेरे हाथ काँपने लगे, हृदय में धड़कन होने लगी। मैं कितनी देर उसे हाथ में लिये खड़ी रही, कह नहीं सकती। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं फिर वही हो गई हूँ, जो पत्र पाते समय थी। उस पत्र में क्या प्रेम के कवित्तमय उद्‌गार थे? क्या प्रेम की साहित्यिक विवेचना थी? क्या वियोग-व्यथा का करुण क्रंदन था? उसमें तो प्रेम का एक शब्द भी न था। लिखा था—कामिनी, तुमने आठ दिनों से कोई पत्र नहीं लिखा। क्यों नहीं लिखा? अगर तुम मुझे पत्र न लिखोगी, तो मैं होली की छुट्टियों में घर न आऊँगा, इतना समझ लो। आखिर तुम सारे दिन क्या किया करती हो! मेरे उपन्यासों की आलमारी खोल ली है क्या? आपने मेरी आलमारी क्यों खोली? समझती होगी, मैं पत्र न लिखूँगी तो बचा खूब रोयेंगे और हैरान होंगे। यहाँ इसकी परवाह नहीं। नौ बजे रात को सोता हूँ, तो आठ बजे उठता हूँ। कोई चिंता है, तो यही कि फेल न हो जाऊँ। अगर फेल हुआ तो तुम जानोगी।

कितना सरल, भोले-भाले हृदय से निकला हुआ, निष्कपट मानपूर्ण आग्रह

और आतंक से भरा पत्र हुआ था, मानो उसका सारा उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर था। ऐसी धमकी क्या अब भी वह मुझे दे सकते हैं? कभी नहीं। ऐसी धमकी वही दे सकता है, जो न मिल सकने की व्यथा को जानता हो, उसका अनुभव करता हो। पतिदेव अब जानते हैं, इस धमकी का मुझ पर कोई असर न होगा, मैं हसूँगी और आराम से सोऊँगी; क्योंकि मैं जानती हूँ, वह अवश्य आयेंगे और उनके लिए ठिकाना ही कहाँ है? जा ही कहाँ सकते हैं? तबसे उन्होंने मेरे पास कितने पत्र लिखे हैं। दो दिन को भी बाहर जाते हैं, तो जरूर एक पत्र भेजते हैं, और जब दस-पाँच दिन को जाते हैं, तो नित्य प्रति एक पत्र आता है। पत्रों में प्रेम के चुने हुए शब्द, चुने हुए वाक्य, चुने हुए संबोधन भरे होते हैं। मैं उन्हें पढ़ती हूँ और एक ठंडी साँस लेकर रख देती हूँ। हाय! वह हृदय कहाँ गया? प्रेम के इन निर्जीव भावशून्य कृत्रिम शब्दों में वह अभिन्नता कहाँ है, वह रस कहाँ है, वह उन्माद कहाँ है, वह क्रोध कहाँ है? वह झुँझलाहट कहाँ है! उनमें मेरा मन कोई वस्तु खोजता है—कोई अज्ञात, अव्यक्त, अलक्षित वस्तु—पर वह नहीं मिलती। उनमें सुगंध भरी होती है, पत्रों के कागज आर्ट-पेपर को मात करते हैं; पर उनका यह सारा बनाव-सँवार किसी गतयौवना नायिका के बनाव सिंगार के सदृश ही लगता है। कभी-कभी तो मैं पत्रों को खोलती भी नहीं! मैं जानती हूँ, उनमें क्या लिखा होगा।

उन्हीं दिनों की बात है, मैंने तीजे का व्रत किया था। मैंने देवी के सम्मुख सिर झुकाकर वन्दना की थी—देवि, मैं तुमसे केवल एक वरदान माँगती हूँ। हम दोनों प्राणियों में कभी विच्छेद न हो, और मुझे कोई अभिलाषा नहीं, मैं संसार की और कोई वस्तु नहीं चाहती। तब से चार साल हो गये हैं, और हममें एक दिन के लिए भी विच्छेद नहीं हुआ। मैंने तो केवल एक वरदान माँगा था। देवी ने वरदानों का भंडार ही मुझे सौंप दिया। पर आज मुझे देवी के दर्शन हों, तो मैं उनसे कहूँ, तुम अपने सारे वरदान ले लो; मैं इनमें से एक भी नहीं चाहती। मैं फिर वही दिन देखना चाहती हूँ, जब हृदय में प्रेम की अभिलाषा थी। तुमने सब कुछ देकर मुझे उस अतुल सुख से वंचित कर दिया, जो अभिलाषा में था। मैं अबकी देवी से वह दिन दिखाने की प्रार्थना करू, जब मैं किसी निर्जन जलतट और सघन वन में

अपने प्रियतम को ढूँढ़ती फिरूँ। नदी की लहरों से कहूँ, मेरे प्रियतम को तुमने देखा है? वृक्षों से पूछूँ, मेरे प्रियतम कहाँ गये? क्या वह सुख मुझे कभी प्राप्त न होगा? उसी समय मन्द, शीतल पवन चलने लगा। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ी थी। पवन के झोंके से मेरे केश की लटें बिखरने लगीं। मुझे ऐसा आभास हुआ, मानो मेरे प्रियतम वायु के इन उच्छ्वासों में हैं। फिर मैंने आकाश की ओर देखा। चाँद की किरणें चाँदी के जगमगाते तारों की भाँति आँखों से आँख मिचौनी-सी खेल रही थीं। आँख बन्द करते समय सामने आ जातीं; पर आँखें खोलते ही अदृश्य हो जाती थीं। मुझे उस समय ऐसा आभास हुआ कि मेरे प्रियतम उन्हीं जगमगाते तारों पर बैठे आकाश से उतर रहे हैं। उसी समय किसी ने गाया—

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के संसार!
कहाँ होते हो अन्तर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

'लुटा करके सोने-सा प्यार', यह पद मेरे मर्मस्थल को तीर की भाँति छेदता हुआ कहाँ चला गया, नहीं जानती। मेरे रोयें खड़े हो गये। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई मेरे प्रियतम को मेरे हृदय से निकाले लिये जाता है। मैं जोर से चिल्ला पड़ी। उसी समय पतिदेव की नींद टूट गई। वह मेरे पास आकर बोले—क्या अभी तुम चिल्लाई थीं? अरे! तुम तो रो रही हो? क्या बात है? कोई स्वप्न तो नहीं देखा?

मैंने सिसकते हुए कहा—रोऊँ न, तो क्या हँसूँ?

स्वामी ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—क्यों रोने का कोई कारण है, या यों ही रोना चाहती हो?

'क्या मेरे रोने का कारण तुम नहीं जानते?'

'मैं तुम्हारे दिल की बात कैसे जान सकता हूँ?'

'तुमने जानने की चेष्टा कभी की है?'

'मुझे इसका सान-गुमान भी न था कि तुम्हारे रोने का कोई कारण हो सकता है।'

'तुमने तो बहुत कुछ पढ़ा है, क्या तुम भी ऐसी बात कह सकते हो ?

स्वामी ने विस्मय में पड़कर कहा—तुम तो पहेलियाँ बुझवाती हो ?

'क्यों, क्या तुम कभी नहीं रोते ?'

'मैं क्यों रोने लगा।'

'तुम्हें अब कोई अभिलाषा नहीं है ?'

'मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा पूरी हो गई। अब मैं और कुछ नहीं चाहता।'

यह कहते हुए पतिदेव मुस्कराये और मुझे गले से लिपटा लेने को बढ़े। उनकी यह हृदयहीनता इस समय मुझे बहुत बुरी लगी। मैंने उन्हें हाथों से पीछे हटाकर कहा—मैं इस स्वाँग को प्रेम नहीं समझती। जो कभी रो नहीं सकता वह प्रेम नहीं कर सकता। रुदन और प्रेम, दोनों एक ही स्रोत से निकलते हैं।

उसी समय फिर उसी गाने की ध्वनि सुनाई दी—

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के संसार !
कहाँ होते हो अंतर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार !

पतिदेव के मुख की वह मुस्कराहट लुप्त हो गई। मैंने उन्हें एक बार काँपते देखा। ऐसा जान पड़ा, उन्हें रोमांच हो रहा है। सहसा उनका दाहना हाथ उठकर उनकी छाती तक गया। उन्होंने लम्बी साँस ली और उनकी आँखों से आँसू की बूँदें निकलकर गालों पर आ गईं। तुरंत मैंने रोते हुए उनकी छाती पर सिर रख दिया और उस परम सुख का अनुभव किया, जिसके लिए कितने दिनों से मेरा हृदय तड़प रहा था। आज फिर मुझे पतिदेव का हृदय धड़कता हुआ सुनाई दिया, आज उनके स्पर्श में फिर स्फूर्ति का ज्ञान हुआ।

अभी तक उस पद के शब्द मेरे हृदय में गूँज रहे थे—

कहाँ होते हो अन्तर्द्धान
लुटा करके सोने-सा प्यार !

---

*श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता का एक पद।

खुचड़

बाबू कुन्दनलाल कचहरी से लौटे, तो देखा कि उनकी पत्नीजी एक कुञ्जड़िन से कुछ शाक-भाजी ले रही हैं। कुञ्जड़िन पालक टके सेर कहती है, वह डेढ़ पैसे दे रही हैं। इस पर कई मिनट तक विवाद होता रहा। आखिर कुञ्जड़िन डेढ़ ही पैसे पर राजी हो गई। अब तराजू और बाँट का प्रश्न छिड़ा। दोनों पल्ले बराबर न थे। एक में पसंगा था। बाँट भी पूरे न उतरते थे। पड़ोसिन के घर से सेर आया। साग तुल जाने के बाद अब घाटे का प्रश्न उठा। पत्नीजी और मांगती थीं, कुञ्जड़िन कहती थी, अब क्या सेर दो-सेर घाटे में ही ले लोगी बहूजी। खैर, आध घण्टे में यह सौदा पूरा हुआ, और कुञ्जड़िन फिर कभी न आने की धमकी देकर बिदा हुई। कुन्दनलाल : देखते रहे। कुञ्जड़िन के जाने के बाद पत्नीजी लोटे का पानी लाईं तो आपने कहा—आज तो तुमने जरा-सा साग लेने में पूरे आध घण्टे लगा दिये। इतनी देर में तो हजार-पाँच सौ का सौदा हो जाता। जरा-जरा से साग के लिए इतनी ठाँय-ठाँय करने से तुम्हारा सिर भी नहीं दुखता?

रामेश्वरी ने कुछ लज्जित होकर कहा—पैसे मुफ्त में तो नहीं आते!

'यह ठीक है; लेकिन समय का भी कुछ मूल्य है। इतनी देर में तुमने बड़ी मुश्किल से एक धेले की बचत की। कुञ्जड़िन ने भी दिल में कहा होगा कहाँ की गँवारिन है। अब शायद भूलकर भी इधर न आये।'

'तो फिर मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि पैसे की जगह धेले का सौदा लेकर बैठ जाऊँ।'

'इतनी देर में तो तुमने कम-से-कम २० पन्ने पढ़े होते। कल महरी से घंटों सिर मारा। परसों दूधवाले के साथ घंटों शास्त्रार्थ किया। जिन्दगी क्या इन्हीं बातों में खर्च करने को दी गई है?'

कुन्दनलाल प्रायः नित्य ही पत्नी को सदुपदेश देते रहते थे। यह उनका दूसरा विवाह था। रामेश्वरी को आये अभी दो ही तीन महीने हुए थे। अब

तक तो बड़ी ननदजी ऊपर के काम किया करती थीं। रामेश्वरी की उनसे न पटी। उसको मालूम होता था, वह मेरा सर्वस्व ही लुटाये देती हैं। आखिर वह चली गईं। तब से रामेश्वरी ही घर की स्वामिनी है। वह बहुत चाहती है कि पति को प्रसन्न रखे। उनके इशारों पर चलती है; एक बार जो बात सुन लेती है, गाँठ बाँध लेती है। पर रोज ही तो कोई नई बात हो जाती है, और कुंदनलाल को उसे उपदेश देने का अवसर मिल जाता है।

(२)

एक दिन बिल्ली दूध पी गई। रामेश्वरी दूध गर्म करके लाई और स्वामी के सिरहाने रखकर पान बना रही थी कि बिल्ली ने दूध पर अपना ईश्वरदत्त अधिकार सिद्ध कर दिया। रामेश्वरी यह अपहरण स्वीकार न कर सकी। रूल लेकर बिल्ली को इतने जोर से मारा कि वह दो-तीन लुढ़कियाँ खा गई।

कुन्दनलाल लेटे लेटे अखबार पढ़ रहे थे। बोले—और जो मर जाती?

रामेश्वरी ने ढिठाई के साथ कहा—तो मेरा दूध क्यों पी गई?

'उसे मारने से दूध मिल तो नहीं गया?'

'जब कोई नुकसान कर देता है, तो उस पर क्रोध आता ही है।'

'न आना चाहिए। पशु के साथ आदमी भी क्यों पशु हो जाय? आदमी और पशु में इसके सिवा और क्या अन्तर है।'

कुन्दनलाल कई मिनट तक दया, विवेक और शांति की शिक्षा देते रहे यहाँ तक कि बेचारी रामेश्वरी मारे ग्लानि के रो पड़ी।

इसी भाँति एक दिन रामेश्वरी ने एक भिक्षुक को दुत्कार दिया, तो बाबू साहब ने फिर उपदेश देना शुरू किया। बोले—तुमसे न उठा जाता हो, तो लाओ मैं दे आऊँ। गरीब को यों न दुत्कारना चाहिए।

रामेश्वरी ने त्योरियाँ चढ़ाते हुए कहा—दिन भर तो ताँता लगा रहता है। कोई कहाँ तक दौड़े। सारा देश भिखमंगों ही से भर गया है शायद।

कुन्दनलाल ने उपेक्षा के भाव से मुस्कराकर कहा—उसी देश में तो तुम भी बसती हो!

'इतने भिखमंगे आ कहाँ से जाते हैं? ये सब काम क्यों नहीं करते?'

'कोई आदमी इतना नीच नहीं होता, जो काम मिलने पर भीख माँगे।

हाँ, अपंग हों, तो दूसरी बात है। अपंगों का भिक्षा के सिवा और क्या सहारा हो सकता है?'

'सरकार इनके लिए अनाथालय क्यों नहीं खुलवाती?'

'जब स्वराज्य हो जायगा, तब शायद खुल जायँ; अभी तो कोई आशा नहीं है। मगर स्वराज्य भी धर्म ही से आयेगा।'

'लाखों साधु-संन्यासी, पंडे-पुजारी मुफ्त का माल उड़ाते हैं, क्या इतना धर्म काफी नहीं है? अगर इस धर्म से स्वराज्य मिलता, तो कब का मिल चुका होता।'

'इसी धर्म का प्रसाद है कि हिन्दू जाति अभी तक जीवित है, नहीं कब की रसातल पहुँच चुकी होती। रोम, यूनान, ईरान, असीरिया किसी का अब निशान भी नहीं है। यह हिन्दू-जाति है, जो अभी तक समय के क्रूर आघातों का सामना करती चली जाती है।'

'आप समझते होंगे, हिन्दू-जाति जीवित है। मैं तो उसे उसी दिन से मरा हुआ समझती हूँ, जिस दिन से वह अधीन हो गई। जीवन स्वाधीनता का नाम है गुलामी तो मौत है।'

कुन्दनलाल ने युवती को चकित नेत्रों से देखा, ऐसे विद्रोही विचार उसमें कहाँ से आ गये? देखने में तो वह बिलकुल भोली थी। समझे, कहीं सुन सुना लिया होगा। कठोर होकर बोले—क्या व्यर्थ का विवाद करती हो। लजाती तो नहीं, ऊपर से और बक-बक करती हो।

रामेश्वरी यह फटकार पाकर चुप हो गई। एक क्षण वहाँ खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे कमरे से चली गई।

(२)

एक दिन कुन्दनलाल ने कई मित्रों की दावत की। रामेश्वरी सबेरे से रसोई में घुसी तो शाम तक सिर न उठा सकी। उसे यह बेगार बुरी मालूम हो रही थी। अगर दोस्तों की दावत करनी थी तो खाना बनवाने का कोई प्रबन्ध क्यों नहीं किया? सारा बोझ उसी के सिर क्यों डाल दिया। उससे एक बार पूछ तो लिया होता कि दावत करूँ या न करूँ। होता तब भी यही; जो अब हो रहा था। वह दावत के प्रस्ताव का बड़ी खुशी से अनुमोदन

करती, तब वह समझती, दावत मैं कर रही हूँ। अब वह समझ रही थी, मुझसे बेगार ली जा रही है। खैर, भोजन तैयार हुआ, लोगों ने भोजन किया और चले गये; मगर मुंशीजी मुँह फुलाये बैठे हुए थे। रामेश्वरी ने कहा—तुम क्यों नहीं खा लेते, क्या अभी सवेरा है?

बाबू साहब ने आँखें फाड़ कर कहा क्या खालूँ, यह खाना है, या बैलों की सानी!

रामेश्वरी के सिर से पाँव तक आग लग गई। सारा दिन चूल्हे के सामने जली, उसका यह पुरस्कार! बोली—मुझसे जैसा हो सका, बनाया। जो बात अपने बस की नहीं है, उसके लिए क्या करती?

'पूड़ियाँ सब सेवर हैं!'

'होंगी।'

'कचौड़ी में इतना नमक था कि किसी ने छुआ तक नहीं।'

'होगा।'

'हलुआ अच्छी तरह भुना नहीं—कचाइयाँ आ रही थीं।'

'आती होगी।'

'शोरबा इतना पतला था, जैसे चाय।'

'होगा।'

'स्त्री का पहला धर्म यह है कि वह रसोई के काम में चतुर हो।'

फिर उपदेशों का तार बँधा; यहाँ तक कि रामेश्वरी ऊब कर चली गई!

(४)

पाँच छः महीने गुजर गये। एक दिन कुंदनलाल के एक दूर के संबंधी उनसे मिलने आये। रामेश्वरी को ज्यों ही उनकी खबर मिली, जल-पान के लिए मिठाई भेजी; और महरी से कहला भेजा—आज यहीं भोजन कीजिएगा वह महाशय फूले न समाये। बोरिया-बँधना लेकर पहुँच गये और डेरा डाल दिया। एक हफ्ता गुजर गया; मगर आप टलने का नाम भी नहीं लेते। आवभगत में कोई कमी होती, तो शायद उन्हें कुछ चिन्ता होती; पर रामेश्वरी उनके सेवा-सत्कार में जी-जान से लगी हुई थी। फिर वह भला क्यों हटने लगे।

एक दिन कुंदनलाल ने कहा—तुमने यह बुरा रोग पाला।

रामेश्वरी ने चौंककर पूछा—कैसा रोग?

'इन्हें टहला क्यों नहीं देतीं?'

'मेरा क्या बिगाड़ रहे हैं?'

'कम-से कम १) की रोज चपत दे रहे है। और अगर यही खातिरदारी रही, तो शायद जीते-जी टलेंगे भी नहीं।'

'मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि कोई दो-चार दिन के लिए आ जाय, तो उसके सिर हो जाऊँ। जब तक उनकी इच्छा हो रहें।'

ऐसे मुफ्तखोरों का सत्कार करना पाप है। अगर तुमने इसे इतना सिर न चढ़ाया होता, तो अब तक लंबा हुआ होता। जब दिन मे तीन बार भोजन और पचासों बार पान मिलता है; तो उसे कुत्ते ने काटा है, जो अपने घर जाय!'

'रोटी का चोर बनना तो अच्छा नहीं!'

'कुपात्र और सुपात्र का विचार तो कर लेना चाहिए। ऐसे आलसियों को खिलाना पिलाना वास्तव में उन्हें जहर देना है। जहर से तो केवल प्राण निकल जाते हैं, यह खातिरदारी तो आत्मा का सर्वनाश कर देती है। अगर यह हजरत महीने-भर भी यहाँ रह गये, तो फिर जिंदगी-भर के लिए बेकार हो जायँगे। फिर इनसे कुछ न होगा, और इसका सारा दोष तुम्हारे सिर होगा।

तर्क का तांता बँध गया। प्रमाणों की झड़ी लग गई। रामेश्वरी खिसिया-कर चली गई। कुन्दनलाल उससे कभी संतुष्ट भी हो सकते हैं, उनके उपदेशों की वर्षा कभी बन्द भी हो सकती है; यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठने लगा।

(५)

एक दिन देहात से भैंस का ताजा घी आया। इधर महीनों से बाजार का घी खाते-खाते नाक में दम हो रहा था। रामेश्वरी ने उसे खौलाया, उसमें लौंग डाली और कड़ाह से निकालकर एक मटकी में रख दिया। उसकी सोंधी-सोंधी सुगन्ध से सारा घर महक रहा था। महरी चौका-बर्तन करने आई तो उसने चाहा कि मटकी चौके से उठाकर छींके या आले पर रख दे। पर संयोग की

बात, उसने मटकी उठाई, तो वह उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी। सारा घी बह गया। धमाका सुनकर रामेश्वरी दौड़ी, तो महरी खड़ी रो रही थी, और मटकी चूर-चूर हो गई गई थी। तड़पकर बोली—मटकी कैसे टूट गई? मैं तेरी तलब से काट लूँगी। राम-राम सारा घी मिट्टी में मिला दिया! तेरी आँखें फूट गई थीं क्या? या हाथों में दम नहीं था? इतनी दूर से मँगाया, इतनी मिहनत से गर्म किया; मगर एक बूँद भी गले के नीचे न गया। अब खड़ी बिसूर क्या रही है, जा अपना काम कर।

महरी ने आँसू पोंछकर कहा—बहूजी, अब तो चूक हो गई, चाहे तलब काटो, चाहे जान मारो। मैंने तो सोचा—उठाकर आले पर रख दूँ, तो चौका लगाऊँ। क्या जानती थी कि भाग्य में यह लिखा है। न-जाने किस अभागे का मुँह देखकर उठी थी।

रामेश्वरी—मैं कुछ नहीं जानती, सब रुपये तेरी तलब ये वसूल कर लूँगी। एक रुपया जुरमाना न किया तो कहना।

महरी—मर जाऊँगी सरकार, कहीं एक पैसे का ठिकाना नहीं है।

रामेश्वरी—मर जा या जी जा, मैं कुछ नहीं जानती।

महरी ने एक मिनट तक कुछ सोचा और बोली—अच्छा काट लीजिएगा सरकार। आपसे सबर नहीं होता; मैं सबर कर लूँगी। यही न होगा, भूखों मर जाऊँगी। जीकर ही कौन-सा सुख भोग रही हूँ कि मरने को डरूँ। समझ लूँगी, एक महीना कोई काम नहीं किया। आदमी से बड़ा-बड़ा नुकसान हो जाता है, यह तो घी ही था।

रामेश्वरी को एक ही क्षण में महरी पर दया आ गई! बोली—तू भूखों मर जायगी, तो मेरा काम कौन करेगा।

महरी—काम कराना होगा, खिलाइएगा, न काम कराना होगा, भूखों मारिएगा। आज से आकर आप ही के द्वार पर सोया करूँगी।

रामेश्वरी—सच कहती हूँ, आज तूने बड़ा नुकसान कर डाला।

महरी—मैं तो आप ही पछता रही हूँ सरकार।

रामेश्वरी—जा गोबर से चौका लीप दे, मटकी के टुकड़े दूर फेंक दे। और बाजार से घी लेती आ।

महरी ने खुश होकर चौका गोबर से लीपा, और मटकी के टुकड़े बटोर रही थी कि कुन्दनलाल आ गये, और हाँड़ी टूटी देखकर बोले—यह हाँड़ी कैसे टूट गई।

रामेश्वरी ने कहा—महरी उठाकर ऊपर रख रही थी, उसके हाथ से छूट पड़ी।

कुन्दनलाल ने चिल्लाकर कहा—तो सब घी बह गया?

'और क्या कुछ बच भी रहा!'

'तुमने महरी से कुछ कहा नहीं!'

'क्या कहती! उसने जान-बूझकर तो गिरा नहीं दिया!'

'यह नुकसान कौन उठायेगा?'

'हम उठायेंगे, और कौन उठायेगा। अगर मेरे ही हाथ से छूट पड़ती तो क्या हाथ काट लेती।'

कुन्दनलाल ने ओठ चबाकर कहा—तुम्हारी कोई बात मेरी समझ में नहीं आती। जिसने नुकसान किया है, उससे वसूल होना चाहिए। यही ईश्वरीय नियम है। आँख की जगह आँख, प्राण के बदले प्राण, यह ईसामसीह-जैसे दयालु पुरुष का कथन है। अगर दण्ड का विधान संसार से उठ जाय, तो यहाँ रहे कौन? सारी पृथ्वी रक्त से लाल हो जाय, हत्यारे दिनदहाड़े लोगों का गला काटने लगें। दण्ड ही से समाज की मर्यादा कायम है। जिस दिन दण्ड न रहेगा, संसार न रहेगा। मनु आदि स्मृतिकार बेवकूफ नहीं थे कि दण्ड-न्याय को इतना महत्त्व दे गये। और किसी विचार से नहीं तो मर्यादा की रक्षा के लिए दण्ड अवश्य देना चाहिए। ये रुपये महरी को देने पड़ेंगे। उसकी मजदूरी काटनी पड़ेगी। नहीं तो आज उसने घी का घड़ा लुढ़का दिया है, कल कोई और नुकसान कर देगी।

रामेश्वरी ने डरते-डरते कहा—मैंने तो उसे क्षमा कर दिया है।

कुन्दनलाल ने आँखें निकालकर कहा—लेकिन मैं नहीं क्षमा कर सकता!

महरी द्वार पर खड़ी यह विवाद सुन रही थी। जब उसने देखा कि कुन्दनलाल का क्रोध बढ़ता जाता है, और मेरे कारण रामेश्वरी को घुड़कियाँ सुननी पड़ रही हैं, तो वह सामने जाकर बोली—बाबूजी, अब तो कसूर हो

गया। आप सब रुपये मेरी तलब से काट लीजिए। रुपये नहीं हैं, नहीं तो अभी लाकर आपके हाथ पर रख देती।

रामेश्वरी ने उसे घुड़ककर कहा—जा भाग यहाँ से, तू क्या करने आई? बड़ी रुपयेवाली बनी है!

कुन्दनलाल ने पत्नी की ओर कठोर नेत्रों से देखकर कहा—तुम क्यों उसकी वकालत कर रही हो। यह मोटी-सी बात है, और इसे एक बच्चा भी समझता है कि जो नुकसान करता है; उसे उसका दन्ड भोगना पड़ता है। मैं क्यों पाँच रुपये का नुकसान उठाऊँ? वजह? क्यों नहीं इसने मटके को सँभाल-कर पकड़ा, क्यों इतनी जल्दीबाजी की, क्यों तुम्हें बुलाकर मदद नहीं ली? यह साफ इसकी लापरवाही है।

यह कहते हुए कुन्दनलाल बाहर चले गये।

(६)

रामेश्वरी इस अपमान से आहत हो उठी। डाँटना ही था, तो कमरे में बुलाकर एकान्त में डाँटते। महरी के सामने उसे रूई की तरह तूम डाला। उसकी समझ ही में न आता था, यह किस स्वभाव के आदमी हैं। आज एक बात कहते हैं, कल उसी को काटते हैं, जैसे कोई झक्की आदमी हों। कहाँ तो दया और उदारता के अवतार बनते थे, कहाँ आज पाँच रुपये के लिए प्राण देने लगे। बड़ा मजा आ जाय, जो कल महरी बैठ रहे। कभी तो इनके मुख से प्रसन्नता का एक शब्द निकला होता! अब मुझे भी अपना स्वभाव बदलना पड़ेगा! यह सब मेरे सीधे होने का फल है। ज्यों-ज्यों मैं तरह देती हूँ, आप जामे से बाहर होते हैं। इसका इलाज यही है कि एक कहें, तो दो सुनाऊँ। आखिर कब तक और कहाँ तक सहूँ। कोई हद भी है! जब देखो डाँट रहे हैं। जिसके मिजाज का कुछ पता ही न हो, उसे कौन खुश रख सकता है। उस दिन जरा-सा बिल्ली को मार दिया, तो आप दया का उपदेश करने लगे। आज वह दया कहाँ गई। इनको ठीक करने का उपाय यही है कि समझ लूँ, कोई कुत्ता भूँक रहा है। नहीं, ऐसा क्यों करूँ। अपने मन से कोई काम ही न करूँ; जो यह कहें, वही करूँ; न जौ-भर कम, न जौ-भर ज्यादा। जब इन्हें

मेरा कोई काम पसन्द ही नहीं आता, मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो बरबस अपनी टाँग अड़ाऊँ। बस, यही ठीक है।

वह रात भर इसी उधेड़-बुन में पड़ी रही। सबेरे कुन्दनलाल नदी स्नान करने गये। लौटे, तो नौ बज गये थे। घर में जाकर देखा, तो चौका-बर्तन न हुआ था। प्राण सूख गये। पूछा—क्या महरी नहीं आयी?

रामे०—नहीं।

कुन्दन०—तो फिर?

रामे०—जो आपकी आज्ञा।

कुन्दन०—यह तो बड़ी मुश्किल है।

रामे०—हाँ, है तो।

कुन्दन०—पड़ोस की महरी को क्यों न बुला लिया?

रामे०—किसके हुक्म से बुलाती अब हुक्म हुआ है, बुलाये लेती हूँ।

कुन्दन०—अब बुलाओगी, तो खाना कब बनेगा? नौ बज गये हैं। इतना तो तुम्हें अपनी अक्ल से काम लेना चाहिए था कि महरी नहीं आयी तो पड़ोसवाली को बुला लें।

रामे०—अगर उस वक्त सरकार पूछते, क्यों दूसरी महरी बुलाई, तो क्या जवाब देती? अपनी अक्ल से काम लेना छोड़ दिया। अब तुम्हारी ही अक्ल से काम लूँगी। मैं यह नहीं चाहती कि कोई मुझे आँखें दिखाये।

कुन्दन०—अच्छा, तो इस वक्त क्या होता है?

रामे०—जो हुजूर का हुक्म हो।

कुन्दन—तुम मुझे बनाती हो?

रामे०—मेरी इतनी मजाल कि आपको बनाऊँ! मैं तो हजूर की लौंडी हूँ। जो कहिए, वह करूँ।

कुन्दन०—मैं तो जाता हूँ, तुम्हारा जो जी चाहे करो।

रामे०—जाइए, मेरा जी कुछ न चाहेगा और न कुछ करूँगी।

कुन्दन०—आखिर तुम क्या खाओगी?

रामे०—जो आप दे देंगे, वही खा लूँगी।

कुन्दन०—लाओ, बाजार से पूड़ियाँ ला दूँ।

रामेश्वरी रुपया निकाल लाई। कुन्दनलाल पूड़ियाँ लाये। इस वक्त का काम चला। दफ्तर गये। लौटे, तो देर हो गयी थी। आते-ही-आते पूछा—महरी आयी ?

रामे०—नहीं।

कुन्दन०—मैंने तो कहा था, पड़ोसवाली को बुला लेना।

रामे०—बुलाया था। यह पांच रुपये माँगती है।

कुन्दन०—तो एक ही रुपये का तो फर्क था, क्यों नहीं रख लिया ?

रामे—मुझे यह हुक्म न मिला था। मुझसे जवाब-तलब होता कि एक रुपया ज्यादा क्यों दे दिया, खर्च की किफायत पर उपदेश दिया जाने लगता, तो क्या करती।

कुन्दन०—तुम बिलकुल मूर्ख हो।

रामे०—बिलकुल।

कुन्दन०—तो इस वक्त भी भोजन न बनेगा ?

रामे०—मजबूरी है।

कुन्दनलाल सिर थामकर चारपाई पर बैठ गये। यह तो नयी विपत्ति गले पड़ी। पूड़ियाँ उन्हें रुचती न थीं। जी में बहुत झुँझलाये। रामेश्वरी को दो-चार उल्टी-सीधी सुनायी; लेकिन उसने मानो सुना ही नहीं। कुछ बस न चला, तो महरी की तलाश में निकले। जिसके यहाँ गये, मालूम हुआ, महरी काम करने चली गयी। आखिर एक कहार मिला। उसे बुला लाये। कहार ने दो आने लिये और बर्तन धोकर चलता बना।

रामेश्वरी ने कहा—भोजन क्या बनेगा :

कुन्दन०—रोटी तरकारी बना लो, या इसमें भी कुछ आपत्ति है ?

रामे०—तरकारी घर में नहीं है।

कुन्दन०—दिन भर बैठी रही, तरकारी भी न लेती बनी ? अब इतनी रात गये तरकारी कहाँ मिलेगी ?

रामे०—मुझे तरकारी ले रखने का हुक्म न मिला था। मैं पैसा-धेला ज्यादा दे देती तो ?

कुन्दनलाल ने विवशता से दाँत पीसकर कहा—आखिर तुम क्या चाहती हो?

रामेश्वरी ने शांत भाव से जवाब दिया—कुछ नहीं, केवल अपमान नहीं चाहती।

कुन्दन०—तुम्हारा अपमान कौन करता?

रामे—आप करते हैं।

कुन्दन०—तो मैं घर के मामले में कुछ न बोलूँ?

रामे०—आप न बोलेंगे; तो कौन बोलेगा। मैं तो केवल हुक्म की ताबेदार हूँ।

रात रोटी-दाल पर कटी। दोनों आदमी लेटे। रामेश्वरी को तो तुरन्त नींद आ गयी। कुन्दनलाल बड़ी देर तक करवटें बदलते रहे। अगर रामेश्वरी इस तरह असहयोग करेगी, तो एक दिन भी काम न चलेगा। आज ही बड़ी मुश्किल से भोजन मिला। इसकी समझ ही उलटी है। मैं तो समझाता हूँ, यह समझती है, डाट रहा हूँ। मुझसे बिना बोले रहा भी तो नहीं जाता। लेकिन अगर बोलने का यह नतीजा है, तो फिर बोलना फिजूल है। नुकसान होगा, बला से; यह तो न होगा कि दफ्तर से आकर बाजार भागूँ। महरी से रुपये वसूल करने की बात इसे बुरी लगी, और थी भी बेजा। रुपये तो न मिले, उलटे महरी ने काम छोड़ दिया।

रामेश्वरी को जगाकर बोले—कितना सोती हो तुम?

रामे०—मजूरों को अच्छी नींद आती है।

कुन्दन०—चिढ़ाओ मत, महरी से रुपये न वसूल करना।

रामे०—वह तो लिये खड़ी है शायद।

कुन्दन०—उसे मालूम हो जायगा, तो काम करने आयेगी।

रामे०—अच्छी बात है कहला भेजूँगी।

कुन्दन०—आज से मैं कान पकड़ता हूँ, तुम्हारे बीच में न बोलूँगा।

रामे०—और जो मैं घर लुटा दूँ तो?

कुन्दन०—लुटा दो, चाहे मिटा दो, मगर रूठो मत। अगर तुम किसी बात में मेरी सलाह पूछोगी, तो दे दूँगा; वरना मुँह न खोलूँगा।

रामे०—मैं अपमान नहीं सह सकती ।

कुन्दन०—इस भूल को क्षमा करो ।

रामे०—सच्चे दिल से कहते हो न ?

कुन्दन०—सच्चे दिल से ।

आगा-पीछा

रूप और यौवन के चञ्चल विलास के बाद कोकिला अब उस कलुषित जीवन के चिह्न को आँसुओं से धो रही थी। विगत जीवन की याद आते ही उसका दिल बेचैन हो जाता, और वह विषाद और निराशा से विकल होकर पुकार उठाती—हाय ! मैंने संसार में जन्म ही क्यों लिया ? उसने दान और व्रत से उन कालिमाओं को धोने का प्रयत्न किया और जीवन के बसंत की सारी विभूति इस निष्फल प्रयास में लुटा दी। पर यह जागृति क्या किसी महात्मा का वरदान या किसी अनुष्ठान का फल था ? नहीं, यह उस नवजात शिशु के प्रथम दर्शन का प्रसाद था, जिनके जन्म ने आज पन्द्रह साल से उसकी सूनी गोद को प्रदीप्त कर दिया था। शिशु का मुख देखते ही उसके नीले होठों पर एक क्षीण, करुण, उदास मुस्कराहट झलक गई—पर केवल एक क्षण के लिए। एक ही क्षण के बाद वह मुस्कराहट एक लम्बी साँस में विलीन हो गयी। उस अशक्त, क्षीण, कोमल रुदन ने कोकिला के जीवन का रुख फेर दिया। वात्सल्य की वह ज्योति उसके लिए जीवन सन्देश और मूक उपदेश थी।

कोकिला ने उस नवजात बालिका का नाम रखा—श्रद्धा। उसी के जन्म ने तो उसमें श्रद्धा उत्पन्न की थी। वह श्रद्धा को अपनी लड़की नहीं किसी देवी का अवतार समझती थी। उसकी सहेलियाँ उसे बधाई देने आतीं; पर कोकिला बालिका को उनकी नजरों से छिपाती। उसे यह भी मंजूर न था कि उनकी पापमयी दृष्टि भी उस पर पड़े। श्रद्धा ही अब उसकी विभूति, उसकी आत्मा, उसका जीवन-दीपक थी। वह कभी-कभी उसे गोद में लेकर साध से छलकती हुई आँखों से देखती और सोचती—क्या यह पावन ज्योति भी वासना के प्रचंड आघातों का शिकार होगी ? मेरे प्रयत्न क्या निष्फल ही जायँगे ? आह ! क्या कोई ऐसी औषधि नहीं है, जो जन्म के संस्कारों को मिटा दे ? भगवान से वह सदैव प्रार्थना करती कि मेरी श्रद्धा किसी काँटों में न उलझे। वह वचन और कर्म से, विचार और व्यवहार से उसके सम्मुख नारी-जीवन का

ऊँचा आदर्श रखेगी। श्रद्धा इतनी सरल, इतनी प्रगल्भ, इतनी चतुर थी कि कभी-कभी कोकिला वात्सल्य से गद्गद् होकर उसके तलवों को अपने मस्तक से रगड़ती और पश्चात्ताप तथा हर्ष के आँसू बहाती।

(२)

सोलह वर्ष बीत गये। पहले की भोली-भाली श्रद्धा अब एक सगर्व, शांत, लज्जाशील नवयौवना थी, जिसे देखकर आँखें तृप्त हो जाती थीं। विद्या की उपासिका थी, पर सारे संसार से विमुख। जिनके साथ वह पढ़ती थी, वे उससे बात भी न करना चाहती थीं। मातृ स्नेह के वायुमंडल में पलकर वह घोर अभिमानिनी हो गई थी। वात्सल्य के वायुमंडल, सखी-सहेलियों के परित्याग, रात-दिन की घोर पढ़ाई और पुस्तकों के एकांतवास से अगर श्रद्धा को अहं-भाव हो आया, तो आश्चर्य की कौन-सी बात है। उसे किसी से भी बोलने का अधिकार न था। विद्यालय में भले घर की लड़कियाँ उसके साहवास में अपना अपमान समझती थीं। रास्ते में लोग उँगली उठाकर कहते—'कोकिला रंडी की लड़की है।' उसका सिर झुक जाता, कपोल क्षणभर के लिए लाल होकर दूसरे ही क्षण फिर चूने की तरह सफेद हो जाते।

श्रद्धा को एकांत से प्रेम था। विवाह को ईश्वरीय कोप समझती थी। यदि कोकिला ने कभी उसकी बात चला दी, तो उसके माथे पर बल पड़ जाते, चमकते हुए लाल चेहरे पर कालिमा छा जाती, आँखों के झर-झर आँसू बहने लगते; कोकिला चुप हो जाती। दोनों के जीवन-आदर्शों में विरोध था। कोकिला समाज के देवता की पुजारिन, श्रद्धा को समाज से, ईश्वर से और मनुष्य से घृणा। यदि संसार में उसे कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह थीं उसकी पुस्तकें। श्रद्धा उन्हीं विद्वानों के संसर्ग में अपना जीवन व्यतीत करती, जहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं, जाति-पाँति का स्थान नहीं—सबके अधिकार समान हैं। श्रद्धा की पूर्ण प्रकृति का परिचय महाकवि रहीम के एक दोहे के पद से मिल जाता है।

'प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देय बुलाय।'

अगर कोई सप्रेम बुलाकर उसे विष दे देता, तो वह नतजानु हो अपने

मस्तक से लगा लेती—किन्तु अनादर से दिये हुए अमृत की भी उसकी नजरों में कोई हकीकत न थी।

एक दिन कोकिला ने आँखों में आँसू भरकर श्रद्धा से कहा—क्यों मन्नी, सच बताना, तुझे यह लज्जा तो लगती ही होगी कि मैं क्यों इसकी बेटी हुई। यदि तू किसी ऊँचे कुल में पैदा हुई होती, तो क्या तब भी तेरे दिल में ऐसे विचार आते? तू मन-ही-मन मुझे जरूर कोसती होगी।

श्रद्धा माँ का मुँह देखने लगी। माता से इतनी श्रद्धा कभी उसके दिल में पैदा नहीं हुई थी। काँपते हुए स्वर में बोली—अम्माँजी, आप मुझसे ऐसा प्रश्न क्यों करती हैं? क्या मैंने कभी आपका अपमान किया है? कोकिला ने गद्गद होकर कहा—नहीं बेटी, उस परम दयालु भगवान् से यही प्रार्थना है कि तुम्हारी जैसी सुशील लड़की सबको दे। पर कभी-कभी यह विचार आता है कि तू अवश्य ही मेरी बेटी होकर पछताती होगी।

श्रद्धा ने धीर कंठ से कहा—अम्माँ, आपकी यह भावना निर्मूल है। मैं आपसे सच कहती हूँ, मुझे जितनी श्रद्धा और भक्ति आपके प्रति है, उतनी किसी के प्रति नहीं। आपकी बेटी कहलाना मेरे लिए लज्जा की बात नहीं, गौरव की बात है। मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। आप जिस वायुमंडल में पलीं, उसका असर तो पड़ना ही था; किन्तु पाप के दलदल में फँसकर फिर निकल आना अवश्य गौरव की बात है। बहाव की ओर से नाव खे ले जाना तो बहुत सरल है; किन्तु जो नाविक बहाव के प्रतिकूल खे ले जाता है, वही सच्चा नाविक है। कोकिला ने मुस्कराते हुए पूछा—तो फिर विवाह के नाम से क्यों चिढ़ती है? श्रद्धा ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—बिना विवाह के क्या जीवन व्यतीत नहीं हो सकता? मैं कुमारी ही रहकर जीवन बिताना चाहती हूँ। विद्यालय से निकलकर कालेज में प्रवेश करूँगी, और दो-तीन वर्ष बाद हम दोनों स्वतन्त्र रूप से रह सकती हैं। डाक्टर बन सकती हूँ; वकालत कर सकती हूँ; औरतों के लिए अब सब मार्ग खुल गये हैं।

कोकिला ने डरते-डरते पूछा—क्यों, क्या तुम्हारे हृदय में कोई दूसरी इच्छा नहीं होती? किसी से प्रेम करने की अभिलाषा तेरे मन में नहीं पैदा होती?

श्रद्धा ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—अम्माँ जी! प्रेम-विहीन संसार में कौन

है ? प्रेम मानव-जीवन का श्रेष्ठ अंग है। यदि ईश्वर की ईश्वरता कहीं देखने में आती है, तो वह केवल प्रेम में। जब कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा, जो मुझे वरने में अपनी मानहानि न समझेगा, तो मैं तन-मन-धन से उसकी पूजा करूँगी, पर किसके सामने हाथ पसारकर प्रेम की भिक्षा माँगूँ ? यदि किसी ने सुधार के क्षणिक आवेश में विवाह कर भी लिया, तो मैं प्रसन्न न हो सकूँगी। इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं विवाह का विचार ही छोड़ दूँ।

(३)

इन्हीं दिनों महिला मंडल का एक उत्सव हुआ। कालेज के रसिक विद्यार्थी काफी संख्या में सम्मिलित हुए। हाल में तिल-भर भी जगह खाली न थी। श्रद्धा भी आकर स्त्रियों की सबसे अंत की पंक्ति में खड़ी हो गयी: उसे यह सब स्वाँग मालूम होता था: आज प्रथम ही बार वह ऐसी सभा में सम्मिलित हुई थी।

सभा की कार्रवाई शुरू हुई। प्रधान महोदय की वक्तृता के पश्चात् प्रस्ताव पेश होने लगे और उनके समर्थन के लिए वक्तृताएँ होने लगीं; किंतु महिलाएँ या तो अपनी वक्तृताएँ भूल गयीं, या उनपर सभा का रोब ऐसा छा गया कि उनकी वक्तृता-शक्ति लोप हो गयी। वे कुछ टूटे-फूटे जुमले बोलकर बैठने लगीं। सभा का रंग बिगड़ने लगा। कई लेडियाँ बड़ी शान से प्लेटफार्म पर आयीं; किन्तु दो-तीन शब्दों से अधिक न बोल सकीं। नवयुवकों को मजाक उड़ाने का अवसर मिला। कहकहे पड़ने लगे, तालियाँ बजने लगीं। श्रद्धा उनकी यह दुर्जनता देखकर तिलमिला उठी, उसका अंग-प्रत्यंग फड़कने लगा। प्लेटफार्म जाकर वह कुछ इस शान से बोली कि सभा पर आतंक छा गया। कोलाहल शांत हो गया। लोग टकटकी बाँधकर उसे देखने लगे। श्रद्धा स्वर्गीय बाला की भाँति धारावाहिक रूप में बोल रही थी। उसके प्रत्येक शब्द से नवीनता, सजीवता और दृढ़ता प्रतीत होती थी। उसके नवयौवन की सुरभि भी चारों ओर फैलकर सभा मंडल को अवाक् कर रही थी।

सभा समाप्त हुई। लोग टीका-टिप्पणी करने लगे।

एक ने पूछा—यह स्त्री कौन थी भई !

दूसरे ने उत्तर दिया—उसी कोकिला रंडी की लड़की।

तीसरे व्यक्ति ने कहा—तभी यह आवाज और सफाई है। तभी तो जादू है। जादू है जनाब—मुजस्सिम जादू! क्यों न हो, माँ भी तो सितम ढाती थी। जब से उसने अपना पेशा छोड़ा शहर बे-जान हो गया। अब मालूम होता है कि यह अपनी माँ की जगह लेगी।

इसपर एक खद्दरधारी काला नवयुवक बोला—क्या खूब कदरदानी फरमाई है जनाब ने, वाह!

उसी व्यक्ति ने उत्तर दिया—आपको बुरा क्यों लगा? क्या कुछ साँठ-गाँठ तो नहीं है।

काले नवयुवक ने कुछ तेज होकर कहा—आपको ऐसी बातें मुँह से निकालते लज्जा भी नहीं आती!

दूसरे व्यक्ति ने कहा—लज्जा की कौन बात है जनाब? वेश्या की लड़की अगर वेश्या हो, तो आश्चर्य की क्या बात है?

नवयुवक ने घृणापूर्ण स्वर में कहा—ठीक होगा, आप-जैसे बुद्धिमान व्यक्तियों की समझ में! जिस रमणी के मुख से ऐसे विचार निकल सकते हैं, वह देवी है, रूप की बेचनेवाली नहीं।

श्रद्धा उसी समय सभा से जा रही थी। यह अंतिम शब्द उसके कानों में पड़ गये। वह विस्मित और पुलकित होकर वहीं ठिठक गयी। काले नवयुवक की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से निहारा और फिर बड़ी तेजी से आगे बढ़ गयी; लेकिन रास्ते-भर उसके कानों में उन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि गूँजती रही।

अब तक श्रद्धा की प्रशंसा करनेवाली, उसे उत्साहित करनेवाली केवल उसी की मा कोकिला थी, और चारों ओर वही उपेक्षा थी; वही तिरस्कार! आज एक अपरिचित, काले किन्तु गौर हृदयवाले खद्दरधारी व्यक्ति के मुख नवयुवक का चित्र बराबर उसकी आँखों के सामने नाचा करता। मन में प्रश्न उठता—वह कौन है? क्या करता है? क्या फिर कभी उसके दर्शन होंगे?

कालेज जाते समय श्रद्धा उस नवयुवक को खोई हुई आखों से खोजती। घर पर रोज चिक की आड़ से, रास्ते के आते-जाते लोगों को देखती; लेकिन वह नवयुवक नजर न आता।

कुछ दिनों बाद महिला-मंडल की दूसरी सभा का विज्ञापन निकाला। अभी

सभा होने को चार दिन बाकी थे। यह चारों दिन श्रद्धा ने अपना भाषण तैयार करने में बिताये। एक-एक शब्द की खोज में घंटों सिर मारती। एक-एक वाक्य को बार-बार पढ़ती। बड़े-बड़े नेताओं की स्पीचें पढ़ती और उसी तरह लिखने की कोशिश करती। जब सारी स्पीच पूरी हो गयी, तो श्रद्धा अपने कमरे में जाकर कुरसियों और मेजों को संबोधित करके जोर-जोर पढ़ने लगी। भाषण-कला के सभी लक्षण जमा हो गये थे। उपसंहार तो इतना सुन्दर था कि उसे अपने ही मुख से सुनकर वह मुग्ध हो गयी। इसमें कितना संगीत था, कितना आकर्षण, कितनी क्रांति!

सभा का दिन आ पहुँचा। श्रद्धा मन-ही मन भयभीत होती हुई सभा-मंडप में घुसी। हाल भरा हुआ था और पहले दिन से भी अधिक भीड़ थी। श्रद्धा को देखते ही जनता ने तालियाँ पीटकर उसका स्वागत किया। कोलाहल होने लगा, और सभी एक स्वर से चिल्ला उठे—आप अपनी वक्तृता शुरू करें।

श्रद्धा ने मंच पर आकर एक उड़ती हुई निगाह से जनता की ओर देखा। वह काला नवयुवक जगह न मिलने के कारण अन्तिम पंक्ति में खड़ा हुआ था। श्रद्धा के दिल में गुदगुदी-सी होने लगी। उसने काँपते हुए स्वर में अपनी वक्तृता शुरू की। उसकी नजरों में सारा हाल पुतलियों से भरा हुआ था; अगर कोई जीवित मनुष्य था, तो वही सबसे पीछे खड़ा हुआ काला नवयुवक। उसका मुख उसी की ओर था। वह उसी से अपने भाषण की दाद माँग रही थी। हीरा परखने की आशा जौहरी से ही की जाती है।

आध घंटे तक श्रद्धा के मुख से फूलों की वर्षा होती रही। लोगों को बहुत कम ऐसी वक्तृता सुनाने को मिली थी।

(४)

श्रद्धा जब सभा समाप्त होने पर घर चली तो देखा, वही काला नवयुवक उसके पीछे-पीछे तेजी से चला आ रहा है। श्रद्धा को यह मालूम था कि लोगों ने उसका भाषण बहुत पसन्द किया है; लेकिन इस नवयुवक की राय सुनने का अवसर उसे नहीं मिला था। उसने अपनी चाल धीमी कर दी। दूसरे ही क्षण वह नवयुवक उसके पास पहुँच गया। दोनों कई कदम चुपचाप चलते रहे।

अंत में नवयुवक ने झिझकते हुए कहा—आज तो आपने कमाल कर दिया !

श्रद्धा ने प्रफुल्लता के स्रोत को दबाते हुए कहा—धन्यवाद ! वह आपकी कृपा है।

नवयुवक ने कहा—मैं किस लायक हूँ। मैं ही नहीं, सारी सभा सिर धुन रही थी।

श्रद्धा—क्या आपका शुभ-स्थान यहीं है ?

नवयुवक—जी हाँ, यहाँ मैं एम० ए० में पढ़ रहा हूँ। यह ऊँच-नीच का भूत न-जाने कब तक हमारे सिर पर सवार रहेगा। अभाग्य से मैं भी उन लोगों में हूँ, जिन्हें संसार नीच समझता है। मैं जाति का चमार हूँ। मेरे पिता स्कूलों के इंस्पेक्टर के यहाँ अर्दली थे। उनकी सिफारिश से स्कूल में भरती हो गया। तब से भाग्य से लड़ता-भिड़ता चला आ रहा हूँ। पहले तो स्कूल के मास्टर मुझे छूते ही न थे। वह हालत तो अब नहीं रही। किन्तु लड़के अब भी मुझसे खिंचे रहते हैं।

श्रद्धा—मैं तो कुलीनता को जन्म से नहीं, धर्म से मानती हूँ।

नवयुवक—यह तो आपकी वक्तृता ही से सिद्ध हो गया है। और इसी से आपसे बातें करने का साहस भी हुआ, नहीं तो कहाँ आप, और कहाँ मैं !

श्रद्धा ने अपनी आँखें नीची करके कहा—शायद आपको मेरा हाल मालूम नहीं।

नवयुवक—बहुत अच्छी तरह से मालूम है। यदि आप अपनी माताजी के दर्शन करवा सकें, तो आपका बड़ा आभारी होऊँगा।

'वह आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्न होंगी ! शुभ नाम ?'

'मुझे भगतराम कहते हैं।'

यह परिचय धीरे-धीरे स्थिर और दृढ़ होता गया; मैत्री प्रगाढ़ होती गयी। श्रद्धा की नजरों में भगतराम एक देवता थे, और भगतराम के समक्ष श्रद्धा मानवी रूप में देवी थी।

(५)

एक साल बीत गया। भगतराम रोज देवी के दर्शनों को जाता। दोनों घंटों बैठे बातें किया करते। श्रद्धा कुछ भाषण करती, तो भगतराम सब काम

छोड़कर सुनने जाता। उनके मनसूबे एक थे, जीवन के आदर्श एक, रुचि एक, विचार एक। भगतराम अब प्रेम और उसके रहस्यों की मार्मिक विवेचना करता। उसकी बातों में 'रस' और 'अलंकार' का कभी इतना समावेश न हुआ था। भावों को इंगित करने में उसे कमाल हो गया था। लेकिन ठीक उन अवसरों पर, जब श्रद्धा के हृदय में गुदगुदी होने लगती, उसके कपोल उल्लास से रंजित हो जाते। भगतराम विषय पलट देता और जल्दी ही कोई बहाना बनाकर वहाँ से खिसक जाता। उसके चले जाने पर श्रद्धा हसरत के आँसू बहाती और सोचती—क्या इन्हें दिल से मेरा प्रेम नहीं?

एक दिन कोकिला ने भगतराम को एकान्त में बुलाकर कहा—बेटा! अब तो मुन्नी से तुम्हारा विवाह हो जाय, तो अच्छा। जीवन का क्या भरोसा। कहीं मर जाऊँ, तो यह साध मन ही में रह जाय।

भगतराम ने सिर हिलाकर कहा—अम्माँ! जरा इस परीक्षा में पास हो जाने दो। जीविका का प्रश्न हल हो जाने के बाद ही विवाह शोभा देता है।

'यह सब तुम्हारा ही तो है, क्या मैं साथ बाँध ले जाऊँगी?

'यह आपकी कृपा है, अम्माँजी; पर इतना निर्लज्ज न बनाइए। मैं तो आपका हो चुका, अब तो आप दुतकारें भी तो इस द्वार से नहीं टल सकता। मुझ-जैसा भाग्यवान् संसार में और कौन है। लेकिन देवी के मंदिर में जाने से पहले कुछ पान-फूल तो होना ही चाहिए।'

साल-भर और गुजर गया। भगतराम ने एम० ए० की उपाधि ली और अपने ही विद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक हो गया। उस दिन कोकिला ने खूब दान-पुण्य किया। जब भगतराम ने आकर उसके पैरों पर सिर झुकाया, तो उसने उसे छाती से लगा लिया। उसे विश्वास था कि आज भगतराम विवाह के प्रश्न को जरूर छेड़ेगा। श्रद्धा प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई थी। उसका एक-एक अंग मानो सौ-सौ तार होकर प्रतिध्वनित हो रहा था। दिल पर एक नशा छाया हुआ था, पाँव जमीन पर न पड़ते थे। भगतराम को देखते ही माँ से बोली—अम्माँ, अब हमको एक हल्की-सी मोटर ले दीजिएगा।

कोकिला ने मुस्कराकर कहा—हल्की-सी क्यों? भारी-सी तो लेना। पहले कोई अच्छा-सा मकान तो ठीक कर लो।

श्रद्धा भगतराम को अपने कमरे में बुला ले गयी। दोनों बैठकर नये मकान की सजावट के मनसूबे बाँधने लगे। परदे, फर्श, तस्वीरें, सबकी व्यवस्था की गयी। श्रद्धा ने कहा—रुपये भी अम्माँजी से ले लेंगे।

भगतराम बोला—उनसे रुपये लेते मुझे शर्म आयेगी।

श्रद्धा ने मुस्कराकर कहा—आखिर मेरे दहेज के रुपये तो देंगी।

दोनों घंटे-भर बातें करते रहे। मगर वह मार्मिक शब्द, जिसे सुनने के लिए श्रद्धा का मन आतुर हो रहा था, आज भी भगतराम के मुँह से न निकला और वह विदा हो गया।

उसके चले जाने पर कोकिला ने डरते-डरते पूछा—आज क्या बातें हुईं?

श्रद्धा ने उसका आशय समझकर कहा—अगर मैं ऐसी भारी हो रही हूँ, तो कुएँ में क्यों नहीं डाल देतीं!

यह कहते कहते उसके धैर्य की दीवार टूट गयी। वह आवेश और वह वेदना, जो भीतर-ही-भीतर अब तक टीस रही थी, निकल पड़ी। वह फूट-फूट कर रोने लगी।

कोकिला ने झुँझलाकर कहा—जब कुछ बातचीत ही नहीं करना है, तो रोज आते ही क्यों हैं? कोई ऐसा बड़ा घराना भी तो नहीं है, और न ऐसे धन्ना-सेठ ही हैं।

श्रद्धा ने आँख पोंछकर कहा—अम्माँजी, मेरे सामने उन्हें कुछ न कहिए। उनके दिल में जो कुछ है, वह मैं जानती हूँ। वह मुँह से चाहे कुछ न कहें; मगर दिल से कह चुके। और मैं चाहे कानों से कुछ न सुनूँ। पर दिल से सब कुछ सुन चुकी।

कोकिला ने श्रद्धा से कुछ भी न कहा; लेकिन दूसरे दिन भगतराम से बोली—अब किस सोच-विचार में हो, बेटा?

भगतराम ने सिर खुजलाते हुए कहा—अम्माँजी, मैं तो हाजिर हूँ; लेकिन घर वाले किसी तरह राजी नहीं होते। जरा फुरसत मिले, तो घर जाकर उन्हें राजी कर लूँ। माँ-बाप को नाराज करना भी तो अच्छा नहीं!

कोकिला कुछ जवाब न दे सकी।

(६)

भगतराम के माँ-बाप शहर से दूर रहते थे। यही एक उनका लड़का था। उनकी सारी उमंगें उसी के विवाह पर अवलम्बित थीं। उन्होंने कई बार उसकी शादी तय की। पर भगतराम बार-बार यही कहकर निकल जाता कि जब तक नौकर न हो जाऊँगा, विवाह न करूँगा। अब वह नौकर हो गया था; इसलिए दोनों माघ के एक ठण्ढे प्रातःकाल में लदे-फँदे भगतराम के मकान पर आ पहुँचे। भगतराम ने दौड़कर उनकी पद-धूलि ली और कुशल आदि पूछने के बाद कहा—आप लोगों ने इस जाड़े-पाले में क्यों तकलीफ की। मुझे बुला लिया होता।

चौधरी ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा—सुनती हो बचा की अम्माँ! जब बुलाते हैं, तो कहते हैं कि इम्तिहान है, यह है, वह है। जब आ गये, तो कहता है, बुलाया क्यों नहीं। तुम्हारा विवाह ठीक हो गया है। अब एक महीने की छुट्टी लेकर हमारे साथ चलना होगा। इसीलिए हम दोनों आये हैं।

चौधराइन—हमने कहा कि बिना गये काम नहीं चलेगा। तो आज ही दरखास दे दो। लड़की बड़ी सुन्दर; पढ़ी लिखी, अच्छे कुल की है।

भगतराम ने लजाते हुए कहा—मेरा विवाह तो यहीं एक जगह लगा हुआ है, अगर आप राजी हों, तो कर लूँ।

चौधरी—इस शहर में हमारी बिरादरी का कौन है, क्यों बचा की अम्माँ?

चौधराइन—यहाँ हमारी बिरादरी का तो कोई नहीं है।

भगतराम—माँ-बेटी हैं। घर में रुपया भी है। लड़की ऐसी है कि तुम लोग देखकर खुश हो जाओगे। मुफ्त में शादी हो जायगी।

चौधरी—क्या लड़की का बाप मर गया है? उसका क्या नाम था? कहाँ का रहनेवाला है। कुल-मरजाद कैसा है—जब तक यह सारी बातें मालूम न हो जायँ, तब तक ब्याह कैसे हो सकता है।—क्यों बचा की अम्माँ?

चौधराइन—हाँ बिना इन बातों का पता लगाये कैसे हो सकता है।

भगतराम ने कोई जवाब नहीं दिया।

चौधरी—यहाँ किस मुहल्ले में रहती हैं माँ-बेटी? सारा शहर हमारा छाना पड़ा है, हम यहाँ कोई बीस साल रहे होंगे, क्यों बच्चा की अम्माँ?

चौधराइन—बीस साल से ज्यादा ही रहे हैं।

भगतराम—उनका घर नखास पर है।

चौधरी—नखास से किस तरफ़?

भगतराम—नखास की सामनेवाली गली में पहला मकान उन्हीं का है। सड़क से दिखाई देता है।

चौधरी—पहला मकान तो कोकिला रण्डी का है। गुलबी रंग से पुता हुआ है न?

भगतराम ने झेंपते हुए कहा—जी हाँ, वही मकान है!

चौधरी—तो उसमें कोकिला रण्डी नहीं रहती क्या?

भगतराम—रहती क्यों नहीं। माँ बेटी, दोनों ही तो रहती हैं।

चौधरी—तो क्या कोकिला रण्डी की लड़की से ब्याह करना चाहते हो? नाक कटवाने पर लगे हो क्या? बिरादरी में तो कोई पानी पियेगा नहीं।

चौधराइन—लूका लगा दूँगी मुँह में राँड़ के? रूप रंग देख के लुभा गये क्या?

भगतराम—मैं तो इसे अपने बड़े भाग्य समझता हूँ कि वह अपनी लड़की की शादी मेरे साथ करने को राजी है। अगर वह आज चाहे, तो किसी बड़े-से-बड़े रईस के घर में शादी कर सकती है।

चौधरी—रईस उससे ब्याह न करेगा—रख लेगा। तुम्हें भगवान समाई दें, तो एक नहीं चार रखो। मरदों के लिए कौन रोक है। लेकिन जो ब्याह के लिए कहो तो ब्याह वही है, जो बिरादरी में हो।

चौधराइन—बहुत पढ़ने से आदमी बौरा जाता है।

चौधरी—हम तो गँवार आदमी हैं; पर समझ में नहीं आता कि कि तुम्हारी यह नियत कैसे हुई? रण्डी की बेटी चाहे इन्नर की परी हो, तो भी रण्डी की बेटी है। हम तुम्हारा विवाह वहाँ न होने देंगे। अगर तुमने विवाह किया, तो हम दोनों तुम्हारे ऊपर जान दे देंगे। इतना अच्छी तरह से समझ लेना—क्यों बच्चा की अम्माँ?

चौधराइन—ब्याह कर लेंगे, जैसे हँसी-ठट्ठा है! झाड़ू मार के भगा दूँगी राँड़ को! अपनी बेटी अपने घर में रखे।

भगतराम—अगर आप लोगों की आज्ञा नहीं है, तो मैं विवाह नहीं करूँगा; मगर मैं किसी दूसरी औरत से भी विवाह न करूँगा।

चौधराइन—हाँ, तुम कुवाँरे रहो, यह हमें मंजूर है। पतुरिया के घर में ब्याह न करेंगे।

भगतराम ने अबकी झुँझलाकर कहा—आप उसे बार-बार पतुरिया क्यों कहती है। किसी जमाने में यह उसका पेशा रहा होगा। आज दिन वह जितने आचार-विचार से रहती है, शायद ही कोई और रहती हो। ऐसा पवित्र आचरण तो मैंने आज तक देखा ही नहीं।

भगतराम का सारा यत्न विफल हो गया। चौधराइन ने ऐसी जिद पकड़ी कि जौ भर भी अपनी जगह से न टली।

रात को जब भगतराम अपने प्रेम-मन्दिर में पहुँचा, तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। एक-एक अंग से निराशा टपक रही थी। श्रद्धा रास्ता देखती हुई घबरा रही थी कि आज इतनी रात तक आये क्यों नहीं। उन्हें क्या मालूम कि मेरे दिल की क्या हालत हो रही है। यार-दोस्तों से छुट्टी मिलेगी, तो भूलकर इधर भी आ जायँगे।

कोकिला ने कहा—मैं तो तुझसे कह चुकी कि उनका अब वह मिजाज नहीं रहा। फिर भी तो तू नहीं मानती। आखिर इस टालमटोल की कोई हद भी है।

श्रद्धा ने दुखित होकर कहा—अम्माँजी, मैं आपसे हजार बार विनय कर चुकी हूँ कि चाहे लौकिक रूप में कुमारी ही क्यों न रहूँ; लेकिन हृदय से उनकी ब्याहिता हो चुकी। अगर ऐसा आदमी विश्वास करने के काबिल नहीं है, तो फिर नहीं जानती कि किस पर विश्वास किया जा सकता है।

इसी समय भगतराम निराशा की मूर्ति बने हुए कमरे के भीतर आये। दोनों स्त्रियों ने उनकी ओर देखा। कोकिला की आँखों में शिकायत थी और श्रद्धा की आँखों में वेदना। कोकिला की आँखें कह रही थीं, यह क्या तुम्हारे रङ्ग-ढङ्ग हैं? श्रद्धा की आँखें कह रही थीं—इतनी निर्दयता!

भगतराम ने धीमे, वेदनापूर्ण स्वर में कहा—आप लोगों को आज बहुत देर तक मेरी राह देखनी पड़ी; मगर मैं मजबूर था; घर से अम्माँ और दादा आये हुए हैं, उन्हीं से बातें कर रहा था।

कोकिला बोली—घर पर तो सब कुशल है न ?

भगतराम ने सिर झुकाये हुए कहा—जी हाँ, सब कुशल हैं। मेरे विवाह का मसला पेश था। पुराने खयाल के आदमी हैं, किसी तरह भी राजी नहीं होते।

कोकिला का मुख तमतमा उठा। बोली—हाँ, क्यों राजी होंगे ? हम लोग उनसे भी नीच हैं न; लेकिन जब तुम उनकी इच्छा के दास थे, तो तुम्हें उनसे पूछकर यहाँ आना-जाना चाहिए था। इस तरह हमारा अपमान करके तुम्हें क्या मिला ? यदि मुझे मालूम होता कि तुम अपने माँ-बाप के इतने गुलाम हो, तो यह नौबत ही काहे को आती।

श्रद्धा ने देखा कि भगतराम की आँखों से आँसू गिर रहे हैं।

विनीत भाव से बोली—अम्माँजी, माँ-बाप की मरजी का गुलाम होना कोई पाप नहीं है। अगर मैं आपकी उपेक्षा करूँ, तो क्या आपको दुःख न होगा ? यही हाल उन लोगों का भी तो होगा।

श्रद्धा यह कहती हुई अपने कमरे की ओर चली और इशारे से भगतराम को भी बुलाया। कमरे में बैठकर दोनों कई मिनट तक पृथ्वी की ओर ताकते रहे। किसी में भी साहस न था कि उस सन्नाटे को तोड़े।

अन्त में भगतराम ने पुरुषोचित वीरता से काम लिया और कहा—श्रद्धा, इस समय मेरे हृदय के भीतर तुमुल युद्ध हो रहा है। मैं शब्दों में अपनी दशा बयान नहीं कर सकता। जी चाहता है कि विष खाकर जान दे दूँ। तुमसे अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता; केवल तड़प सकता हूँ। मैंने न-जाने उनकी कितनी खुशामद की, कितना रोया, कितना गिड़गिड़ाया; लेकिन दोनों अपनी बातों पर अड़े रहे। बार-बार यही कहते रहे कि अगर यह ब्याह होगा, तो हम दोनों तुमपर अपनी जान दे देंगे। उन्हें मेरी मौत मंजूर है; लेकिन तुम मेरे हृदय की रानी बनो, यह मंजूर नहीं।

श्रद्धा ने सान्त्वना देते हुए कहा—प्यारे, मुझसे उनका घृणा करना उचित है। पढ़े लिखे आदमियों में ही ऐसे कितने निकलेंगे। इसमें उनका कोई दोष नहीं। मैं सबेरे उनके दर्शन करने जाऊँगी, शायद मुझे देखकर उनका दिल पिघल जाय। मैं हर तरह से उनकी सेवा करूँगी, उनली धोतियाँ धोऊँगी, उनके पैर दाबा करूँगी, मैं वह सब करूँगी, जो उनकी मनचाही बहू करती।

इसमें लज्जा की कौन-सी बात। उनके तलवे सहलाऊँगी,—भजन गाकर सुनाऊँगी—मुझे बहुत-से दिहाती गीत आते हैं। अम्माँजी के सिर के सफेद बाल चुनूँगी। मैं दया नहीं चाहती, मैं तो प्रेम की चेरी हूँ। तुम्हारे लिए मैं सब कुछ करूँगी—सब कुछ।

भगतराम को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसकी आँखों की ज्योति बढ़ गयी है, अथवा शरीर में कोई दूसरी ज्योतिर्मय आत्मा आ गयी है। उसके हृदय का सारा अनुराग, सारा विश्वास, सारी भक्ति आँखों से उमड़कर श्रद्धा के पैरों की ओर जाती हुई मालूम हुई, मानो किसी घर से नन्हें-नन्हें लाल कपोलवाले, रेशमी कपड़ोंवाले, घुँघराले बालोंवाले बच्चे हँसते हुए निकलकर खेलने जा रहे हों।

(७)

चौधरी और चौधराइन को शहर आये हुए दो सप्ताह बीत गये। वे रोज जाने के लिए कमर कसते; लेकिन फिर रह जाते। श्रद्धा उन्हें जाने न देती। सबेरे जब उनकी आँखें खुलती, तो श्रद्धा उनके स्नान के लिए पानी तपाती हुई होती, चौधरी को अपना हुक्का भरा हुआ मिलता। वे लोग ज्योंही नहाकर उठते, श्रद्धा उनकी धोती छाँटने लगती। दोनों उसकी सेवा और अविरत परिश्रम देखकर दंग रह जाते। ऐसी सुन्दर, ऐसी मधुरभाषिणी, ऐसी हँसमुख और चतुर रमणी चौधरी ने इन्स्पेक्टर साहब के घर में भी न देखी थी। चौधरी को वह देवी मालूम होती—और चौधराइन को लक्ष्मी। दोनों श्रद्धा की सेवा और टहल प्रेम पर आश्चर्य करते थे; किन्तु तो भी कलंक और बिरादरी का प्रश्न उनके मुँह पर मुहर लगाये हुए था। पन्द्रहवें दिन जब श्रद्धा दस बजे रात को अपने घर चली गयी, तो चौधरी ने चौधराइन से कहा—लड़की तो साक्षात् लक्ष्मी है।

चौधराइन—जब मेरी धोती छाँटने लगती है, तो मैं मारे लाज के कट जाती हूँ। हमारी तरह तो इसकी लौंडी होगी।

चौधरी—फिर क्या सलाह देती हो—अपनी बिरादरी में तो ऐसी सुघर लड़की मिलने की नहीं।

चौधराइन—राम का नाम लेकर ब्याह करो। बहुत होगा रोटी पड़ जायगी।

पाँच बीसी में तो रोटी होती है, कौन छप्पन टके लगते हैं। पहले हमें संका होती थी कि पतुरिया की लड़की न-जाने कैसी हो, कैसी न हो, पर अब सारी संका मिट गई।

चौधरी—जब बातें करती है, तो मालूम होता है, मुँह से फूल झड़ते हैं।

चौधराइन—मैं तो उसकी माँ को बखानती हूँ, जिसकी कोख में ऐसी लच्छमी जनमी।

चौधरी—कल चलो, कोकिला से मिलकर सब ठीक-ठाक कर आयें।

चौधराइन—मुझे तो उसके घर जाते सरम लगती है। वह रानी बनी बैठी होगी; मैं तो उसकी लौंडी मालूम होऊँगी।

चौधरी—तो फिर पाउडर मँगाकर मुँह में पोत लो—गोरी हो जाओगी। इंस्पेक्टर साहब की मेम भी तो रोज पाउडर लगाती थीं। रंग तो साँवला था; पर जब पाउडर लगा लेतीं तो मुँह चमकने लगता था।

चौधराइन—हँसी करोगे तो गाली दूँगी, हाँ। काली चमड़ी पर कोई रंग चढ़ता है, जो पाउडर चढ़ जायगा? तुम तो सचमुच उसके चौकीदार से लगोगे।

चौधरी—तो कल मुँह-अन्धेरे चल दें। अगर कहीं श्रद्धा आ गयी तो फिर गला न छोड़ेगी। बचा से कह देंगे कि पंडित से सायत-मिती सब ठीक कर लो। फिर हँसकर कहा—उन्हें तो आप ही जल्दी होगी।

चौधराइन भी पुराने दिन याद करके मुस्कराने लगीं।

(८)

चौधरी और चौधराइन का मत पाकर कोकिला विवाह का आयोजन करने लगी। कपड़े बनवाये जाने लगे। बरतनों की दूकाने छानी जाने लगीं और गहनों के लिए सुनार के पास 'आर्डर' जाने लगे। लेकिन न-मालूम क्यों भगतराम के मुख पर प्रसन्नता का चिह्न तक न था। श्रद्धा के यहाँ नित्य की भाँति जाता; किंतु उदास, कुछ भूला हुआ-सा बैठा रहता था। घंटों आत्म-विस्मृति की अवस्था में, शून्य दृष्टि से आकाश अथवा पृथ्वी की ओर देखा करता। श्रद्धा उसे अपने कीमती कपड़े और जड़ाऊ गहने दिखलाती। उसके अंग-प्रत्यंग से आशाओं की स्फूर्ति छलकी पड़ती थी। इस नशे में वह भगतराम की आँखों में छिपे हुए आँसुओं को न देख पाती थी।

इधर चौधरी भी तैयारियाँ कर रहे थे। बार-बार शहर आते और विवाह के सामान मोल ले जाते। भगतराम के स्वतंत्र विचारवाले मित्र उसके भाग्य पर ईर्ष्या करते थे। अप्सरा-जैसी सुन्दर स्त्री, कारूँ के खजाने-जैसी दौलत, दोनों साथ ही किसे मयस्सर होते हैं ? किन्तु वह, जो मित्रों की ईर्ष्या, कोकिला की प्रसन्नता, श्रद्धा की मनोकामना और चौधरी और चौधराइन के आनन्द का कारण था, छिप-छिपकर रोता था, अपने जीवन से दुःखी था। चिराग तले अँधेरा छाया हुआ था। इस छिपे हुए तूफान की किसी को भी खबर न थी; जो उसके हृदय में हाहाकार मचा रहा था।

ज्यों-ज्यों विवाह का दिन समीप आता था, भगतराम की बनावटी उमंग भी ठण्डी पड़ती थी। जब चार दिन रह गये, तो उसे हलका-सा ज्वर आ गया। वह श्रद्धा के घर भी न जा सका। चौधरी और चौधराइन तथा अन्य बिरादरी के लोग भी आ पहुँचे थे; किन्तु सब-के-सब विवाह की धुन में इतने मस्त थे कि किसी का भी ध्यान उसकी ओर न गया।

दूसरे दिन भी वह घर से न निकल सका। श्रद्धा ने समझा कि विवाह की रीतियों से छुट्टी न मिली होगी। तीसरे दिन चौधराइन भगतराम को बुलाने गई, तो देखा कि वह सहमी हुई विस्फारित आँखों से कमरे के एक कोने की ओर देखता हुआ दोनों हाथ सामने किये, पीछे हट रहा है, मानो अपने को किसी के वार से बचा रहा हो। चौधराइन ने घबराकर पूछा—बच्चा, कैसा जी है ? पीछे इस तरह क्यों चले जा रहे हो ? यहाँ तो कोई नहीं है।

भगतराम के मुख पर पागलों-जैसी अचेतना थी। आँखों में भय छाया हुआ था। भीत स्वर में बोला—नहीं अम्माँजी, देखो, वह श्रद्धा चली आ रही है ! देखा, उसके दोनों हाथों में दो काली नागिनें हैं। वह मुझे उन नागिनों से डसवाना चाहती है ! अरे अम्माँ ! देखो, वह नजदीक आ गयी। श्रद्धा ! श्रद्धा !! तुम मेरी जान की क्यों बैरिन हो गयी हो ? क्या मेरे असीम प्रेम का यही परिणाम है ? मैं तो तुम्हारे चरणों पर बलि होने के लिए सदैव तत्पर था। इस जीवन का मूल्य ही क्या है। तुम इन नागिनों को दूर फेंक दो। मैं यहाँ तुम्हारे चरणों पर लेटकर यह जान तुम पर न्योछावर कर दूँगा।........हैं, है, तुम न मानोगी ?

यह कहकर वह चित गिर पड़ा। चौधराइन ने लपककर चौधरी को बुलाया। दोनों ने भगतराम को उठाकर चारपाई पर लिटा दिया। चौधरी का ध्यान किसी आसेब की ओर गया। वह तुरन्त ही लौंग और राख लेकर आसेब उतारने का आयोजन करने लगे! स्वयं यन्त्र-मन्त्र में निपुण थे। भगतराम का सारा शरीर ठण्डा था; किन्तु सिर तवे की तरह तप रहा था।

रात को भगतराम कई बार चौंककर उठा। चौधरी ने हर बार मन्त्र फूँककर अपने खयाल से आसेब को भगाया।

चौधराइन ने कहा—कोई डाक्टर क्यों नहीं बुलवाते? शायद दवा से कुछ फायदा हो। कल व्याह और आज यह हाल।

चौधरी ने निःशंक भाव से कहा—डाक्टर आकर क्या करेगा। वही पीपलवाले बाबा तो हैं। दवा-दारू करना उनसे और रार बढ़ाना है। रात जाने दो। सवेरा होते ही एक बकरा और एक बोतल दारू उनकी भेंट की जायगी। बस, और कुछ करने की जरूरत नहीं। डाक्टर बीमारी की दवा करता है कि हवा-बयार की? बीमारी उन्हें कोई नहीं है, कुल के बाहर व्याह करने ही से देवता लोग रूठ गये हैं।

सवेरे चौधरी ने एक बकरा मगाया। स्त्रियाँ गाती-बजाती हुई देवी के चौतरे की ओर चलीं। जब लोग लौटकर आये, तो देखा कि भगतराम की हालत खराब है। उसकी नाड़ी धीरे-धीरे बन्द हो रही थी। मुख पर मृत्यु-विभिषिका की छाप थी। उसके दोनों नेत्रों से आँसू बहकर गालों पर ढुलक रहे थे, मानो अपूर्ण इच्छा का अन्तिम सन्देश निर्दय संसार को सुना रहे हों। जीवन का कितना वेदना-पूर्ण दृश्य था—आँसू की दो बूँदें!

अब चौधरी घबराये। तुरंत ही कोकिला को खबर दी। एक आदमी डाक्टर के पास भेजा। डाक्टर के आने में तो देर थी—वह भगतराम के मित्रों में से थे; किन्तु कोकिला और श्रद्धा आदमी के साथ ही आ पहुँची। श्रद्धा भगतराम के सामने आकर खड़ी हो गयी। आँखों से आँसू बहने लगे।

थोड़ी देर में भगतराम ने आँखें खोलीं और श्रद्धा की ओर देखकर बोले—तुम आ गयी श्रद्धा, मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। यह अन्तिम प्यार लो। आज ही सब 'आगा-पीछा' का अन्त हो जायगा, जो आज से तीन वर्ष पूर्व

आरम्भ हुआ था। इन तीन वर्षों में मुझे जो आत्मिक-यन्त्रणा मिली है, हृदय ही जानता है। तुम वफा की देवी हो; लेकिन मुझे रह-रहकर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपनी परम्परा की रीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी? इन भ्रमपूर्ण विचारों के लिए शोक न करना। मैं तुम्हारे योग्य न था—किसी प्रकार भी, और कभी भी तुम्हारे-जैसा महान् हृदय न बन सका। हाँ, इस भ्रम के वश में पड़कर संसार से मैं अपनी इच्छाएँ बिना पूर्ण किये ही जा रहा हूँ। तुम्हारे अगाध, निष्कपट, निर्मल प्रेम की स्मृति सदैव ही मेरे साथ रहेगी। किंतु हाय अफसोस....

कहते-कहते भगतराम की आँखें फिर बन्द हो गयीं। श्रद्धा के मुख पर गाढ़ी ललिमा दौड़ गयी। उसके आँसू सूख गये। झुकी हुई गरदन तन गयी। माथे पर बल पड़ गये। आँखों में आत्म-अभिमान की झलक आ गयी। वह क्षण भर वहाँ खड़ी रही और दूसरे ही क्षण नीचे आकर अपनी गाड़ी में बैठ गयी। कोकिला उसके पीछे-पीछे दौड़ी हुई आई और बोली—बेटी, यह क्रोध करने का अवसर नहीं है। लोग अपने दिल में क्या कहेंगे। उनकी दशा बराबर बिगड़ती ही जाती है। तुम्हारे रहने से बुड्ढों को ढाढ़स बँधा रहेगा।

श्रद्धा ने कुछ उत्तर न दिया। कोचवान से कहा—घर चलो। हारकर कोकिला भी गाड़ी में बैठ गयी।

असह्य शीत पड़ रहा था। आकाश में काले बादल छाये हुए थे। शीतल वायु चल रही थी। माघ के अन्तिम दिवस थे। वृक्ष, पेड़-पौधे भी शीत से अकड़े हुए थे। दिन के आठ बज गये थे, अभी तक लोग रजाई के भीतर मुँह लपेटे हुए लेटे थे। लेकिन श्रद्धा का शरीर पसीने से भीगा हुआ था। ऐसा मालूम होता था कि सूर्य की सारी उष्णता उसके शरीर की रगों में घुस गयी है। उसके होंठ सूख गये थे, प्यास से नहीं, आंतरिक धधकती हुई अग्नि की लपटों से। उसका एक-एक अंग उस अग्नि की भीषण आँच से जला जा रहा था। उसके मुख से बार-बार जलती हुई गर्म साँस निकल रही थी, मानो किसी चूल्हे की लपट हो। घर पहुँचते-पहुँचते उसका फूल-सा मुख मलिन हो गया, होंठ पीले पड़ गये, जैसे किसी काले ने डस लिया हो। कोकिला बार-बार

श्रद्धापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर ताकती थी; पर क्या कहे और क्या कहकर समझाये।

घर पहुँचकर श्रद्धा अपने ऊपर के कमरे की ओर चली, किंतु उसमें इतनी शक्ति न थी कि सीढ़ियाँ चढ़ सके। रस्सी को मजबूती से पकड़ती हुई किसी तरह अपने कमरे में पहुँची। हाय, आध ही घंटे पूर्व यहाँ की एक-एक वस्तु पर प्रसन्नता, आह्लाद, आशाओं की छाप लगी हुई थी; पर अब सब-की-सब सिर धुनती हुई मालूम होती थीं। बड़े-बड़े सन्दूकों में जोड़े सजाये हुए रखे थे, उन्हें देखकर श्रद्धा के हृदय में हूक उठी और वह गिर पड़ी, जैसे विहार करता हुआ और कुलाँचें भरता हुआ हिरन तीर लग जाने से गिर पड़ता है।

अचानक उसकी दृष्टि उस चित्र पर जा पड़ी, जो आज तीन वर्ष से उसके जीवन का आधार हो रही थी। उस चित्र को उसने कितनी बार चूमा था, कितनी बार गले लगाया था, कितनी बार हृदय से चिपका लिया था। वे सारी बातें एक-एक करके याद आ रही थीं; लेकिन उनके याद करने का भी अधिकार उसे न था।

हृदय के भीतर एक दर्द उठा, जो पहले से कहीं अधिक प्राणांतकारी था—जो पहले से भी अधिक तूफान के समान भयंकर था। हाय! उस मरने-वाले के दिल को उसने कितनी यंत्रणा पहुँचायी! भगतराम के अविश्वास का यह जवाब, यह प्रत्युत्तर कितना रोमांचकारी और हृदय-विदारक था। हाय! वह कैसे ऐसी निठुर हो गयी! उसका प्यारा उसकी नजरों के सामने दम तोड़ रहा था? उसके लिए—उसकी सान्त्वना के लिए एक शब्द भी मुँह से न निकला! यही तो खून का असर है—इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। आज पहली बार श्रद्धा को कोकिला की बेटी होने का पछतावा हुआ। वह इतनी स्वार्थरत, इतनी हृदय-हीन है—आज ही उसे मालूम हुआ। वह त्याग, वह सेवा, वह उच्चादर्श, जिसपर उसे घमंड था, ढहकर श्रद्धा के सामने गिर पड़ा; वह अपनी ही दृष्टि में अपने को हेय समझने लगी। उस स्वर्गीय प्रेम का ऐसा नैराश्यपूर्ण उत्तर वेश्या की पुत्री के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

श्रद्धा उसी समय कमरे से बाहर निकलकर, वायु-वेग से सीढ़ियाँ उतरती

हुई नीचे पहुँची, और भगतराम के मकान की ओर दौड़ी। वह आखिरी बार उससे गले मिलना चाहती थी। अन्तिम बार उसके दर्शन करना चाहती थी। वह अनंत प्रेम के कठिन बंधनों को निभायेगी, और अंतिम श्वास तक उसी की ही बनकर रहेगी!

रास्ते में कोई सवारी न मिली। श्रद्धा थकी जा रही थी। सिर से पाँव तक पसीने से नहाई हुई थी! न मालूम कितनी बार वह ठोकर खाकर गिरी और फिर उठकर दौड़ने लगी। उसके घुटनों से रक्त निकल रहा था, साड़ी कई जगह से फट गई थी, मगर उसे वक्त अपने तन-बदन की सुध तक न थी। उसका एक-एक रोयाँ सहस्र कंठ हो-होकर ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि उस प्रातःकाल के दीपक की लौ थोड़ी देर और बची रहे। उसके मुँह से एक बार 'श्रद्धा' का शब्द सुनने के लिए उसकी अंतरात्मा कितनी व्याकुल हो रही थी। केवल यही एक शब्द सुनकर फिर उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण न रह जायगी, उसकी सारी आशाएँ सफल हो जायँगी, सारी साध पूर्ण हो जायगी।

श्रद्धा को देखते ही चौधराइन ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और रोती हुई बोली—

बेटी, तुम कहाँ चली गई थी? दो बार तुम्हारा नाम लेकर पुकार चुके हैं।

श्रद्धा को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसका कलेजा फटा जा रहा है। उसकी आँखें पथरा गयीं। उसे ऐसा मालूम होने लगा कि वह अगाध, अथाह समुद्र की भवँर में पड़ गयी है। उसने कमरे में जाते ही भगतराम के ठंडे पैरों पर सिर रख दिया और उसे आँखों के गरम पानी से धोकर गरम करने का उपाय करने लगी। यही उसकी सारी आशाओं और कुछ अरमानों की समाधि थी।

भगतराम ने आँख खोलकर कहा—क्या तुम हो श्रद्धा! मैं जानता था कि तुम आओगी, इसीलिए अभी तक प्राण अवशेष थे। जरा मेरे हृदय पर अपना सिर रख दो। हाँ, मुझे अब विश्वास हो गया कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया। जी डूब रहा है। तुमसे कुछ माँगना चाहता हूँ; पर किस मुँह से माँगूँ। जब जीते-जी न माँग सका तो अब क्या है!

हमारी अंतिम घड़ियाँ किसी अपूर्ण साध को अपने हिय के भीतर छिपाये

हुए होती हैं। मृत्यु पहले हमारी सारी ईर्ष्या, सारा भेद-भाव, सारा द्वेष नष्ट करती है। जिनकी सूरत से हमें घृणा होती है, उनसे फिर वही पुराना सौहार्द्र, पुरानी मैत्री करने के लिए, उनको गले लगाने के लिए हम उत्सुक हो जाते हैं। जो कुछ कर सकते थे और न कर सके—उसी की एक साध रह जाती है। भगतराम ने उखड़े हुए विषाद-पूर्ण स्वर में अपने प्रेम की पुनरावृत्ति श्रद्धा के सामने की। उस स्वर्गीय निधि को पाकर वह प्रसन्न हो सकता था, उसका उपयोग कर सकता था; किन्तु हाय, आज वह जा रहा है, अपूर्ण साधों की स्मृति लिए हुए! हाय रे, अभागिनि साध!

श्रद्धा भगतराम के वक्षस्थल पर झुकी हुई रो रही थी। भगतराम ने सिर उठाकर उसके मुरझाये हुए, आँसुओं से धोये हुए स्वच्छ कपोलों को चूम लिया। मरती हुई साध की यह अंतिम हँसी थी।

भगतराम ने अवरुद्ध कंठ से कहा—यह हमारा और तुम्हारा विवाह है, श्रद्धा—यह मेरी अंतिम भेंट है।—यह कहते हुए उसकी आँखें हमेशा के लिए बंद हो गयीं। साध भी मरकर गिर पड़ी।

श्रद्धा की आँखें रोते-रोते लाल हो रही थी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो भगतराम उसके सामने प्रेमालिंगन का संकेत करते हुए मुस्करा रहे हैं। वह अपनी दशा, काल, स्थान, सब भूल गयी। जख्मी सिपाही अपनी जीत का समाचार पाकर अपना दर्द, अपनी पीड़ा भूल जाता है। क्षण-भर के लिए मौत भी हेय हो जाती है। श्रद्धा का भी यही हाल हुआ। वह भी अपना जीवन प्रेम की निठुर बेदी पर उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गयी, जिस पर लैला और मजनूँ, शीरीं और फरहाद—एक नहीं, हजारों ने अपनी बलि चढ़ा दी।

उसने चुम्बन का उत्तर देते हुए कहा—प्यारे, मैं तुम्हारी हूँ, और सदा तुम्हारी ही रहूँगी।

प्रेम का उदय

भोंदू पसीने में तर, लकड़ी का एक गट्ठा सिर पर लिए आया और उसे जमीन पर पटककर बंटी के सामने खड़ा हो गया, मानो पूछ रहा हो—क्या अभी तेरा मिजाज ठीक नहीं हुआ ?

संध्या हो गयी थी, फिर भी लू चलती थी और आकाश पर गर्द छायी हुई थी। प्रकृति रक्त शून्य देह की भाँति शिथिल हो रही थी।

भोंदू प्रातःकाल घर से निकला था। दोपहरी उसने एक पेड़ की छाँह में काटी थी। समझा था—इस तपस्या से देवीजी का मुँह सीधा हो जायगा; लेकिन आकर देखा, तो वह अब भी कोप-भवन में थी।

भोंदू ने बातचीत छेड़ने के इरादे से कहा—लो, एक लोटा पानी दे दो, बड़ी प्यास लगी है। मर गया सारे दिन। बाजार में जाऊँगा, तो तीन आने से बेसी न मिलेंगे। दो-चार साँडे मिल जाते, तो मेहनत सुफल हो जाती।

बंटी ने सिरकी के अन्दर बैठे-बैठे कहा—धरम भी लूटोगे और पैसे भी। मुँह धो रखो।

भोंदू ने भँवें सिकोड़कर कहा—क्या धरम-धरम बकती है! धरम करना हँसी-खेल नहीं है। धरम वह करता है, जिसे भगवान ने माना हो। हम क्या खाकर धरम करेंगे। भर-पेट चबेना तो मिलता नहीं, धरम करेंगे।

बंटी ने अपना वार ओछा पड़ते देखकर चोट-पर-चोट की—संसार में कुछ ऐसे भी महात्मा हैं, जो अपना पेट चाहे न भर सकें, पर पड़ोसियों को नेवता देते फिरते हैं; नहीं तो सारे दिन बन-बन लकड़ी न तोड़ते फिरते। ऐसे धरमात्मा लोगों को मेहरिया रखने की क्यों सूझती है, यही मेरी समझ में नहीं आता। धरम की गाड़ी क्या अकेले नहीं खींचते बनती ?

भोंदू इस चोट से तिलमिला गया। उसकी जिहरदार नसें तन गयीं, माथे पर बल पड़ गये। इस अबला का मुँह वह एक डपट में बंद कर सकता था; पर डाँट-डपट उसने न सीखी थी। जिसके पराक्रम की सारे कंजड़ों में धूम थी,

जो अकेला सौ-पचास जवानों का नशा उतार सकता था, वह इस, अबला के सामने चूँ तक न कर सका। दबी जबान से बोला—मेहरिया धरम बेचने लिए नहीं लायी जाती, धरम पालने के लिए लायी जाती है।

यह कंजड़-दंपति आज तीन दिन से और कई कंजड़-परिवारों के साथ इस बाग में उतरी हुआ था। सारे बाग में सिरकियाँ-ही-सिरकियाँ दिखाय ती थीं। उसी तीन हाथ चौड़ी और चार हाथ लम्बी सिरकी के अन्दर एक-एक पूरा परिवार जीवन के समस्त व्यापारों साथ कल्पवास सा कर रहा था। एक किनारे चक्की थी, एक किनारे रसोई का स्थान, एक किनारे दो-एक अनाज के मटके। द्वार पर एक छोटी-सी खटोली बालकों के लिए पड़ी थी। हरेक परिवार के साथ दो-दो भैंसें या गधे थे। जब डेरा कूच होता था तो सारी गृहस्थी इन जानवरों पर लाद दी जाती थी। यही इन कंजड़ों का जीवन था। सारी बस्ती एक साथ चलती थी। आपस ही में शादी-ब्याह, लेन-देन, झगड़े-टंटे होते रहते थे। इस दुनिया के बाहर वाला अखिल संसार उनके लिए केवल शिकार का मैदान था। उनके किसी इलाके में पहुँचते ही वहाँ की पुलिस तुरंत आकर उन्हें अपनी निगरानी में ले लेती थी। पड़ाव के चारों तरफ चौकीदार का पहरा हो जाता था। स्त्री या पुरुष किसी गाँव में जाते तो दो-चार चौकीदार उनके साथ हो लेते थे। रात को भी उनकी हाजिरी ली जाती थी। फिर भी आस-पास के गाँवों में आतंक छाया हुआ था; क्योंकि कंजड़ लोग बहुधा घरों में घुसकर जो चीज चाहते, उठा लेते और उनके हाथ में जाकर कोई चीज लौट न सकती थी। रात में ये लोग अकसर चोरी करने निकल जाते थे। चौकीदारों को उनसे मिले रहने में ही अपनी कुशल दीखती थी। कुछ हाथ भी लगता था और जान भी बची रहती थी। सख्ती करने में प्राणों का भय था, कुछ मिलने का तो जिक्र ही क्या; क्योंकि कंजड़ लोग एक सीमा के बाहर किसी का दबाव न मानते थे। बस्ती में अकेला भोंदू अपनी मेहनत की कमाई खाता था; मगर इसलिए नहीं कि वह पुलिस वालों की खुशामद न कर सकता था। उसकी स्वतंत्र आत्मा अपने बाहुबल से प्राप्त किसी वस्तु हिस्सा देना स्वीकार न करती थी; इसलिए वह यह नौबत आने ही न देती थी।

बंटी को पति की यह आचार-निष्ठा एक आँख न भाती थी। उसकी और बहनें नयी-नयी साड़ियाँ और नये-नये आभूषण पहनतीं, तो बंटी उन्हें देख-देखकर पति की अकर्मण्यता पर कुढ़ती थी। इस विषय पर दोनों में कितने ही संग्राम हो चुके थे; लेकिन भोंदू अपना परलोक बिगाड़ने पर राजी न होता था। आज भी प्रातःकाल यही समस्या आ खड़ी हुई थी और भोंदू लकड़ी काटने जंगलों में निकल गया था। साँडे मिल जाते, तो आँसू पुँछते, पर आज साँडे भी न मिले।

बंटी ने कहा—जिनसे कुछ नहीं हो सकता, वही धरमात्मा बन जाते हैं। राँड़ अपने माँड़ ही में खुश है।

भोंदू ने पूछा—तो मैं निखट्टू हूँ?

बंटी ने इस प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर न देकर कहा—मैं क्या जानूँ, तुम क्या हो? मैं तो यही जानती हूँ कि यहाँ धेले-धेले की चीज के लिए तरसना पड़ता है। यहीं सबको पहनते-ओढ़ते, हँसते-खेलते देखती हूँ। क्या मुझे पहनने-ओढ़ने, हँसने-खेलने की साध नहीं है? तुम्हारे पल्ले पड़कर जिंदगानी नष्ट हो गयी।

भोंदू ने एक क्षण विचार-मग्न रहकर कहा—जानती है, पकड़ जाऊँगा, तो तीन साल से कम की सजा न होगी।

बंटी विचलित न हुई। बोली—जब और लोग नहीं पकड़ जाते, तो तुम्हीं क्यों पकड़ जाओगे।

और लोग पुलिस को मिला लेते हैं, थानेदार के पाँव सहलाते हैं, चौकीदार की खुशामद करते हैं। तू चाहती है, मैं भी औरों की तरह सबकी चिरौरी करता फिरूँ?

बंटी ने अपना हठ न छोड़ा—मैं तुम्हारे साथ सती होने नहीं आयी। फिर तुम्हारे छूरे-गड़ाँसे को कोई कहाँ तक डरे। जानवर को भी जब घास-भूसा नहीं मिलता, तो पगहा तुड़ाकर किसी के खेत में पैठ जाता है। मैं तो आदमी हूँ।

भोंदू ने इसका कुछ जवाब न दिया। उसकी स्त्री कोई दूसरा घर कर ले, यह कल्पना उसके लिए अपमान से भरी थी। आज बंटी ने पहली बार यह

धमकी दी। अब तक भोंदू इस तरफ से निश्चित था। अब यह नयी संभावना उसके सम्मुख उपस्थित हुई। उस दुर्दिन को वह अपना काबू चलते अपने पास न आने देगा।

आज भोंदू की दृष्टि में वह इज्जत नहीं रही, वह भरोसा नहीं रहा। मजबूत दीवार को टिकौने की जरूरत नहीं। जब दीवार हिलने लगती है, तब हमें उसको सँभालने की चिन्ता होती है। आज भोंदू को अपनी दीवार हिलती हुई मालूम होती थी।

आज तक बंटी अपनी थी। वह जितना अपनी ओर से निश्चिन्त था, उतना ही उसकी ओर से भी था। वह जिस तरह खुद रहता था, उसी तरह उसको भी रखता था। जो खुद खाता था, वही उसको खिलाता था। उसके लिए कोई विशेष फिक्र न थी; पर आज उसे मालूम हुआ कि वह अपनी नहीं है, अब उसका विशेष रूप से सत्कार करना होगा, विशेष रूप से दिलजोई करनी होगी।

सूर्यास्त हो रहा था। उसने देखा, उसका गधा चरकर चुपचाप सिर झुकाये चला आ रहा है। भोंदू ने कभी उसकी खाने-पीने की चिंता न की थी; क्योंकि गधा कभी किसी और को अपना स्वामी बनाने की धमकी न दे सकता था। भोंदू ने बाहर आकर आज गधे को पुचकारा, उसकी पीठ सहलायी और तुरन्त उसे पानी पिलाने के लिए डोल और रस्सी लेकर चल दिया।

(२)

इसके दूसरे ही दिन कस्बे में एक धनी ठाकुर के घर चोरी हो गयी। उस रात को भोंदू अपने डेरे पर न था। बंटी ने चौकीदार से कहा—वह जंगल से नहीं लौटा। प्रातःकाल भोंदू आ पहुँचा। उसकी कमर में रुपयों की एक थैली थी। कुछ सोने के गहने भी थे। बंटी ने तुरन्त गहनों को ले जाकर एक वृक्ष की जड़ में गाड़ दिया। रुपयों की क्या पहचान हो सकती थी।

भोंदू ने पूछा—अगर कोई पूछे, इतने सारे रुपये कहाँ मिले, तो क्या कहोगी?

बंटी ने आँखें नचाकर कहा—कह दूँगी, क्यों बताऊँ? दुनिया कमाती है, तो किसी को हिसाब देने जाती है? हमीं क्यों अपना हिसाब दें?

भोंदू ने संदिग्ध भाव से गर्दन हिलाकर कहा—यह कहने से गला न छूटेगा, बंटी ! तू कह देना, मैं तीन-चार मास से दो-दो, चार-चार रुपये महीना जमा करती आई हूँ। हमारा खरच ही कौन बड़ा लंबा है।

दोनों ने मिलकर बहुत से जवाब सोच निकाले—जड़ी-बूटियाँ बेचते हैं। एक-एक जड़ी के लिए मुट्ठी-मुट्ठी भर रुपये मिल जाते हैं। खस, साँडे, जानवरों की खालें, नख और चर्बी, सभी बेचते हैं।

इस ओर से निश्चिंत होकर दोनों बाजार चले। बंटी ने अपने लिये तरह तरह के कपड़े, चूड़ियाँ, टिकुलियाँ, बुंदे, सेंदुर, पान-तमाखू, तेल और मिठाई ली। फिर दोनों जने शराब की दूकान गये। खूब शराब पी। फिर दो बोतल शराब रात के लिए लेकर दोनों घूमते-घामते, गाते-बजाते घड़ी रात गये डेरे पर लौटे। बंटी के पाँव आज जमीन पर न पड़ते थे। आते ही बन-ठनकर पड़ोसियों को अपनी छवि दिखाने लगी।

जब वह लौटकर अपने घर आयी और भोजन पकाने लगी, तब पड़ोसियों ने टिप्पणियाँ करनी शुरू कीं—

'कहीं गहरा हाथ मारा है।'

'बड़ा धरमात्मा बना फिरता था।'

'बगला भगत है।'

'बंटी तो आज जैसे हवा में उड़ रही है।'

'आज भोंदुआ की कितनी खातिर हो रही है। नहीं तो कभी एक लुटिया पानी देने भी न उठती थी।

रात को भोंदू को देवी की याद आयी। आज तक कभी उसने देवी की बेदी पर बकरे का बलिदान न किया था। पुलिस को मिलाने में ज्यादा खर्च था। कुछ आत्म-सम्मान भी खोना पड़ता। देवीजी केवल एक बकरे में राजी हो जाती हैं। हाँ, उससे एक गलती जरूर हुई थी। उसकी बिरादरी के और लोग साधारणतया कार्यसिद्धि के पहले ही बलिदान दिया करते थे। भोंदू ने यह खतरा न लिया। जब तक माल हाथ न आ जाय, उसके भरोसे पर देवी-देवताओं को खिलाना उसकी व्यावसायिक बुद्धि को न जँचा। औरों से अपने कृत्य को गुप्त रखना भी चाहता था; इसलिए किसी को सूचना भी न दी, यहाँ तक कि बंटी

से भी न कहा—बंटी तो भोजन बना रही थी, वह बकरे की तलाश में घर से निकल पड़ा।

बंटी ने पूछा—अब भोजन करने के जून कहाँ चले ?

'अभी आता हूँ।'

'मत जाओ, मुझे डर लगता है।'

भोंदू स्नेह के नवीन प्रकाश से खिलकर बोला—मुझे देर न लगेगी। तू यह गँड़ासा अपने पास रख ले।

उसने गँड़ासा निकालकर बंटी के पास रख दिया और निकला। बकरे की समस्या बेढब थी। रात को बकरा कहाँ से लाता। इस समस्या को भी उसने एक नये ढंग से हल किया। पास की बस्ती में एक गड़ेरिये के पास कई बकरे पले थे। उसने सोचा, वहीं से एक बकरा उठा लाऊँ। देवीजी को अपने बलिदान से मतलब है, या इससे कि बकरा कैसे आया और कहाँ से आया।

मगर बस्ती के समीप पहुँचा ही था कि पुलिस के चार चौकीदारों ने उसे गिरफ्तार कर लिया और मुश्कें बाँधकर थाने ले चले।

(२)

बंटी भोजन पकाकर अपना बनाव-सिंगार करने लगी। आज उसे अपना जीवन सफल जान पड़ता था। आनंद से खिली जाती थी। आज जीवन में पहली बार उसके सिर में सुगन्धित तेल पड़ा। आईना उसके पास एक पुराना अंधा-सा पड़ा हुआ था। आज वह नया आईना लाई थी। उसके सामने बैठकर उसने अपने केश सँवारे। मुँह पर उबटन मला। साबुन लाना भूल गयी थी। साहब लोग साबुन लगाने ही से तो इतने गोरे हो जाते हैं। साबुन होता, तो उसका रङ्ग कुछ तो निखर जाता। कल वह अवश्य साबुन की कई बट्टियाँ लायेगी और रोज लगायेगी। केश गूँथकर उसने माथे पर अलसी का लुआब लगाया, जिसमें बाल न बिखरने पायें। फिर पान लगाये, चूना ज्यादा हो गया था। गलफड़ों में छाले पड़ गये; लेकिन उसने समझा, शायद पान खाने का यही मजा है। आखिर कड़वी मिर्च भी तो लोग मजे से खाते हैं! गुलाबी साड़ी पहन और फूलों का गजरा गले डालकर उसमें ने आईने में अपन सूरत देखी, तो उसके आबनूसी रङ्ग पर लाली दौड़ गयी। आप ही

आप लज्जा से उसकी आँखें झुक गयीं। दरिद्रता की आग से नारीत्व भी भस्म हो जाता है, नारीत्व की लज्जा का क्या जिक्र। मैले कुचैले कपड़े पहनकर लजाना ऐसा ही है, जैसे कोई चबैने में सुगन्ध लगाकर खाये।

इस तरह सजकर बंटी भोंदू की राह देखने लगी। जब अब भी वह न आया, तो उसका जी झुँझलाने लगा। रोज तो साँझ ही से द्वार पर पड़ रहते थे, आज न-जाने कहाँ जाकर बैठ रहे। शिकारी अपनी बंदूक भर लेने के बाद इसके सिवा और क्या चाहता है कि शिकार सामने आये। बंटी के सूखे हृदय में आज पानी पड़ते ही उसका नारीत्व अंकुरित होगया। झुँझलाहट के साथ उसे चिन्ता भी होने लगी। उसने बाहर निकलकर कई बार पुकारा। उसके कंठ-स्वर में इतना अनुराग कभी न था। उसे कई बार भान हुआ कि भोंदू आ रहा है, वह हर बार खिरकी के अन्दर दौड़ आयी और आईने में सूरत देखी कि कुछ बिगड़ न गया हो। ऐसी धड़कन, ऐसी उलझन उसकी अनुभूति से बाहर थी।

बंटी सारी रात भोंदू के इन्तजार में उद्विग्न रही। ज्यों-ज्यों रात बीतती थी, उसकी शंका तीव्र होती जाती थी। आज ही उसके वास्तविक जीवन का आरंभ हुआ था और आज ही यह हाल!

प्रातःकाल वह उठी, तो अभी कुछ अँधेरा ही था। इस रतजगे से उसका चित्त खिन्न और सारी देह अलसायी हुई थी। रह-रहकर भीतर से एक लहर भी उठती थी, आँखें भर-भर आती थीं।

सहसा किसी ने कहा—अरे बंटी, भोंदू रात पकड़ गया।

(४)

बंटी थाने पहुँची तो पसीने में तर थी और दम फूल रहा था। उसे भोंदू पर दया न थी, क्रोध आ रहा था। सारा जमाना यही काम करता है और चैन की बंसी बजाता है। इन्होंने कहते-कहते हाथ भी लगाया, तो चूक गये। नहीं सहूर था, तो साफ कह देते, मुझसे यह काम न होगा। मैं यह थोड़े ही कहती थी कि आग में फाँद पड़ो।

उसे देखते ही थानेदार ने धौंस जमायी—यही तो है भोंदुआ की औरत, इसे भी पकड़ लो।

बंटी ने हेकड़ी जतायी—हाँ-हाँ पकड़ लो यहाँ किसी से नहीं डरते। जब कोई काम ही नहीं करते, तो डरें क्यों।

अफसर और मातहत सभी की अनुरक्त आँखें बंटी की ओर उठने लगी। भोंदू की तरफ से लोगों के दिल कुछ नर्म हो गये। उसे धूप से छाँह में बैठा दिया गया। उसके दोनों हाथ पीछे बँधे हुए थे और धूल-धूसरित काली देह पर भी जूतों और कोड़ों के रक्तमय मार साफ नजर आ रहे थे। उसने एक बार बंटी की ओर देखा, मानो कह रहा था—देखना, कहीं इन लोगों के धोखे में न आ जाना।

थानेदार ने डाँट बतायी—जरा इसकी दीदा-दिलेरी देखो, जैसे देवी ही तो है; मगर इस फेर में न रहना। यहाँ तुम लोगों की नस-नस पहचानता हूँ। इतने कोड़े लगवाऊँगा कि चमड़ी उड़ जायगी। नहीं तो सीधे से कबूल दो। सारा माल लौटा दो। इसी में खैरियत है। भोंदू ने बैठे बैठे कहा—क्या कबूल दें। जो देश को लूटते हैं, उनसे तो कोई नहीं बोलता; जो बेचारे अपनी गाढ़ी कमाई की रोटी खाते हैं, उनका गला काटने को पुलिस भी तैयार रहती है। हमारे पास किसी की नजर-भेंट देने के लिए पैसे नहीं हैं।

थानेदार ने कठोर स्वर से कहा—हाँ-हाँ, जो कुछ कोर-कसर रह गयी हो, वह पूरी कर दे। किरकिरी न होने पाये। मगर इन बैठकबाजियों से बच नहीं सकते। अगर एकबाल न किया, तो तीन साल को जाओगे। मेरा क्या बिगड़ता है। अरे छोटेसिंह, जरा लाल मिर्च की धूनी तो दो इसे। कोठरी बंद करके पसेरी-भर मिर्चे सुलगा दो। अभी माल बरामद हुआ जाता है।

भोंदू ने ढिठाई से कहा--दारोगाजी, बोटी-काट डालो; लेकिन कुछ हाथ न लगेगा। तुमने मुझे रात-भर पिटवाया है, मेरी एक-एक हड्डी चूर-चूर हो गयी है। कोई दूसरा होता तो अब तक सिधार गया होता। क्या तुम समझते हो, आदमी को रुपये-पैसे जान से भी प्यारे होते हैं? जान ही के लिए तो आदमी सब तरह के कुकरम करता है। धूनी सुलगाकर भी देख लो।

दारोगाजी को अब विश्वास आया कि इस फौलाद को झुकाना मुश्किल है। भोंदू की मुखाकृति से शहीदों का-सा आत्म-समर्पण झलक रहा था। यद्यपि उनके हुक्म की तामील होने लगी, दो कांस्टेबलों ने भोंदू को एक कोठरी में बंद कर दिया, दो आदमी मिर्चें लाने दौड़े, लेकिन दारोगा की युद्ध-नीति

बदल गयी थी। बंटी का हृदय क्षोभ से फटा जाता था। वह जानती थी, चोरी करके एकबाल कर लेना कंजड़ जाति की नीति में महान् लज्जा की बात है; लेकिन क्या यह सचमुच मिर्च की धूनी सुलगा देंगे? इतना कठोर है इनका हृदय? सालन बघारने में कभी मिर्च जल जाती है, तो छींकों और खाँसियों के मारे दम निकलने लगता है। जब नाक के पास धूनी सुलगायी जायगी तब तो प्राण ही निकल जायँगे। उसने जान पर खेलकर कहा—दारोगाजी, तुम समझते होंगे कि इन गरीबों की पीठ पर कोई नहीं है; लेकिन मैं कहे देती हूँ, हाकिम से रत्ती-रत्ती हाल कह दूँगी। भला चाहते हो, तो उसे छोड़ दो, नहीं तो इसका फल बुरा होगा।

थानेदार ने मुस्कराकर कहा—तुझे क्या, वह मर जायगा, किसी और के नीचे बैठ जाना। जो कुछ जमा-जथा लाया होगा, वह तो तेरे ही हाथ में होगी। क्यों नहीं एकबाल करके उसे छुड़ा लेती। मैं वादा करता हूँ, मुकदमा न चलाऊँगा। सब माल लौटा दे। तूने ही उसे मंत्र दिया होगा। गुलाबी साड़ी और पान और खुशबूदार तेल के लिए तू ही ललच रही होगी। उसकी इतनी साँसत हो रही है और तू खड़ी देख रही है।

शायद बंटी की अन्तरात्मा को यह विश्वास न था कि ये लोग इतने अमानुषीय अत्याचार कर सकते हैं; लेकिन जब सचमुच धूनी सुलगा दी गयी मिर्च की तीखी जहरीली झार फैली और भोंदू के खाँसने की आवाजें कानों में आयीं, तो उसकी आत्मा कातर हो उठी। उसका वह दुस्साहस झूठे रङ्ग की भाँति उड़ गया। उसने दारोगाजी के पाँव पकड़ लिए और दीन भाव से बोली—मालिक मुझपर दया करो। मैं सब कुछ दे दूँगी।

धूनी उसी वक्त हटा ली गयी।

(५)

भोंदू ने सशंक होकर पूछा—धूनी क्यों हटाते हो?

एक चौकीदार ने कहा—तेरी औरत ने एकबाल कर लिया।

भोंदू की नाक, आँख, मुँह से पानी जारी था। सिर चक्कर खा रहा था। गले की आवाज बंद-सी हो गयी थी; पर वह वाक्य सुनते ही वह सचेत हो गया। उसकी दोनों मुट्ठियाँ बँध गयीं। बोला—क्या कहा?

'कहा क्या, चोरी खुल गयी। दारोगाजी माल बरामद करने गये हुए हैं। पहले ही एकबाल कर लिया होता, तो क्यों इतनी साँसत होती।

भोंदू ने गरजकर कहा—वह झूठ बोलती है।

'वहाँ माल बरामद हो गया, तुम अभी अपनी ही गा रहे हो।'

परम्परा की मर्यादा को अपने हाथों भंग होने की लज्जा से भोंदू का मस्तक झुक गया। इस घोर अपमान के बाद अब उसे अपना जीवन दया और घृणा और तिरस्कार इन सभी दशाओं से निखिद जान पड़ता था। वह अपने समाज में पतित हो गया था।

सहसा बंटी आकर खड़ी हो गयी और कुछ कहना ही चाहती थी कि भोंदू की रौद्रमुद्रा देखकर उसकी जबान बंद हो गयी। उसे देखते ही भोंदू की आहत मर्यादा किसी आहत सर्प की भाँति तड़प उठी। उसने बंटी को अंगारों-सी तपती हुई लाल आँखों से देखा। उन आँखों में हिंसा की आग जल रही थी। बंटी सिर से पाँव तक काँप उठी। वह उलटे पाँव वहाँ से भागी। किसी देवता के अग्निबाण के समान वे दोनों अंगारों सी आँखें उसके हृदय में चुभने लगीं।

थाने से निकलकर बंटी ने सोचा, अब कहाँ जाऊँ; भोंदू उसके साथ होता तो वह पड़ोसियों के तिरस्कार को सह लेती। इस दशा में उसके लिए अपने घर जाना असम्भव था। वे दोनों अंगारे-सी आँखें उसके हृदय में चुभी जाती थीं; लेकिन कल की सौभाग्य-विभूतियों का मोह उसे डेरे की ओर खींचने लगा। शराब की बोतल अब भी भरी धरी थी। फुलौड़ियाँ छींके पर हाँड़ी में धरी थीं वह तीव्र लालसा, जो मृत्यु को सम्मुख देखकर भी संसार के भोग्य पदार्थों की ओर मन को चलायमान कर देती है, उसे खींचकर डेरे की ओर ले चली।

दोपहर हो गया था। वह पड़ाव पर पहुँची, तो सन्नाटा छाया हुआ था। अभी कुछ देर पहले जो स्थान जीवन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ था, बिलकुल निर्जन हो गया था। बिरादरीवालों के तिरस्कार का सबसे भयंकर रूप था। सभी ने उसे त्याज्य समझ लिया। केवल उसकी सिरकी उस निर्जनता में रोती हुई खड़ी थी। बंटी ने उसके अंदर पाँव रखे, तो उसके मन की कुछ वही दशा

हुई, जो अकेला घर देखकर किसी चोर की होती है। कौन-कौन-सी चीज समेटे। उस कुटी में उसने रो-रोकर पाँच वर्ष काटे थे; पर आज उसे उससे वही ममता हो रही थी, जो किसी माता को अपने दुर्गुणी पुत्र को देखकर होती है, जो बरसों के बाद परदेश से लौटा हो। हवा से कुछ चीजें इधर की उधर हो गयी थीं। उसने तुरन्त उसे सँभालकर रखा।। फुलौड़ियों की हाँड़ी छींके पर कुछ ठंढी हो गयी थी। शायद उसपर बिल्ली झपटी थी। उसने जल्दी से हाँड़ी उतारकर देखी। फुलौड़ियाँ अछूती थीं। पानी पर जो गीला कपड़ा लपेटा था, वह सूख गया था। उसने तुरन्त कपड़ा तर कर दिया।

किसी के पाँव की आहट पाकर उसका कलेजा धक्-से हो गया। भोंदू आ रहा है। उसकी वह दोनों अंगारे-सी आँखें! उसके रोयें खड़े हो गये। भोंदू के क्रोध का उसे दो-एक बार अनुभव हो चुका था; लेकिन उसने दिल को मजबूत किया। क्यों मारेगा? कुछ कहेगा, कुछ पूछेगा, कुछ सवाल-जवाब करेगा कि योंही गँड़ासा चला देगा। उसने उसके साथ कोई बुराई नहीं की। आफत से उसकी जान बचायी। मरजाद जान से प्यारी नहीं होती। भोंदू को होगी, उसे नहीं है। क्या इतनी-सी बात के लिए वह उसकी जान ले लेगा!

उसने सिरकी के द्वार से झाँका। भोंदू न था, केवल उसका गधा चला आ रहा था।

बंटी आज उस अभागे-से गधे को देखकर ऐसी प्रसन्न हुई, मानो अपना भाई नैहर से बतासों की पोटली लिये थका-माँदा चला आता हो। उसने जाकर उसकी गर्दन सहलायी और उसके थूथन को अपने मुँह से लगा लिया। वह उसे फूटी आँखों न भाता था; पर आज उससे उसे कितनी आत्मीयता हो गयी थी। वह दोनों अंगारे-सी आँखें उसे घूर रहीं थीं। वह सिहर उठी।

उसने फिर सोचा—क्या किसी तरह न छोड़ेगा? वह रोती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ेगी। क्या तब भी न छोड़ेगा? इन आँखों की वह कितनी सराहना किया करता था। इनमें आँसू बहते देखकर भी उसे दया न आवेगी!

बंटी ने चुक्कड़ में शराब उँड़ेलकर पी ली और छींके से फुलौड़ियाँ उतारकर खायीं। जब उसे मरना ही है, तो साध क्यों रह जाय। वह दोनों अंगारे-सी

आँखें उसके सामने चमक रही थीं। उसने दूसरा चुक्कड़ भरा और पी गयी। जहरीला ठर्रा, जिसे दोपहर की गर्मी ने और भी घातक बना दिया था, देखते-देखते उसके मस्तिष्क को खौलाने लगा। बोतल आधी हो गयी थी।

उसने सोचा—भोंदू कहेगा, तूने इतनी दारू क्यों पी, तो वह क्या कहेगी। कह देगी—हाँ, पी; क्यों न पीयें, इसी के लिए तो वह सब कुछ हुआ। वह एक बूँद भी न छोड़ेगी। जो होना हो, हो। भोंदू उसे मार नहीं सकता। इतना निर्दयी नहीं है, इतना कायर नहीं है। उसने फिर चुक्कड़ भरा और पी गयी। पाँच वर्ष के वैवाहिक जीवन की अतीत स्मृतियाँ उसकी आँखों के सामने खिंच गयीं। सैकड़ों ही बार दोनों में गृह-युद्ध हुए थे। आज बंटी को हर बार अपनी ही ज्यादती मालूम हो रही थी। बेचारा जो कुछ कमाता है, उसी के हाथों पर रख देता है। अपने लिए कभी एक पैसे की तम्बाकू भी लेता है तो पैसा उसीसे माँगता है। भोर से साँझ तक वन-वन फिरा ही तो करता है! जो काम उससे नहीं होता, वह कैसे करे।

यकायक एक काँस्टेबल ने आकर कहा—अरी बंटी, कहाँ है? चल देख, भोंदुआ का हाल-बे-हाल हो रहा है। अभी तक तो चुप-चाप बैठा था। फिर न-जाने क्या जी में आया कि एक पत्थर पर अपना सिर पटक दिया। लहू बह रहा है। अगर हम लोग दौड़कर पकड़ न लेते, तो जान ही दे दी थी।

(६)

एक महीना बीत गया था। संध्या का समय था। काली-काली घटाएँ छाई थीं और मूसलाधार वर्षा हो रही थी! भोंदू की सिरकी अब भी निर्जन स्थान पर खड़ी थी, भोंदू खटोली पर पड़ा हुआ था। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और देह जैसे सूख गयी थी। वह सशंक आँखों से वर्षा की ओर देखता है, चाहता है उठकर बाहर देखूँ; पर उठा नहीं जाता।

बंटी सिर पर घास का एक बोझ लिये पानी में लथ-पथ आती दिखलायी दी। वही गुलाबी साड़ी है, पर तार-तार; किन्तु उसका चेहरा प्रसन्न है। विषाद और ग्लानि के बदले आँखों से अनुराग टपक रहा है। गति में वह चपलता, अंगों में वह सजीवता है, जो चित्त की शान्ति का चिह्न है। भोंदू ने क्षीण स्वर में कहा—तू इतना भीग रही है, कहीं बीमार पड़ गयी, तो कोई एक घूँट पानी

देनेवाला भी न रहेगा। मैं कहता हूँ, तू क्यों इतना मरती है। दो गट्ठे तो बेच चुकी थी। तीसरा गट्ठा लाने का काम क्या था। यह हाँड़ी में क्या लाई है?

बंटी ने हाँड़ी को छिपाते हुए कहा—कुछ तो नहीं है, कैसी हाँड़ी?

भोंदू जोर लगाकर खटोली से उठा, अंचल के नीचे छिपी हुई हाँड़ी खोल दी और उसके भीतर नजर डालकर बोला—अभी लौटा, नहीं तो मैं हाँड़ी फोड़ दूँगा।

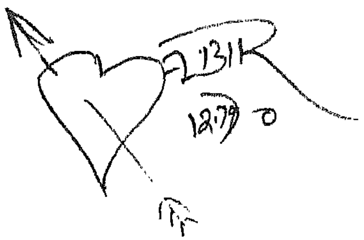
बंटी ने धोती से पानी निचोड़ते हुए का—जरा आइने में सूरत देखो। घी-दूध कुछ न मिलेगा, तो कैसे उठोगे?—कि सदा खाट सेने का ही विचार है?

भोंदू ने खटोली पर लेटते हुए कहा—अपने लिए तो एक साड़ी नहीं लायी, कितना कहके हार गया; मेरे लिए घी और दूध सब चाहिए। मैं घी न खाऊँगा।

बंटी ने मुस्कराकर कहा—इसीलिए तो घी खिलाती हूँ कि तुम जल्दी से काम-धंधा करने लगो और मेरे लिए साड़ी लाओ।

भोंदू ने मुस्कराकर कहा—तो आज जाकर कहीं सेंध मारूँ?

बंटी ने उसके गाल पर एक ठोकर देकर कहा—पहले मेरा गला काट देना, तब जाना।



———

सती

मुलिया को देखते हुए उसका पति कल्लू कुछ भी नहीं है। फिर क्या कारण है कि मुलिया संतुष्ट और प्रसन्न है, और कल्लू चिन्तित और सशंकित ?

मुलिया को कौड़ी मिली है, उसे दूसरा कौन पूछेगा ? कल्लू को रत्न मिला है, उसके सैकड़ों ग्राहक हो सकते हैं। खासकर उसे अपने चचेरे भाई राजा से बहुत खटका रहता है। राजा रूपवान है, रसिक है, बातचीत में कुशल है, स्त्रियों को रिझाना जानता है। इससे कल्लू मुलिया को बाहर नहीं निकलने देता। उसपर किसी की निगाह भी पड़ जाय, यह उसे असह्य है। वह अब रात-दिन मेहनत करता है, जिससे मुलिया को किसी बात का कष्ट न हो। उसे न-जाने किस पूर्व-जन्म के संस्कार से ऐसी स्त्री मिल गयी है। उसपर प्राणों को न्योछावर कर देना चाहता है। मुलिया का कभी सिर भी दुखता है, तो उसकी जान निकल जाती है। मुलिया का भी यह हाल है कि जबतक वह घर नहीं आता, मछली की भाँति तड़पती रहती है। गाँव में कितने ही युवक हैं, जो मुलिया से छेड़छाड़ करते रहते हैं; पर उस युवती की दृष्टि में कुरूप कलुआ संसार-भर के आदमियों से अच्छा है।

एक दिन राजा ने कहा—भाभी, भैया तुम्हारे जोग न थे।

मुलिया बोली—भाग में तो वह लिखे थे; तुम कैसे मिलते ?

राजा ने मन में समझा, बस, अब मार लिया है। बोला—विधि ने यही तो भूल की।

मुलिया मुस्कराकर बोली—अपनी भूल तो वही सुधारेगा। राजा निहाल हो गया।

(२)

तीज के दिन कल्लू मुलिया के लिये लट्ठे की साड़ी लाया। चाहता तो था कोई अच्छी साड़ी ले; पर रुपये न थे और बजाज ने उधार न माना।

राजा भी उसी दिन अपने भाग्य को परीक्षा करना चाहता था। एक सुन्दर चुँदरी लाकर मुलिया को भेंट की।

मुलिया ने कहा—मेरे लिए तो साड़ी आ गयी है।

राजा बोला—मैंने देखी है। तभी तो मैं इसे लाया। तुम्हारे लायक नहीं है। भैया को किफायत भी सूझती है, तो ऐसी बातों में।

मुलिया कटाक्ष करके बोली—तुम समझा क्यों नहीं देते?

राजा पर एक कुल्हड़ का नशा चढ़ गया। बोला—बूढ़ा तोता नहीं पढ़ता है।

मुलिया—मुझे तो लट्ठे की साड़ी ही पसन्द है?

राजा—जरा यह चुँदरी पहनकर देखो, कैसी खिलती है।

मुलिया—जो लट्ठा पहनाकर खुश होता है, वह चुँदरी पहन लेने से खुश न होगा। उसे चुँदरी पसन्द होती, तो चुँदरी ही लाता।

राजा—उन्हें दिखाने का काम नहीं है?

मुलिया विस्मय से बोली—मैं क्या उनसे बिना पूछे ले लूँगी?

राजा—इसमें पूछने की कौन-सी बात है। जब वह काम पर चला जाय, पहन लेना। मैं भी देख लूँगा।

मुलिया ठट्ठा मारकर हँसती हुई बोली—यह न होगा, देवरजी। कहीं देख लें, तो मेरी सामत ही आ जाय। इसे तुम लिये जाओ।

राजा ने आग्रह करके कहा—इसे न लोगी भाभी, तो मैं जहर खाके सो रहूँगा।

मुलिया ने साड़ी उठाकर आले पर रख दी और बोली—अच्छा लो, अब तो खुश हुए।

राजा ने उँगली पकड़ी—अभी तो भैया नहीं हैं, जरा पहन लो।

मुलिया ने अन्दर जाकर चुँदरी पहन ली और फूल की तरह महकती-दमकती बाहर आयी।

राजा ने पहुँचा पकड़ने को हाथ फैलाया—बोला—ऐसा जी चाहता है कि तुम्हें लेकर भाग जाऊँ।

मुलिया उसी विनोद-भाव से बोली—जानते हो, तुम्हारे भैया का क्या हाल होगा ?

यह कहते हुए उसने किवाड़ बन्द कर लिये। राजा को ऐसा मालूम हुआ कि थाली परोसकर उसके सामने से उठा ली गयी।

(३)

मुलिया का मन बार-बार करता था कि चुँदरी कल्लू को दिखा दे; पर नतीजा सोचकर रह जाती थी। उसने चुँदरी रख क्यों ली ? उसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था; लेकिन राजा को कितना दुःख होता। क्या हुआ उसकी चुँदरी छन-भर पहन लेने से, उसका मन तो रह गया।

लेकिन उसके प्रशांत मानस-सागर में यह एक कीट आकर उसे मथ रहा था। उसने क्यों चुँदरी रख ली ? क्या यह कल्लू के साथ विश्वासघात नहीं है ? उसका चित्त इस विचार से विकल हो गया। उसने मन को समझाया, विश्वासघात क्यों हुआ इसमें विश्वासघात की क्या बात है। कौन वह राजा से कुछ बोली ? जरा-सा हँस देने से अगर किसी का दिल खुश हो जाता है, तो इसमें क्या बुराई है।

कल्लू ने पूछा—आज रज्जू क्या करने आया था ?

मुलिया की देह थर-थर काँपने लगी। बहाना कर गयी—तमाखू माँगने आये थे।

कल्लू ने भँवें सिकोड़कर कहा—उसे अन्दर मत आने दिया करो। अच्छा आदमी नहीं है।

मुलिया—मैंने कह दिया तमाखू नहीं है, तो चले गये।

कल्लू ने अबकी तेजस्विता के साथ कहा—क्यों झूठ बोलती है ! वह तमाखू माँगने नहीं आया था।

मुलिया—तो और यहाँ क्या करने आते ?

कल्लू—चाहे जिस काम से आया हो, तमाखू माँगने नहीं आया। वह जानता था, मेरे घर में तमाखू नहीं है। मैं तमाखू के लिए उसके घर गया था।

मुलिया की देह में काटो तो लहू नहीं। चेहरे का रङ्ग उड़ गया।

सिर झुकाकर बोली—मैं किसी के मन का हाल क्या जानूँ !

आज तीज का रतजगा था। मुलिया पूजा का समान कर रही थी; पर इस तरह जैसे मन में जरा भी उत्साह, जरा भी श्रद्धा नहीं है।

उसे ऐसा मालूम हो रहा है, उसके मुख में कालिमा पुत गयी है और अब वह कल्लू की आँखों से गिर गयी है। उसे अपना जीवन निराधार-सा जान पड़ता था।

सोचने लगी—भगवान् ने मुझे यह रूप क्यों दिया? यह रूप न होता तो राजा क्यों मेरे पीछे पड़ता और क्यों आज मेरी यह गत होती? मैं काली-कुरूप रहकर इससे कहीं सुखी रहती। तब तो मन इतना चंचल न होता। जिन्हें रूप की कमाई खानी हो, वह रूप पर फूलें, यहाँ तो इसने मटियामेट कर दिया।

न-जाने कब उसे झपकी आ गयी, तो देखती है, कल्लू मर गया है और राजा घर में घुसकर उसे पकड़ना चाहता है। उसी दम एक वृद्धा स्त्री न-जाने किधर से आकर उसे अपनी गोद में ले लेती है। और कहती है—तूने कल्लू को क्यों मार डाला? मुलिया रोकर कहती है—माता, मैंने उन्हें नहीं मारा। वृद्धा कहती है—हाँ, तूने छूरी-कटार से नहीं मारा, उस दिन तेरा तन छीन हो गया और इसी से वह मर गया।

मुलिया ने चौकन्नी आँखें खोल दीं। सामने आँगन में कल्लू सोया हुआ था। वह दौड़ी हुई उसके पास गयी और उसकी छाती पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

कल्लू ने घबड़ाकर पूछा—कौन है? मुलिया! क्यों रोती हो? क्या डर लग रहा है। मैं तो जाग ही रहा हूँ।

मुलिया ने सिसकते हुए कहा—मुझसे आज एक अपराध हुआ है। उसे क्षमा कर दो।

कल्लू उठ बैठा—क्या बात है? कहो तो, रोती क्यों हो?

मुलिया—राजा तमाखू माँगने नहीं आया था। मैंने तुमसे झूठ कहा था।

कल्लू हँसकर बोला—वह तो मैं पहले ही समझ गया था।

मुलिया—वह मेरे लिए चुँदरी लाया था।

'तुमने लौटा दी?'

मुलिया काँपती हुई बोली—मैंने ले ली। कहते थे, मैं जहर-माहुर खा लूँगा।

कल्लू निर्जीव की भाँति खाट पर गिर पड़ा और बोला—तो रूप मेरे बस का नहीं है। देव ने कुरूप बना दिया, तो सुन्दर कैसे बन जाऊँ ?

कल्लू ने अगर मुलिया को खौलते हुए तेल में डाल दिया होता, तो भी उसे इतनी पीड़ा न होती।

(४)

कल्लू उस दिन से कुछ खोया-खोया-सा रहने लगा। जीवन में न वह उत्साह रहा, न वह आनंद। हँसना-बोलना भूल-सा गया। मुलिया ने उसके साथ जितना विश्वासघात किया था, उससे कहीं ज्यादा उसने समझ लिया। और यह भ्रम उसके हृदय में केवड़े के समान चिपट गया। वह घर अब उसके लिए केवल लेटने-बैठने का स्थान था और मुलिया केवल भोजन बना देनेवाली मशीन। आनन्द के लिए वह कभी-कभी ताड़ीखाने चला जाता, या चरस के दम लगाता।

मुलिया उसकी दशा देख-देख अन्दर-ही-अंदर कुढ़ती थी। वह उस बात को उसके दिल से निकाल देना चाहती थी, इसलिए उसकी सेवा और मन लगाकर करती। उसे प्रसन्न करने के लिए बार-बार प्रयत्न करती; पर वह जितना ही उसको खींचने की चेष्टा करती थी, उतना ही वह उससे विचलता था, जैसे कोई कटिये में फँसी हुई मछली हो। कुशल यह था कि राजा जिस अँग्रेज के यहाँ खानसामा था, उसका तबादला हो गया और राजा उसके साथ चला गया था, नहीं तो दोनों भाइयों में से किसी-न-किसी का जरूर खून हो जाता। इस तरह साल-भर बीत गया।

एक दिन कल्लू रात को घर लौटा, तो उसे ज्वर था। दूसरे दिन उसकी देह में दाने निकल आये। मुलिया ने समझा, माता हैं। मान मनौती करने लगी; मगर चार-पाँच दिन में ही दाने बढ़कर आवले पड़ गये और मालूम हुआ कि यह माता नहीं हैं, उपदंश है। कल्लू की कलुषित भोग-विलास का यह फल था।

रोग इतनी भयंकरता से बढ़ने लगा कि आवलों में मवाद पड़ गया और

उनमें से ऐसी दुर्गन्ध उड़ने लगी कि पास बैठते नाक फटती थी। देहात में जिस प्रकार का उपचार हो सकता था, वह मुलिया करती थी; पर कोई लाभ न होता था और कल्लू की दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। उपचार की कसर वह अबला अपनी स्नेहमय सेवा से पूरी करती थी। उसपर गृहस्थी चलाने के लिए अब मेहनत-मजूरी भी करनी पड़ती थी। कल्लू तो अपने किये का फल भोग रहा था। मुलिया अपने कर्तव्य का पालन करने में मरी जा रही थी। अगर कुछ सन्तोष था, तो यह कल्लू का भ्रम उसकी इस तपस्या से भंग होता जाता था। उसे अब विश्वास होने लगा था कि मुलिया अब भी उसी की है। वह अगर किसी तरह अच्छा हो जाता, तो फिर उसे दिल में छिपाकर रखता और उसकी जा करता।

प्रातःकाल था। मुलिया ने कल्लू का हाथ-मुँह धुलाकर दवा पिलायी और खड़ी पंखा डुला रही थी कि कल्लू ने आँसू-भरी आँखों से देखकर कहा—मुलिया, मैंने उस जन्म में कोई भारी तप किया था कि तू मुझे मिल गयी। तुम्हारी जगह अगर मुझे दुनिया का राज मिले, तो भी न लूँ।

मुलिया ने दोनों हाथों से उसका मुँह बन्द कर दिया और बोली—इस तरह की बातें करोगे, तो मैं रोने लगूँगी। मेरे धन्य भाग कि तुम-जैसा स्वामी मिला।

यह कहते हुए उसने दोनों हाथ पति के गले में डाल दिये और लिपट गयी। फिर बोली—भगवान ने मुझे मेरे पापों का दंड दिया है।

कल्लू ने उत्सुकता से पूछा—सच कह दो मूला, राजा और तुममें क्या मामला था?

मुलिया ने विस्मित होकर कहा—मेरे और उसके बीच कोई और मामला हुआ हो, तो भगवान मेरी दुर्गति करें। उसने मुझे चुँदरी दी थी। वह मैंने ले ली थी! फिर मैंने उसे आग में जला दिया। तब से मैं उससे नहीं बोली।

कल्लू ने ठंढी साँस खींचकर कहा—मैंने कुछ और ही समझ रखा था। न-जाने मेरी मति कहाँ हर गयी थी। तुम्हें पाप लगाकर मैं आप पाप में फँस गया और उसका फल भोग रहा हूँ!

उसने रो-रोकर अपने दुष्कृत्यों का परदा खोलना शुरू किया और मुलिया

आँसू की लड़ियाँ बहाकर सुनने लगी। अगर पति की चिन्ता न होती, तो उसने विष खा लिया होता।

(५)

कई महीने के बाद राजा छुट्टी लेकर घर आया और कल्लू की घातक बीमारी का हाल सुना, तो दिल में खुश हुआ; तीमारदारी के बहाने से कल्लू के घर आने-जाने लगा। कल्लू उसे देखकर मुँह फेर लेता, लेकिन वह दिन में दो चार बार पहुँच ही जाता।

एक दिन मुलिया खाना पका रही थी कि राजा ने रसोई के द्वार पर आकर कहा—भाभी, क्यों अब भी मुझपर दया न करोगी? कितनी बेरहम हो तुम! कै दिन से तुम्हें खोज रहा हूँ, पर तुम मुझसे भागती फिरती हो। भैया अब अच्छे न होंगे। इन्हें गर्मी हो गयी है। इनके साथ क्यों अपनी जिन्दगी खराब कर रही हो? तुम्हारी फूली-सी देह सूख गयी है। मेरे साथ चलो, कुछ जिन्दगी की बहार उड़ायें। यह जवानी बहुत दिन न रहेगी। यह देखो, तुम्हारे लिए एक करनफूल लाया हूँ, जरा पहनकर मुझे दिखा दो।

उसने करनफूल मुलिया की ओर बढ़ा दिया। मुलिया ने उसकी ओर देखा भी नहीं। चूल्हे की ओर ताकती हुई बोली—लाला, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे मत छेड़ो। यह सारी विपत्ति तुम्हारी लायी हुई है। तुम्हीं मेरे शत्रु हो। फिर भी तुम्हें लाज नहीं आती। कहते हो, भैया अब किस काम के हैं? मुझे तो अब वह पहले से कहीं ज्यादा अच्छे लगते हैं। जब मैं न होती, तो वह दूसरी सगाई कर लाते, अपने हाथों ठोक खाते। आज मैं ही उनका आधार हूँ। वह मेरे सहारे जीते हैं। अगर मैं इस संकट में उनके साथ दगा करूँ, तो मुझसे बढ़कर अधम कौन होगा जब कि मैं जानती हूँ कि इस संकट का कारण भी मैं ही हूँ।

राजा ने हँसकर कहा—यह तो वही हुआ, जैसे किसी की दाल गिर गयी, तो उसने कहा—मुझे तो सूखी ही अच्छी लगती है।

मुलिया ने सिर उठाकर उसकी ओर सजोत नेत्रों से ताकते हुए कहा—तुम उनकी पैरों की धूल के बराबर नहीं हो लाला, क्या कहते हो तुम? उजले

कपड़े और चिकने मुखड़े से कोई आदमी सुन्दर नहीं होता। मेरी आँखों में तो उनके बराबर कोई दिखायी नहीं देता।

कल्लू ने पुकारा—मूला, थोड़ा पानी दे। मुलिया पानी लेकर दौड़ी। चलते-चलते करनफूल को ऐसा ठुकराया कि आँगन में जा गिरा।

राजा ने जल्दी से करनफूल उठा लिया और क्रोध में भरा हुआ चल दिया।

(६)

रोग दिन-पर-दिन बढ़ता गया। ठिकाने से दवा-दारू होती, तो शायद अच्छा हो जाता; मगर अकेली मुलिया क्या-क्या करती? दरिद्रता में बीमारी कोढ़ का खाज है।

आखिर एक दिन परवाना आ पहुँचा। मुलिया घर का काम-धंधा करके आयी, तो देखा कल्लू की साँस चल रही है। घबड़ाकर बोली—कैसा जी है तुम्हारा?

कल्लू ने सजल और दीनता-भरी आँखों से देखा और हाथ जोड़कर सिर नीचा कर लिया। यही अन्तिम बिदाई थी।

मुलिया उसके सीने पर सिर रखकर रोने लगी और उन्माद की दशा में उसके आहत हृदय से रक्त की बूँदों के समान शब्द निकलने लगे—तुमसे इतना भी न देखा गया, भगवन्! उसपर न्यायी और दयालु कहलाते हो! इसीलिए तुमने जन्म दिया! यही खेल खेलने के लिए! हाय नाथ! तुम तो इतने निष्ठुर न थे! मुझे अकेली छोड़कर चले जा रहे हो! हाय! अब कौन मूला कहकर पुकारेगा! अब किसके लिए कुएँ से पानी खींचूँगी! किसे बैठाकर खिलाऊँगी, पंखा डुलाऊँगी! सब सुख हर लिया, तो मुझे भी क्यों नहीं उठा लेते!

सारा गाँव जमा हो गया। सभी समझा रहे थे। मुलिया को धैर्य न होता था। यह सब मेरे कारण हुआ, यह बात उसे नहीं भूलती। हाय! उसे भगवान ने सामर्थ्य दिया होता, तो आज उसका सिरताज यों उठ जाता?

शव की दाह-क्रिया की तैयारियाँ होने लगीं।

(७)

कल्लू को मरे छः महीने हो गये। मुलिया अपना कमाती है, खाती है

और अपने घर में पड़ी रहती है। दिन-भर काम-धंधे से छुट्टी नहीं मिलती। हाँ, रात को एकान्त में रो लिया करती है।

उधर राजा की स्त्री मर गयी; मगर दो चार दिन के बाद वह फिर छैला बना घूमने लगा। और भी छूटा साँड़ हो गया। पहले स्त्री से झगड़ा हो जाने का कुछ डर था। अब वह भी न रहा। अबकी नौकरी पर से लौटा, तो सीधे मुलिया के घर पहुँचा। और इधर उधर की बातें करने के बाद बोला—भाभी, अब तो मेरी अभिलाषा पूरी करोगी या अभी और कुछ बाकी है? अब तो भैया भी नहीं रहे। इधर मेरी घर वाली भी सिधारी! मैंने ता उसका गम भुला दिया। तुम कब तक भैया के नाम को रोती रहोगी?

मुलिया ने घृणा से उसकी ओर देखकर कहा—भैया नहीं रहे, तो क्या हुआ; भैया की याद तो है, उनका प्रेम तो है, उनकी सूरत तो दिल में है, उनकी बातें तो कानों में हैं। तुम्हारे लिए और दुनिया के लिए वह नहीं हैं मेरे लिए वह अब भी वैसे ही जीते-जागते हैं। मैं अब भी उन्हें वैसे ही बैठे देखती हूँ। पहले तो देह का अन्तर था। अब तो वह मुझसे और भी नगीच हो गये हैं। और ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे और भी नगीच होते जायँगे। भरे पूरे घर में दाने की कौन कदर करता है। जब घर खाली हो जाता है, तब मालूम होता है कि दाना क्या है। पैसेवाले पैसे की कदर क्या जानें। पैसे की कदर तब होती है, जब हाथ खाली हो जाता है। तब आदमी एक-एक कौड़ी दाँत से पकड़ता है। तुम्हें भगवान ने दिल ही नहीं दिया, तुम क्या जानो, सोहबत क्या है। घरवाली को मरे अभी छः महीने भी नहीं हुए और तुम साँड़ बन बैठे। तुम मर गये होते, तो इसी तरह वह भी अब तक किसी के पास चली गयी होती? मैं जानती हूँ कि मैं मर जाती, तो मेरा सिरताज 'जन्म' भर मेरे नाम को रोया करता। ऐसे ही पुरुषों की स्त्रियाँ उन पर प्राण देती हैं। तुम-जैसे सोहदों के भाग में पत्तल चाटना लिखा है, चाटो; मगर खबरदार, आज से मेरे घर में पाँव न रखना, नहीं तो जान से हाथ धोओगे। बस, निकल जाओ।

उसके मुख पर ऐसा तेज, स्वर में इतनी कटुता थी कि राजा को जबान खोलने का भी साहस न हुआ। चुपके से निकल भागा।

WE KNOW THE

— x — x —

मृतक-भोज

सेठ रामनाथ ने रोग-शय्या पर पड़े-पड़े निराशा-पूर्ण दृष्टि से अपनी स्त्री सुशीला की ओर देखकर कहा—मैं बड़ा अभागा हूँ, शीला। मेरे साथ तुम्हें सदैव ही दुख भोगना पड़ा। जब घर में कुछ न था, तो दिन-रात गृहस्थी के धन्धों और बच्चों के लिए मरती थीं। जब जरा कुछ सँभला और तुम्हारे आराम करने के दिन आये, तो यों छोड़े चला जा रहा हूँ। आज तक मुझे आशा थी; पर आज वह आशा टूट गयी। देखो शीला, रोओ मत। संसार में सभी मरते हैं, कोई दो साल आगे, कोई दो साल पीछे। अब गृहस्थी का भार तुम्हारे ऊपर है। मैंने रुपये नहीं छोड़े; लेकिन जो कुछ है, उससे तुम्हारा जीवन किसी तरह कट जायगा....यह राजा क्यों रो रहा है?

सुशीला ने आँसू पोंछकर कहा—जिद्दी हो गया है और क्या। आज सबेरे से रट लगाये हुए है कि मैं मोटर लूँगा। ५) से कम में आयेगी मोटर?

सेठजी को इधर कुछ दिनों से दोनों बालकों पर बहुत स्नेह हो गया था। बोले—तो मँगा दो न एक। बेचारा कब से रो रहा है। क्या-क्या अरमान दिल में थे। सब धूल में मिल गये। रानी के लिए विलायती गुड़ियाँ भी मँगा दो। दूसरों के खिलौने देखकर तरसती रहती है। जिस धन को प्राणों से भी प्रिय समझा, वह अन्त को डाक्टरों ने खाया। बच्चे मुझे क्या याद करेंगे कि बाप था। अभागे बाप ने तो धन को लड़के-लड़की से प्रिय समझा। कभी पैसे की चीज भी लाकर नहीं दी।

अन्तिम समय जब संसार की असारता कठोर सत्य बनकर आँखों के सामने खड़ी हो जाती है, तो जो कुछ न किया, उसका खेद और जो कुछ किया, उस पर पश्चात्ताप, मन को उदार और निष्कपट बना देता है।

सुशीला ने राजा को बुलाया और उसे छाती से लगाकर रोने लगी। वह मातृस्नेह, जो पति की कृपणता से भीतर-ही-भीतर तड़पकर रह जाता था, इस समय जैसे खौल उठा। लेकिन मोटर के लिए रुपये कहाँ थे।

सेठजी ने पूछा—मोटर लोगे बेटा, अपनी अम्माँ से रुपये लेकर भैया के साथ चले जाओ। खूब अच्छी मोटर लाना।

राजा ने माता के आँसू और पिता का यह स्नेह देखा, तो उसका बालहठ जैसे पिघल गया। बोला—अभी नहीं लूँगा।

सेठजी ने पूछा—क्यों?

'जब आप अच्छे हो जायँगे तब लूँगा।'

सेठजी फूट फूटकर रोने लगे।

(२)

तीसरे दिन सेठ रामनाथ का देहान्त हो गया।

धनी के जीने से दुःख बहुतों को होता है, सुख थोड़ों को। उनके मरने से दुःख थोड़ों को होता है, सुख बहुतों को। महाब्राह्मणों की मण्डली अलग सुखी है, पण्डितजी अलग खुश हैं, और शायद बिरादरी के लोग भी प्रसन्न हैं; इसलिए कि एक बराबर का आदमी कम हुआ। दिल से एक काँटा दूर हुआ। और पट्टीदारों का तो पूछना ही क्या। अब वह पुरानी कसर निकालेंगे। हृदय को शीतल करने का ऐसा अवसर बहुत दिनों के बाद मिला है।

आज पाँचवाँ दिन है। वह विशाल भवन सूना पड़ा है। लड़के न रोते हैं, न हँसते हैं। मन मारे माँ के पास बैठे हैं और विधवा भविष्य की अपार चिन्ताओं के भार से दबी हुई निर्जीव-सी पड़ी है। घर में जो रुपये बच रहे थे, वे दाह-क्रिया की भेंट हो गये और अभी सारे संस्कार बाकी पड़े हैं। भगवान्, कैसे बेड़ा पार लगेगा।

किसी ने द्वार पर आवाज दी। महरा ने आकर सेठ धनीराम के आने की सूचना दी। दोनों बालक बाहर दौड़े। सुशीला का मन भी एक क्षण के लिए हरा हो गया। सेठ धनीराम बिरादरी के सरपंच थे। अबला का क्षुब्ध हृदय सेठजी की इस कृपा से पुलकित हो उठा। आखिर बिरादरी के मुखिया हैं। ये लोग अनाथों को खोज-खबर न लें, तो कौन ले। धन्य हैं ये पुण्यात्मा लोग, जो मुसीबत में दीनों की रक्षा करते हैं!

यह सोचती हुई सुशीला घूँघट निकाले बरोठे में आकर खड़ी हो गयी। देखा तो धनीरामजी के अतिरिक्त और भी कई सज्जन खड़े हैं।

धनीराम बोले—बहूजी, भाई रामनाथ की अकाल-मृत्यु से हम लोगों को जो दुःख हुआ है, वह हमारा दिल ही जानता है। अभी उनकी उम्र ही क्या थी; लेकिन भगवत की इच्छा। अब तो हमारा यही धर्म है कि ईश्वर पर भरोसा रखें और आगे के लिए कोई राह निकालें। काम ऐसा करना चाहिए कि घर की आबरू भी बनी रहे और भाईजी की आत्मा संतुष्ट भी हो।

कुबेरदास ने सुशीला को कनखियों से देखते हुए कहा—मर्यादा बड़ी चीज है। उसकी रक्षा करना हमारा धर्म है। लेकिन कमली के बाहर पाँव निकालना भी तो उचित नहीं। कितने रुपये हैं तेरे पास, बहू? क्या कहा, कुछ नहीं!

सुशीला—घर में रुपये कहाँ हैं, सेठजी। जो थोड़े-बहुत थे, वह बीमारी में उठ गये।

धनीराम—तो यह नयी समस्या खड़ी हुई। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए, कुबेरदासजी?

कुबेरदास—जैसे हो, भोज तो करना ही पड़ेगा। हाँ, अपनी सामर्थ्य देख-कर काम करना चाहिए। मैं कर्ज लेने को न कहूँगा। हाँ, घर में जितने रुपयों का प्रबन्ध हो सके, उसमें हमें कोई कसर न छोड़नी चाहिए। मृत जीव के साथ भी तो हमारा कुछ कर्तव्य है। अब तो वह फिर कभी न आयेगा, उससे सदैव के लिए नाता टूट रहा है। इसलिए सब कुछ हैसियत के मुताबिक होना चाहिए। ब्राह्मणों को तो वही पड़ेगा कि मर्यादा का निर्वाह हो।

धनीराम—तो क्या तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, बहूजी? दो-चार हजार भी नहीं!

सुशीला—मैं आपसे सत्य कहती हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है। ऐसे समय झूठ बोलूँगी?

धनीराम ने कुबेरदास की ओर अर्ध-अविश्वास से देखकर कहा—तब तो यह मकान बेचना पड़ेगा।

कुबेरदास—इसके सिवा और क्या हो सकता है। नाक कटाना तो अच्छा नहीं। रामनाथ का कितना नाम था, बिरादरी के स्तंभ थे। यही इस समय एक उपाय है। २० हजार मेरे आते हैं। सूद-बट्टा लगाकर कोई २५ हजार मेरे हो

जायँगे। बाकी भोज में खर्च हो जायगा। अगर कुछ बच रहा, तो बाल-बच्चों के काम आ जायगा।

घनीराम—आपके यहाँ कितने पर घर बंधक रखा था?

कुबेर०—२० हजार पर। रुपये सैकड़े सूद।

घनी०—मैंने तो कुछ कम सुना है।

कुबेर०—उसका तो रेहननामा रखा है। जबानी बातचीत थोड़े ही है। मैं दो-चार हजार के लिए झूठ नहीं बोलूँगा।

घनी०—नहीं-नहीं यह मैं कब कहता हूँ। तो तूने सुन लिया, बाई! पंचों की सलाह है कि मकान बेच दिया जाय।

सुशीला का छोटा भाई संतलाल भी इसी समय आ पहुँचा। यह अन्तिम वाक्य उसके कान में पड़ गया। बोल उठा—किस लिए मकान बेच दिया जाय? बिरादरी के भोज के लिए? बिरादरी तो खा-पीकर राह लेगी, इन अनाथों की रक्षा कैसे होगी? इनके भविष्य के लिए भी तो कुछ सोचना चाहिए।

घनीराम ने कोप-भरी आँखों से देखकर कहा—आपको इन मामलों में टाँग अड़ाने का कोई अधिकार नहीं। केवल भविष्य की चिन्ता करने से काम नहीं चलता। मृतक का पीछा भी किसी तरह सुधारना ही पड़ता है। आपका क्या बिगड़ेगा। हँसी तो हमारी होगी। संसार में मर्यादा से प्रिय कोई वस्तु नहीं। मर्यादा के लिए प्राण तक दे देते हैं। जब मर्यादा ही न रही, तो क्या रहा। अगर हमारी सलाह पूछोगे, तो हम यही कहेंगे। आगे बाई का अखतियार है, जैसा चाहे करे; पर हमसे कोई सरोकार न रहेगा। चलिए कुबेरदासजी, चलें।

सुशीला ने भयभीत होकर कहा—भैया की बातों का विचार न कीजिए, इनकी तो यह आदत है। मैंने तो आपकी बात नहीं टाली, आप मेरे बड़े हैं। घर का हाल आपको मालूम है। मैं अपने स्वामी की आत्मा को दुखी करना नहीं चाहती; लेकिन जब उनके बच्चे ठोकरें खायेंगे, तो क्या उनकी आत्मा दुखी न होगी? बेटी का ब्याह करना ही है। लड़के को पढ़ाना-लिखाना है ही। ब्राह्मणों को खिला दीजिए; लेकिन बिरादरी करने की मुझमें सामर्थ नहीं है।

दोनों महानुभावों को जैसे थप्पड़ लगा—इतना बड़ा अधर्म! भला ऐसी बात भी जबान से निकाली जाती है। पंच लोग अपने मुँह में कालिख न लगने देंगे। दुनिया विधवा को न हँसेगी, हँसी होगी पंचों की। यह जगहँसाई वे कैसे सह सकते हैं। ऐसे घर के द्वार पर झाँकना भी पाप है।

सुशीला रोकर बोली—मैं अनाथ हूँ, नादान हूँ, मुझपर क्रोध न कीजिए। आप लोग ही मुझे छोड़ देंगे, तो मेरा कैसे निर्वाह होगा।

इतने में दो महाशय और आ विराजे। एक बहुत मोटे और दूसरे बहुत दुबले। नाम भी गुणों के अनुसार ही—भीमचन्द और दुर्बलदास। धनीराम ने संक्षेप में यह परिस्थिति उन्हें समझा दी। दुर्बलदास ने सहृदयता से कहा—तो ऐसा क्यों नहीं करते कि हम लोग मिलकर कुछ रुपये दे दें। जब इसका लड़का सयाना हो जायगा, तो रुपये मिल ही जायँगे। अगर न भी मिलें, तो एक मित्र के लिए कुछ बल खा जाना कोई बड़ी बात नहीं।

संतलाल ने प्रसन्न होकर कहा—इतनी दया आप करेंगे, तो क्या पूछना।

कुबेरदास त्योरी चढ़ाकर बोले—तुम तो बे-सिर-पैर की बातें करने लगे; दुर्बलदास जी। इस वखत के बाजार में किसके पास फालतू रुपये रखे हुए हैं।

भीमचंद—सो तो ठीक है; बाजार की ऐसी मंदी तो कभी देखी नहीं; पर निबाह तो करना चाहिए।

कुबेरदास अकड़ गये। वह सुशीला के मकान पर दाँत लगाये हुए थे। ऐसी बातों से उनके स्वार्थ में बाधा पड़ती थी। वह अपने रुपये अब वसूल करके छोड़ेंगे। औरतों के झमेले में नहीं पड़ेंगे।

भीमचन्द ने उन्हें किसी तरह सचेत किया; लेकिन भोज तो देना ही पड़ेगा। उस कर्तव्य का पालन न करना समाज की नाक काटना है।

सुशीला ने दुर्बलदास में सहृदयता का आभास देखा। उनकी ओर दीन नेत्रों से देखकर बोली—मैं आप लोगों से बाहर थोड़े ही हूँ। आप लोग मालिक हैं, जैसा उचित समझें वैसा करें।

दुर्बलदास—तेरे पास कुछ थोड़े बहुत गहने तो होंगे, बाई?

'हाँ गहने हैं। आधे तो बीमारी में बिक गये, आधे बचे हैं।' सुशीला ने

सारे गहने लाकर पंचों के सामने रख दिये; पर यह तो मुश्किल से तीन हजार में उठेंगे।

दुर्बलदास ने पोटली को हाथ में तौलकर कहा—तीन हजार को कैसे जायँगे। मैं साढ़े तीन हजार दिला दूँगा।

भीमचन्द ने फिर पोटली को तौलकर कहा—मेरी बोली चार हजार की है।

कुबेरदास को मकान की बिक्री का प्रश्न छेड़ने का अवसर फिर मिला—चार हजार ही में क्या हुआ जाता है। बिरादरी का भोज है या दोष मिटाना है। बिरादरी में कम-से-कम दस हजार का खरचा है। मकान तो निकालना ही पड़ेगा।

सन्तलाल ने ओठ-चबाकर कहा—मैं कहता हूँ, आप लोग क्या इतने निर्दयी हैं! आप लोगों को अनाथ बालकों पर भी दया नहीं आती! क्या उन्हें रास्ते का भिखारी बनाकर छोड़ेंगे?

लेकिन संतलाल की फरियाद पर किसी ने ध्यान न दिया। मकान की बातचीत अब नहीं टाली जा सकती थी। बाजार मंदा है। ३० हजार से बेसी नहीं मिल सकते, २५ हजार तो कुबेरदास के हैं। पाँच हजार बचेंगे। चार हजार गहनों से आ जायँगे। इस तरह ९ हजार में बड़ी किफायत से ब्रह्म-भोज और बिरादरी भोज दोनों निपटा दिये जायँगे।

सुशीला ने दोनों बालकों को सामने करके करबद्ध होकर कहा—पंचों, मेरे बच्चों का मुँह देखिए। मेरे घर में जो कुछ है, वह आप सब ले लीजिए, लेकिन मकान छोड़ दीजिए—मुझे कहीं ठिकाना न मिलेगा। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ मकान इस समय न बेचें।

इस मूर्खता का क्या जवाब दिया जाय। पंच लोग तो खुद चाहते थे कि मकान न बेचना पड़े। उन्हें अनाथों से कोई दुश्मनी नहीं थी; किन्तु बिरादरी का भोज और किस तरह किया जाय। अगर विधवा कम से-कम पाँच हजार का जोगाड़ और कर दे, तो मकान बच सकता है; पर जब वह ऐसा नहीं कर सकती, तो मकान बेचने के सिवा और तो कोई उपाय नहीं।

कुबेरदास ने अन्त में कहा—देख बाई, बाजार की दशा इस समय

खराब है। रुपये किसी से उधार नहीं मिल सकते। बाल-बच्चों के भाग में लिखा होगा, तो भगवान और किसी हीले से देगा। हीले रोजी, बहाने मौत। बाल-बच्चों की चिंता मत कर। भगवान जिसको जन्म देते हैं, उसकी जीविका की जुगत पहले ही से कर देते हैं। हम तुझे समझाकर हार गये। अगर तू अब भी अपना हठ न छोड़ेगी, तो हम बात भी न पूछेंगे। फिर यहाँ तेरा रहना मुश्किल हो जायगा। शहरवाले तेरे पीछे पड़ जाएँगे।

विधवा सुशीला अब और क्या करती। पंचों से लड़कर वह कैसे रह सकती थी। पानी में रहकर मगर से कौन वैर कर सकता है। घर में जाने के लिए उठी पर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी। अभी तक आशा सँभाले हुई थी। बच्चों के पालन-पोषण में वह अपना वैधव्य भूल सकती थी; पर अब तो अंधकार था, चारों ओर।

(३)

सेठ रामनाथ के मित्रों का उनके घर पर पूरा अधिकार था। मित्रों का अधिकार न हो तो किसका हो। स्त्री कौन होती है। जब वह इतनी मोटी-सी बात नहीं समझती कि बिरादरी करना और धूम-धाम से दिल खोलकर करना लाजिमी बात है, तो उससे और कुछ कहना व्यर्थ है। गहने कौन खरीदे? भीमचन्द चार हजार दाम लगा चुके थे; लेकिन अब उन्हें मालूम हुआ कि उनसे भूल हुई थी। दुर्बलदास ने तीन हजार लगाये थे। इसलिए सौदा इन्हीं के हाथ हुआ। इस बात पर दुर्बलदास और भीमचन्द में तकरार भी हो गयी; लेकिन भीमचन्द को मुँह की खानी पड़ी। न्याय दुर्बल के पक्ष में था।

धनीराम ने कटाक्ष किया—देखो दुर्बलदास, माल तो ले जाते हो; पर तीन हजार से बेसी का है। मैं नीति की हत्या न होने दूँगा।

कुबेरदास बोले—अजी, तो घर में ही तो है, कहीं बाहर तो नहीं गया। एक दिन मित्रों की दावत हो जायगी!

इस पर चारों महानुभाव हँसे। इस काम से फुरसत पाकर अब मकान का प्रश्न उठा। कुबेरदास ३० हजार देने पर तैयार थे; पर कानूनी कार्रवाई किये बिना संदेह की गुंजाइश थी। यह गुंजाइश क्योंकर रखी जाय। एक दलाल

बुलाया गया। नाटा सा आदमी था, पोपला मुँह, कोई ७० की अवस्था। नाम था चोखेलाल।

कुबेरदास ने कहा—चोखेलालजी से हमारी तीस साल की दोस्ती है। आदमी क्या रत्न हैं।

भीमचंद—देखो चोखेलाल, हमें यह मकान बेचना है। इसके लिए कोई अच्छा ग्राहक लाओ। तुम्हारी दलाली पक्की।

कुबेरदास—बाजार का हाल अच्छा नहीं है; लेकिन फिर भी हमें यह तो देखना पड़ेगा कि रामनाथ के बाल-बच्चों को टोटा न हो। (चोखेलाल के कान में) तीस से आगे न जाना।

भीमचन्द—देखिए कुबेरदास, यह अच्छी बात नहीं है।

कुबेरदास—तो मैं क्या कर रहा हूँ। मैं तो यही कह रहा था कि अच्छे दाम लगवाना।

चोखेलाल—आप लोगों को मुझसे यह कहने की जरूरत नहीं। मैं अपना धर्म समझता हूँ। रामनाथजी मेरे भी मित्र थे। मुझे यह भी मालूम है कि इस मकान के बनवाने में एक लाख से कम एक पाई भी नहीं लगे, लेकिन बाजार का हाल क्या आप लोगों से छिपा है। इस समय इसके २५ हजार से बेसी नहीं मिल सकते। सुभीते से तो कोई ग्राहक से दस-पाँच हजार और मिल जायँगे; लेकिन इस समय तो २५ हजार भी मुश्किल से मिलेंगे। लो दही और लाव दही की बात है।

धनीराम—२५ हजार तो बहुत कम हैं भाई, और न सही ३० हजार तो करा दो।

चोखेलाल—३० क्या मैं तो ४० करा दूँ, पर कोई ग्राहक तो मिले। आप लोग कहते हैं तो मैं ३० हजार की बातचीत करूँगा।

धनीराम—जब तीस हजार में ही देना है तो कुबेरदासजी ही क्यों न ले लें। इतना सस्ता माल दूसरों को क्यों दिया जाय।

कुबेरदास—आप सब लोगों की राय हो, तो ऐसा ही कर लिया जाय।

धनीराम ने 'हाँ, हाँ' कहकर हामी भरी। भीमचंद मन में ऐंठकर रह गये। यह सौदा भी पक्का हो गया। आज ही वकील ने बैनामा लिखा।

तुरन्त रजिस्ट्री भी हो गयी। सुशीला के सामने बैनामा लाया गया, तो उसने एक ठण्डी साँस ली और सजल नेत्रों से उस पर हस्ताक्षर कर दिये। अब उसे उसके सिवा और कहीं शरण नहीं है। बेवफा मित्र की भाँति यह घर भी सुख के दिनों में साथ देकर दुःख के दिनों में उसका साथ छोड़ रहा है।

पंच लोग सुशीला के आँगन में बैठे बिरादरी के रुक्के लिख रहे हैं और अनाथ विधवा ऊपर झरोखे पर बैठी भाग्य को रो रही है। इधर रुक्का तैयार हुआ, उधर विधवा की आँखों से आँसू की बूँदें निकलकर रुक्के पर गिर पड़ीं।

धनीराम ने ऊपर देखकर कहा—पानी का छींटा कहाँ से आया ?

सन्तलाल—बाई बैठी रो रही है। उसने रुक्के पर अपने रक्त के आँसुओं की मुहर लगा दी है।

धनीराम—(ऊँचे स्वर में) अरे, तो तू रो क्यों रही है, बाई ? यह रोने का समय नहीं है, तुझे तो प्रसन्न होना चाहिए कि पंच लोग तेरे घर में आज यह शुभ-कार्य करने के लिए जमा हैं। जिस पति के साथ तूने इतने दिनों भोग-विलास किया, उसी का पीछा सुधारने में तू दुःख मानती है ?

बिरादरी में रुक्का फिरा। इधर तीन-चार दिन पंचों ने भोज की तैयारियों में बिताये। घी धनीरामजी की आढ़त से आया। मैदा, चीनी की आढ़त भी उन्हीं की थी। पाँचवें दिन प्रातःकाल ब्रह्मभोज हुआ। सन्ध्या-समय बिरादरी का ज्योनार। सुशीला के द्वार पर बग्घियों और मोटरों की कतारें खड़ी थीं। भीतर मेहमानों की पंगतें थी। आँगन, बैठक, दालान, बरोठा, ऊपर की छत नीचे-ऊपर मेहमानों से भरा हुआ था। लोग भोजन करते थे और पंचों को सराहते थे।

खर्च तो सभी करते हैं ; पर इन्तजाम का सलीका चाहिए। ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ बहुत कम खाने में आते हैं।

'सेठ चम्पाराम के भोज के बाद ऐसा भोज रामनाथजी का ही हुआ है।'

'अमृतियाँ कैसी कुरकुरी हैं !'

'रसगुल्ले मेवों से भरे हैं।'

'सारा श्रेय पंचों को है।'

धनीराम ने नम्रता से कहा—आप भाइयों की दया है जो

रामनाथ से भाई चारे का व्यवहार था। हम न करते तो कौन करता। चार दिन से सोना नसीब नहीं हुआ।

'आप धन्य हैं! मित्र हों तो ऐसे हों।'

'क्या बात है! आपने रामनाथजी का नाम रख लिया। बिरादरी यही खाना खिलाना देखती है। रोकड़ देखने नहीं आती।'

मेहमान लोग बखान-बखानकर तर माल उड़ा रहे थे और उधर कोठरी में बैठी हुई सुशीला सोच रही थी—संसार में ऐसे स्वार्थी लोग हैं! सारा संसार स्वार्थमय हो गया है! सब पेटों पर हाथ फेर-फेर कर भोजन कर रहे हैं। कोई इतना भी नहीं पूछता कि अनाथों के लिए भी कुछ बचा या नहीं।

(४)

एक महीना गुजर गया। सुशीला को एक-एक पैसे की तंगी हो रही थी। नकद था ही नहीं, गहने निकल ही गये थे। अब थोड़े से बरतन बच रहे थे। उधर छोटे-छोटे बहुत-से बिल चुकाने थे। कुछ रुपये डाक्टर के, कुछ दरजी के, कुछ बनियों के। सुशीला को यह रकमें घर का बचा-खुचा सामान बेचकर चुकानी पड़ीं। और महीना पूरा होते-होते उसके पास कुछ न बचा। बेचारा सन्तलाल एक दूकान पर मुनीम था। कभी-कभी वह आकर एक आध रुपया दे देता। इधर खर्च का हाथ फैला हुआ था। लड़के अवस्था को समझते थे। माँ को छेड़ते न थे; पर मकान के सामने से कोई खोंचेवाला निकल जाता और वे दूसरे लड़कों को फल या मिठाइयाँ खाते देखते, तो उनके मुँह में पानी भरकर आँखों में भर जाता था। ऐसी ललचायी हुई आँखों से ताकते थे कि दया आती थी। वहीं बच्चे, जो थोड़े दिन पहले मेवे-मिठाई की ओर ताकते न थे, अब एक-एक पैसे की चीज को तरसते थे। वही सज्जन, जिन्होंने बिरादरी का भोज करवाया था, अब घर के सामने से निकल जाते; पर कोई झाँकता न था।

शाम हो गयी थी। सुशीला चूल्हा जलाये रोटियाँ सेंक रही थी और दोनों बालक चूल्हे के पास रोटियों को क्षुधित नेत्रों से देख रहे थे। चूल्हे के दूसरे ऐले पर दाल थी। दाल के पकने का इन्तजार था। लड़की ग्यारह साल की थी, लड़का आठ साल का।

मोहन अधीर होकर बोला—अम्माँ, मुझे रूखी रोटियाँ ही दे दो। बड़ी भूख लगी है।

सुशीला—अभी दाल कच्ची है भैया।

रेवती—मेरे पास एक पैसा है। मैं उसका दही लिये आती हूँ।

सुशीला—तूने पैसा कहाँ पाया?

रेवती—मुझे कल अपनी गुड़ियों की पेटारी में मिल गया था।

सुशीला—लेकिन जल्द आइयो।

रेवती दौड़कर बाहर गयी और थोड़ी देर में एक पत्ते पर जरा-सा दही ले आयी। माँ ने रोटी-सेंककर दे दी। मोहन दही से खाने लगा। आम लड़कों की भाँति वह भी स्वार्थी था। बहन से पूछा भी नहीं।

सुशीला ने कड़ी आँखों से देखकर कहा—बहन को भी दे दे। अकेला ही खा जायगा।

मोहन लज्जित हो गया। उसकी आँखें डबडबा आयीं।

रेवती बोली—नहीं अम्माँ, कितना मिला ही है। तुम खाओ मोहन, तुम्हें जल्दी नींद आ जाती है। मैं तो दाल पक जायगी तो खाऊँगी।

उसी वक्त दो आदमियों ने आवाज दी। रेवती ने बाहर जाकर पूछा। यह सेठ कुबेरदास के आदमी थे। मकान खाली कराने आये थे। क्रोध से सुशीला की आँखें लाल हो गयीं।

बरोठे में आकर कहा—अभी मेरे पति को पीछे हुए एक महीना भी नहीं हुआ, मकान खाली कराने की धुन सवार हो गयी। मेरा ५० हजार का घर ३० हजार में ले लिया, पाँच हजार सूद के उड़ाये, फिर भी तस्कीन नहीं होती। कह दो, मैं अभी खाली नहीं करूँगी।

मुनीम ने नम्रता से कहा—बाई जी, मेरा क्या अख्त्यार है। मैं तो केवल संदेसिया हूँ। जब चीज दूसरे की हो गयी, तो आपको छोड़नी ही पड़ेगी। झंझट करने से क्या मतलब।

सुशीला भी समझ गयी, ठीक ही कहता है। गाय हत्या के बल कै दिन खेत चरेगी। नर्म होकर बोली—सेठजी से कहो, मुझे दस-पाँच दिन की मुहलत

दें। लेकिन नहीं, कुछ मत कहो। क्यों दस-पाँच दिन के लिए किसी का एहसान लूँ। मेरे भाग्य में इस घर में रहना लिखा होता, तो निकलता ही क्यों।

मुनीम ने पूछा—तो कल सबेरे तक खाली हो जायगा?

सुशीला—हाँ, हाँ, कहती तो हूँ; लेकिन सबेरे तक क्यों, मैं अभी खाली किये देती हूँ। मेरे पास कौन सा बड़ा सामान ही है। तुम्हारे सेठजी का रात-भर का किराया मारा जायगा। जाकर ताला-वाला लाओ या लाये हो?

मुनीम—ऐसी क्या जल्दी है, बाई। कल सावधानी से खाली कर दीजिएगा।

सुशीला—कल का झगड़ा क्या रखूँ। मुनीमजी, आप जाइए, ताला लाकर डाल दीजिए। यह कहती हुई सुशीला अन्दर गयी, बच्चों को भोजन कराया, एक रोटी आप किसी तरह निगली, बरतन धोये, फिर एक एक्का मँगवाकर उसपर अपना मुख्तसर सामान लादा और भारी हृदय से उस घर से हमेशा के लिए विदा हो गयी।

जिस वक्त यह घर बनवाया था, मन में कितनी उमंगे थीं। इसके प्रवेश में कई हजार ब्राह्मणों का भोज हुआ था। सुशीला को इतनी दौड़ धूप करनी पड़ी थी कि वह महीने-भर बीमार रही थी। इसी घर में उसके दो लड़के मरे थे। यहीं उसका पति मरा था। मरने वालों की स्मृतियों ने उसकी एक-एक ईंट को पवित्र कर दिया था। एक-एक पत्थर मानों उसके हर्ष से सुखी और उसके शोक से दुखी होता था। वह घर आज उससे छूटा जा रहा है।

उसने रात एक पड़ोसी के घर में काटी और दूसरे दिन १०) महीने पर एक गली में दूसरा मकान ले लिया।

(५)

इस नये कमरे में इन अनाथों ने तीन महीने जिस कष्ट से काटे, वह समझनेवाले ही समझ सकते हैं। भला हो बेचारे संतलाल का। वह दस-पाँच रुपये से मदद कर दिया करता था। अगर सुशीला दरिद्र घर की होती, तो पिसाई करती, कपड़े सीती, किसी के घर में टहल करती; पर जिन कामों को बिरादरी नीचा समझती है, उनका सहारा कैसे लेती। नहीं तो लोग कहते, यह सेठ रामनाथ की स्त्री है! उस नाम की भी तो लाज रखनी थी। समाज के चक्रव्यूह से किसी तरह भी तो छुटकारा नहीं होता। लड़की के दो-एक

गहने बच रहे थे। वह भी बिक गये। जब रोटियों ही के लाले थे, तो घर का किराया कहाँ से आता। तीन महीने बाद घर का मालिक, जो उसी बिरादरी का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था और जिसने मृतक-भोज में खूब बढ़-बढ़कर हाथ मारे थे, अधीर हो उठा। बेचारा कितना धैर्य रखता। ३०) का मामला है, रुपये-आठ आने की बात नहीं है। इतनी बड़ी रकम नहीं छोड़ी जाती।

आखिर एक दिन सेठजी ने आकर लाल-लाल आँखें करके कहा—अगर तू किराया नहीं दे सकती, तो घर खाली कर दे। मैंने बिरादरी के नाते इतनी मुरौवत की। अब किसी तरह काम नहीं चल सकता।

सुशीला बोली—सेठजी, मेरे पास रुपये होते, तो पहले आपका किराया देकर तब पानी पीती। आपने इतनी मुरौवत की, इसके लिए मेरा सिर आपके चरणों पर है; लेकिन अभी मैं बिलकुल खाली-हाथ हूँ। यह समझ लीजिए कि एक भाई के बाल-बच्चों की परवरिश कर रहे हैं। और क्या कहूँ।

सेठ—चल-चल, इस तरह की बातें बहुत सुन चुका। बिरादरी का आदमी है, तो उसे चूस लो। कोई मुसलमान होता, तो उसे चुपके से महीने-महीने दे देती, नहीं तो उसने निकाल बाहर किया होता। मैं बिरादरी का हूँ, इसलिए मुझे किराया देने की दरकार नहीं। मुझे माँगना ही नहीं चाहिए। यही तो बिरादरी के साथ करना चाहिए।

इसी समय रेवती भी आकर खड़ी हो गयी। सेठजी ने उसे सिर से पाँव तक देखा और तब किसी कारण से बोले—अच्छा, यह लड़की तो सयानी हो गयी। कहीं इसकी सगाई की बातचीत नहीं की?

रेवती तुरन्त भाग गयी। सुशीला ने इन शब्दों में आत्मीयता की झलक पाकर पुलकित कंठ से कहा—अभी तो कहीं बातचीत नहीं हुई, सेठजी। घर का किराया तक तो अदा नहीं कर सकती, सगाई क्या करूँगी; फिर अभी छोटी भी तो है।

सेठजी ने तुरंत शास्त्रों का आधार दिया? कन्याओं के विवाह की यही अवस्था है। धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। किराये की कोई बात नहीं है। हमें क्या मालूम था कि सेठ रामनाथ के परिवार की यह दशा है।

सुशीला—तो आपकी निगाह में कोई अच्छा घर है! यह तो आप जानते ही हैं, मेरे पास लेने-देने को कुछ नहीं है।

झाबरमल—(इन सेठजी का यही नाम था)—लेने-देने का कोई झगड़ा नहीं होगा, बाईजी। ऐसा वर है कि लड़की आजीवन सुखी रहेगी। लड़का भी उसके साथ रह सकता है। कुल का सच्चा, हर तरह से सम्पन्न परिवार है। हाँ, वर दोहाजू (दुजवर) है।

सुशीला—उम्र अच्छी होनी चाहिए, दोहाजू होने से क्या होता है।

झाबरमल—उम्र भी कुछ ज्यादा नहीं, अभी चालीसवाँ ही साल है उसका, पर देखने में अच्छा हृष्ट-पुष्ट है। मर्द की उम्र उसका भोजन है। बस, यह समझ लो कि परिवार का उद्धार हो जायगा।

सुशीला ने अनिच्छा के भाव से कहा—अच्छा, मैं सोचकर जवाब दूँगी। एक बार मुझे दिखा देना।

झाबरमल—दिखाने को कहीं नहीं जाना है, बाई। वह तो तेरे सामने ही खड़ा है।

सुशीला ने घृणापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा। इस पचास साल के बुड्ढे की यह हवस! छाती का मांस लटककर नाभी तक आ पहुँचा है, फिर भी विवाह की धुन सवार है। यह दुष्ट समझता है कि प्रलोभनों में पड़कर मैं अपनी लड़की उसके गले बाँध दूँगी। वह अपनी बेटी को आजीवन क्वाँरी रखेगी; पर ऐसे मृतक से विवाह करके उसका जीवन नष्ट न करेगी; पर उसने अपने क्रोध को शांत किया। समय का फेर है, नहीं तो ऐसों को उससे ऐसा प्रस्ताव करने का साहस ही क्यों होता। बोली—आपकी इस कृपा के लिए आपको धन्यवाद देती हूँ, सेठजी; पर मैं कन्या का विवाह आपसे नहीं कर सकती।

झाबरमल—तो और क्या तू समझती है कि तेरी कन्या के लिए बिरादरी में कोई कुमार मिल जायगा?

सुशीला—मेरी लड़की क्वाँरी रहेगी।

झाबरमल—और रामनाथजी के नाम को कलंकित करेगी?

सुशीला—तुम्हें मुझसे ऐसी बातें करते लाज नहीं आती। नाम के लिए घर खोया, संपत्ति खोयी; पर कन्या कुएँ में नहीं डुबा सकती।

झाबरमल—तो मेरा केराया दे दे।

सुशीला—अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं।

झाबरमल ने भीतर घुसकर गृहस्थी की एक-एक वस्तु निकालकर गली में फेंक दी। घड़ा फूट गया, मटके टूट गये। संदूक के कपड़े बिखर गये। सुशीला तटस्थ खड़ी अपने अदिन की यह क्रूर क्रीड़ा देखती रही।

घर का यों विध्वंस करके झाबरमल ने घर में ताला डाल दिया और अदालत से रुपये वसूल करने की धमकी देकर चले गये।

(६)

बड़ों के पास धन होता है, छोटों के पास हृदय होता है। धन से बड़े-बड़े व्यापार होते हैं; बड़े-बड़े महल बनते हैं, नौकर-चाकर होते हैं, सवारी-शिकारी होती है; हृदय से समवेदना होती है, आँसू निकलते हैं।

उसी मकान से मिली हुई एक साग-भाजी बेचनेवाली खटकिन की दूकान थी। वृद्धा, विधवा, निपूती स्त्री थी, बाहर से आग, भीतर से पानी। झाबरमल को सैकड़ों सुनायीं और सुशीला को एक एक चीज उठाकर अपने घर में ले गयी। मेरे घर में रहो बहू। मुसीबत में आ गयी, नहीं तो इसकी मूँछें उखाड़ लेती। मौत सिर पर नाच रही है; आगे नाथ, न पीछे पगहा! और धन के पीछे मरा जाता है। जाने छाती पर लादकर ले जायगा। तुम चलो मेरे घर में रहो। मेरे यहाँ किसी बात का खटका नहीं। बस, मैं अकेली हूँ। एक टुकड़ा मुझे भी दे देना।

सुशीला ने डरते-डरते कहा—माता, मेरे पास सेर-भर आटे के सिवा और कुछ नहीं है। मैं तुम्हें केराया कहाँ से दूँगी।

बुढ़िया ने कहा—मैं झाबरमल नहीं हूँ बहू, न कुबेरदास हूँ। मैं तो समझती हूँ, जिन्दगी में सुख भी है, दुःख भी है। सुख में इतराओ मत, दुःख में घबड़ाओ मत। तुम्हीं से चार पैसे कमाकर अपना पेट पालती हूँ। तुम्हें उस दिन भी देखा था, जब तुम महल में रहती थी, और आज भी देख रही हूँ, जब तुम अनाथ हो। जो मिजाज तब था, वही अब है। मेरे धन्य भाग कि तुम मेरे घर में आओ। मेरी आँखें फूटी हैं, जो तुमसे केराया माँगने जाऊँगी!

इन सांत्वना से भरे हुए सरल शब्दों ने सुशीला के हृदय का बोझ हल्का कर दिया। उसने देखा, सच्ची सज्जनता भी दरिद्रों और नीचों ही के पास रहती है। बड़ों की दया भी होती है, अहंकार का दूसरा रूप!

इस खटकिन के साथ रहते हुए सुशीला को छः महीने हो गये थे। सुशीला का उससे दिन-दिन स्नेह बढ़ता जाता था। वह जो कुछ पाती, लाकर सुशीला के हाथ में रख देती। दोनों बालक उसकी दो आँखें थीं। मजाल न थी कि पड़ोस का कोई आदमी उन्हें कड़ी आँखों से देख ले। बुढ़िया दुनिया सिर पर उठा लेती। सन्तलाल हर महीने कुछ-न-कुछ दे दिया करता था। इससे रोटी दाल चली जाती थी।

कातिक का महीना था—ज्वर का प्रकोप हो रहा था। मोहन एक दिन खेलता-कूदता बीमार पड़ गया और तीन दिन तक अचेत पड़ा रहा। ज्वर इतने जोर का था कि पास खड़े रहने से लपट-सी निकलती थी। बुढ़िया ओझे-सयानों के पास दौड़ती फिरती थी; पर ज्वर उतरने का नाम न लेता था। सुशीला को भय हो रहा था, यह टाइफाइड है। इससे उसके प्राण सूख रहे थे।

चौथे दिन उसने रेवती से कहा—बेटी, तूने बड़े पंचजी का घर तो देखा है। जाकर उनसे कह भैया बीमार हैं, कोई डाक्टर भेज दें।

रेवती को कहने भर की देर थी। दौड़ती हुई सेठ कुबेरदास के पास गयी।

कुबेरदास बोले—डाक्टर की फीस १६) है। तेरी माँ दे देगी?

रेवती ने निराश होकर कहा—अम्माँ के पास रुपये कहाँ हैं?

कुबेर०—तो फिर किस मुँह से मेरे डाक्टर को बुलाती है। तेरा मामा कहाँ है? उनसे जाकर कह, सेवा समिति से कोई डाक्टर बुला ले जायँ, नहीं तो खैराती अस्पताल में क्यों नहीं लड़के को ले जाती? या अभी वही पुरानी बू समायी हुई है। कैसी मूर्ख स्त्री है, घर में टका नहीं और डाक्टर का हुकुम लगा दिया। समझती होगी, फीस पंचजी दे देंगे। पंचजी क्यों फीस दें? बिरादरी का धन धर्म-कार्य के लिए है, यों उड़ाने के लिए नहीं है।

रेवती माँ के पास लौटी, पर जो कुछ सुना था, वह उससे न कह सकी। घाव पर नमक क्यों छिड़के। बहाना कर दिया; बड़े पंचजी कहीं गये हैं।

सुशीला—तो मुनीम से क्यों नहीं कहा? यहाँ क्या कोई मिठाई खाये जाता था, जो दौड़ी चली आयी?

इसी वक्त संतलाल एक वैद्य जी को लेकर आ पहुँचा।

(७)

वैद्यजी भी एक दिन आकर दूसरे दिन न लौटे। सेवा-समिति के डाक्टर भी दो दिन बड़ी मिन्नतों से आये। फिर उन्हें भी अवकाश न रहा और मोहन की दशा दिनोंदिन बिगड़ती जाती थी। महीना बीत गया; पर ज्वर ऐसा चढ़ा कि एक क्षण के लिए भी न उतरा। उसका चेहरा इतना सूख गया था कि देखकर दया आती थी। न कुछ बोलता, न कहता, यहाँ तक कि करवट भी न बदल सकता था। पड़े-पड़े देह की खाल फट गयी, सिर के बाल गिर गये। हाथ-पाँव लकड़ी हो गये। सन्तलाल काम से छुट्टी पाता तो आ जाता, पर इससे क्या होता, तीमारदारी दवा तो नहीं है।

एक दिन सन्ध्या समय उसके हाथ ठण्डे हो गये। माता के प्राण पहले ही से सूखे हुए थे। यह हाल देखकर रोने-पीटने लगी। मन्नतें तो बहुतेरी हो चुकी थीं। रोती हुई मोहन की खाट के सात फेरे करके हाथ बाँधकर बोली - भगवन्! यही मेरे जन्म की कमाई है। अपना सर्वस्व खोकर भी मैं बालक को छाती से लगाये हुए सन्तुष्ट थी; लेकिन यह चोट न सही जायगी। तुम इसे अच्छा कर दो। इसके बदले मुझे उठा लो। बस, मैं यही दया चाहती हूँ, दयामय!

संसार के रहस्य को कौन समझ सकता है? क्या हममें से बहुतों को यह अनुभव नहीं कि जिस दिन हमने बेईमानी करके कुछ रकम उड़ायी, उसी दिन उस रकम का दुगुना नुकसान हो गया। सुशीला को उसी दिन रात को ज्वर आ गया और उसी दिन मोहन का ज्वर उतर गया। बच्चे की सेवा-शुश्रूषा में आधी तो यों ही रह गयी थी, इस बीमारी ने ऐसा पकड़ा कि फिर न छोड़ा। मालूम नहीं, देवता बैठे सुन रहे थे या क्या, उसकी याचना अक्षरशः पूरी हुई। पन्द्रहवें दिन मोहन चारपाई से उठकर माँ के पास आया और उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। माता ने उसके गले में बाँहें डालकर उसे छाती से लगा लिया और बोली—क्यों रोते हो बेटा! मैं अच्छी हो जाऊँगी। अब मुझे क्या चिंता। भगवान पालनेवाले हैं। वही तुम्हारे रक्षक हैं। वही तुम्हारे पिता हैं। अब मैं सब तरफ से निश्चिन्त हूँ। जल्द अच्छी हो जाऊँगी।

मोहन बोला—जिया तो कहती है, अम्माँ अब न अच्छी होंगी।

सुशीला ने बालक का चुम्बन लेकर कहा—जिया पगली है, उसे कहने

दो। मैं तुम्हें छोड़कर कहीं न जाऊँगी। मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। हाँ, जिस दिन तुम कोई अपराध करोगे, किसी की कोई चीज उठा लोगे, उसी दिन मैं मर जाऊँगी !

मोहन ने प्रसन्न होकर कहा—तो तुम मेरे पास से कभी नहीं जाओगी माँ ?

सुशीला ने कहा—कभी नहीं बेटा, कभी नहीं।

उसी रात को दुःख और विपत्ति की मारी हुई यह अनाथ विधवा दोन् अनाथ बालकों को भगवान पर छोड़कर परलोक सिधार गयी।

(८)

इस घटना को तीन साल हो गये हैं, मोहन और रेवती दोनों उसी वृद्धा के पास रहते हैं। बुढ़िया माँ तो नहीं है; लेकिन माँ से बढ़कर है। रोज मोहन को रात की रुखी रोटियाँ खिलाकर गुरुजी की पाठशाला में पहुँचा आती है। छुट्टी के समय जाकर लिवा आती है। रेवती का अब चौदहवाँ साल है। वह घर का सारा काम—पीसना-कूटना, चौका-बरतन, झाड़ू-बहारू—करती है। बुढ़िया सौदा बेचने चली जाती है, तो वह दूकान पर भी आ बैठती है।

एक दिन बड़े पंच सेठ कुबेरदास ने उसे बुला भेजा और बोले—तुझे दूकान पर बैठते शर्म नहीं आती, सारी बिरादरी की नाक कटा रही है ! खबरदार, जो कल से दूकान पर बैठी। मैंने तेरे पाणिग्रहण के लिए झाबरमल, जी को पक्का कर लिया है।

सेठानी ने समर्थन किया—तू अब सयानी हुई बेटी, अब तेरा इस तरह बैठना अच्छा नहीं। लोग तरह-तरह की बातें करने लगते हैं। सेठ झाबरमल तो राजी ही न होते थे, हमने बहुत कह-सुनकर राजी किया है। बस, समझ ले कि रानी हो जायगी। लाखों की सम्पत्ति है, लाखों की। तेरे धन्य भाग कि ऐसा वर मिला। तेरा छोटा भाई है, उसको भी कोई दूकान करा दी जायगी।

सेठ—बिरादरी की कितनी बदनामी है !

सेठानी—है ही।

रेवती ने लज्जित होकर कहा—मैं क्या जानूँ, आप मामा से कहें।

सेठ (बिगड़कर)—वह कौन होता है ! टके पर मुनीमी करता है। उससे मैं क्या पूछूँ। मैं बिरादरी का पंच हूँ। मुझे अधिकार है, जिस काम से बिरादरी

का कल्याण देखूँ, वह करूँ। मैंने और पंचों से राय ले ली है। सब मुझसे सहमत हैं। अगर तू यों नहीं मानेगी, तो हम अदालती कार्रवाई करेंगे। तुझे खरच-वरच का काम होगा, यह लेती जा।

यह कहते हुए उन्होंने २०) के नोट रेवती की तरफ फेंक दिये।

रेवती ने नोट उठाकर वहीं पुरजे-पुरजे कर डाले और तमतमाये मुख से बोली—बिरादरी ने तब हम लोगों की बात न पूछी, जब हम रोटियों को मुहताज थे। मेरी माता मर गयीं, कोई झाँकने तक न गया। मेरा भाई बीमार हुआ, किसी ने खबर तक न ली। ऐसी बिरादरी की मुझे परवाह नहीं है।

रेवती चली गयी, तो झाबरमल कोठरी से निकल आये। चेहरा उदास था।

सेठानी ने कहा—लड़की बड़ी घमंडिन है। आँख का पानी मर गया है।

झाबरमल—बीस रुपये खराब हो गये। ऐसा फाड़ा है कि जुड़ भी नहीं सकते।

कुबेरदास—तुम घबड़ाओ नहीं; मैं इसे अदालत से ठीक करूँगा। जाती कहाँ है।

झाबरमल—अब तो आपका ही भरोसा है।

बिरादरी के बड़े पंच की बात कहीं मिथ्या हो सकती है? रेवती नाबालिग थी। माता-पिता नहीं थे। ऐसी दशा में पंचों का उसपर पूरा अधिकार था। वह बिरादरी के दबाव में नहीं रहना चाहती है, न चाहे। कानून बिरादरी के अधिकार की उपेक्षा नहीं कर सकता।

संतलाल ने यह माजरा सुना, तो दाँत पीसकर बोले—न जाने इस बिरादरी का भगवान कब अंत करेंगे।

रेवती—क्या बिरादरी मुझे जबरदस्ती अपने अधिकार में ले सकती है?

संतलाल—हाँ बेटी धनिकों के हाथ में तो कानून भी है।

रेवती—मैं कह दूँगी कि मैं उनके पास नहीं रहना चाहती।

संतलाल—तेरे कहने से क्या होगा। तेरे भाग्य में यही लिखा था, तो किसका बस है। मैं जाता हूँ बड़े पंच के पास।

रेवती—नहीं मामाजी, तुम कहीं न जाव। जब भाग्य ही का भरोसा है, तो जो कुछ भाग्य में लिखा होगा वह होगा।

रात तो रेवती ने घर में काटी। बार-बार निद्रा मग्न भाई को गले लगाती। यह अनाथ अकेला कैसे रहेगा, यह सोचकर उसका मन कायर हो जाता; पर झाबरमल की सूरत याद करके उसका संकल्प दृढ़ हो जाता।

प्रातःकाल रेवती गंगा-स्नान करने गयी। यह इधर कई महीनों से उसका नित्य का नियम था। आज जरा अँधेरा था; पर यह कोई सन्देह की बात न थी। सन्देह तब हुआ, जब आठ बज गये और वह लौटकर न आयी। तीसरे पहर सारी बिरादरी में खबर फैल गई—सेठ रामनाथ की कन्या गंगा में डूब गई। उसकी लाश पायी गई।

कुबेरदास ने कहा—चलो, अच्छा हुआ; बिरादरी की बदनामी तो न होगी।

झाबरमल ने दुखी मन से कहा—मेरे लिए अब कोई और उपाय कीजिए।

उधर मोहन सिर पीट-पीटकर रो रहा था और बुढ़िया उसे गोद में लिये समझा रही थी—बेटा, उस देवी के लिए क्यों रोते हो। जिन्दगी में उसके दुख-ही-दुख था। अब वह अपनी माँ की गोद में आराम कर रही है।

BHOOT

भूत

मुरादाबाद के पंडित सीतानाथ चौबे गत ३० वर्षों से वहाँ के वकीलों के नेता हैं। उनके पिता उन्हें बाल्यावस्था में ही छोड़कर परलोक सिधारे थे। घर में कोई संपत्ति न थी। माता ने बड़े-बड़े कष्ट झेलकर उन्हें पाला और पढ़ाया। सबसे पहले वह कचहरी में १५) मासिक पर नौकर हुए। फिर वकालत की परीक्षा दी। पास होगये। प्रतिभा थी, दो-ही-चार वर्षों में वकालत चमक उठी। जब माता का स्वर्गवास हुआ तब पुत्र का शुमार जिले के गण्य-मान्य व्यक्तियों में हो गया था। उनकी आमदनी एक हजार रुपये महीने से कम न थी। एक विशाल भवन बनवा लिया था, कुछ जमींदारी ले ली थी, कुछ रुपये बैंक में रख दिये थे, और कुछ लेन-देन में लगा दिये थे। इस समृद्धि पर चार पुत्रों का होना उनके भाग्य को आदर्श बनाये हुए था। चारों लड़के भिन्न-भिन्न दर्जों में पढ़ते थे। मगर यह कहना कि सारी विभूति चौबेजी के अनवरत परिश्रम का फल थी, उनकी पत्नी मंगला देवी के साथ अन्याय करना है। मंगला बड़ी सरल गृह-कार्य में कुशल और पैसे का काम धेले में चलानेवाली स्त्री थी। जब तक अपना घर न बन गया, उसने ३) महीने से अधिक का मकान किराया पर नहीं लिया; और रसोई के लिए मिसराइन तो उसने अब तक न रखी थी। उसे अगर कोई व्यसन था, तो गहनों का; और चौबेजी को भी अगर कोई व्यसन था, तो स्त्री को गहने पहनाने का। वह सच्चे पत्नी-परायण मनुष्य थे। साधारणतः महफिलों में वेश्याओं से हँसी-मजाक कर लेना उतना बुरा नहीं समझा जाता; पर पंडितजी अपने जीवन में कभी नाच-गाने की महफिल में गये ही नहीं। पाँच बजे तड़के से लेकर बारह बजे रात तक उनका व्यसन, मनोरंजन पढ़ना-लिखना, अनुशीलन जो कुछ था, कानून था, न उन्हें राजनीति से प्रेम था, न जाति-सेवा से। ये सभी काम उन्हें व्यर्थ से जान पड़ते थे। उनके विचार में अगर कोई काम करने लायक था, तो बस, कचहरी जाना, बहस करना, रुपये जमा करना और भोजन करके सो रहना। जैसे वेदान्ती को ब्रह्म के अतिरिक्त

जगत् मिथ्या जान पड़ता है, वैसे ही चौबेजी को कानून के सिवा सारा संसार मिथ्या प्रतीत होता था। सब माया थी, एक कानून ही सत्य था।

(२)

चौबेजी के मुख-चंद्र में केवल एक कला की कमी थी। उनके कोई कन्या न थी। पहलौठी कन्या के बाद फिर कन्या हुई ही नहीं, और न अब होने की आशा ही थी। स्त्री और पुरुष, दोनों उस कन्या को याद करके रोया करते थे। लड़कियाँ बचपन में लड़कों से ज्यादा चोचले करती हैं। उन चोचलों के लिए दोनों प्राणी विकल रहते। मा सोचती, लड़की होती, तो उसके लिए गहने बनवाती, उसके बाल गूँथती। लड़की पैजनियाँ पहने ठुमुक-ठुमुक आँगन में चलती तो कितना आनंद आता! चौबे सोचते, कन्यादान के बिना मोक्ष कैसे होगा! कन्यादान महादान है। जिसने यह दान न दिया, उसका जन्म ही वृथा गया!

आखिर यह लालसा इतनी प्रबल हुई कि मंगला ने अपनी छोटी बहन को बुलाकर कन्या की भाँति पालने का निश्चय किया। उसके माँ-बाप निर्धन थे। राजी हो गये। यह बालिका मंगला की सौतेली माँ की कन्या थी। बड़ी सुन्दर और बड़ी चंचल थी। नाम था बिन्नी। चौबेजी का घर उसके आने से खिल उठा। दो चार ही दिनों में लड़की अपने मा-बाप को भूल गयी। उसकी उम्र तो केवल चार वर्ष की थी; पर उसे खेलने की अपेक्षा कुछ काम करना अच्छा लगता था। मंगला रसोई बनाने जाती तो बिन्नी भी उसके पीछे-पीछे जाती, उससे आटा गूँधने के लिए झगड़ा करती। तरकारी काटने में उसे बड़ा मजा आता था। जबतक वकील साहब घर पर रहते, तबतक वह उनके साथ दीवानखाने में बैठी रहती। कभी किताब उलटती, कभी दावात-कलम से खेलती। चौबेजी मुस्कराकर कहते—बेटी, मार खाओगी? बिन्नी कहती—तुम मार खाओगे, मैं तुम्हारे कान काट लूँगी, जूजू को बुलाकर पकड़ा दूँगी। इसपर दीवानखाने में खूब कहकहे उड़ते। वकील साहब कभी इतने वात्सल्य न थे। अब बाहर से आते तो कुछ-न-कुछ सौगात बिन्नी के वास्ते जरूर लाते, और घर में कदम रखते ही पुकारते—बिन्नी बेटी, चलो। बिन्नी दौड़ती हुई आकर उनकी गोद में बैठ जाती।

मंगला एक दिन बिन्नी को लिए बैठी थी। इतने में पंडितजी आ गये। बिन्नी दौड़कर उनकी गोद में जा बैठी। पंडितजी ने पूछा—तू किसकी बेटी है?

बिन्नी—न बताऊँगी ?

मंगला—कह दे बेटा, जीजी की बेटी हूँ।

पंडित—तू मेरी बेटी है बिन्नी कि इनकी ?

बिन्नी—न बताऊँगी।

पंडित—अच्छा, हम लोग आँखें बन्द किये बैठे हैं; बिन्नी जिसकी बेटी होगी, उसकी गोद में बैठ जायगी।

बिन्नी उठी और फिर चौबेजी की गोद में बैठ गयी।

पंडित—मेरी बेटी है, मेरी बेटी है ; (स्त्री से) अब न कहना कि मेरी बेटी है।

मंगला—अच्छा, जाओ बिन्नी, अब तुम्हें मिठाई न दूँगी, गुड़ियाँ भी न मँगा दूँगी!

बिन्नी—भैयाजी मँगवा देंगे, तुम्हें न दूँगी।

वकील साहब ने हँसकर बिन्नी को छाती से लगा लिया और गोद में लिये हुए बाहर चले गये। वह अपने इष्ट-मित्रों को भी इस बालक्रीड़ा का रसास्वादन कराना चाहते थे।

आज से जो कोई बिन्नी से पूछता कि तू किसकी बेटी है, तो बिन्नी चट कह देती—भैया की।

एक बार बिन्नी का बाप आकर उसे अपने साथ ले गया। बिन्नी ने रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। इधर चौबेजी को भी दिन काटना कठिन हो गया। एक महीना भी न गुजरने पाया था कि वह फिर ससुराल गये और बिन्नी को लिवा लाये,। बिन्नी अपनी माता और पिता को भूल गयी। वह चौबेजी को अपना बाप और मंगला को अपनी माँ समझने लगी। जिन्होंने उसे जन्म दिया था, वे अब गैर हो गये।

(३)

कई साल गुजर गये। वकील साहब के बेटों के विवाह हुए। उनमें से दो अपने बाल-बच्चों को लेकर अन्य जिलों में वकालत करने चले गये। दो कालेज में पढ़ते थे। बिन्नी भी कली से फूल हुई। ऐसी रूप-गुण शीलवाली बालिका बिरादरी में और न थी—पढ़ने-लिखने में चतुर, घर के काम-धंधों में कुशल

बूटे-कसीदे और सीने-पिरोने में दक्ष, पाककला में निपुण, मधुर-भाषिणी, लज्जा-शीला, अनुपम रूप की राशि। अँधेरे घर में उसके सौंदर्य की दिव्य ज्योति से उजाला होता था। उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह प्राण-प्रद सुषमा और वह शोभा न थी, श्वेत हेममुकुटधारी पर्वत में भी वह शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विंध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।

चौबेजी ने बिन्नी के लिए सुयोग्य वर खोजना शुरू किया। लड़कों की शादियों में दिल का अरमान निकाल चुके थे। अब कन्या के विवाह में हौसले पूरे करना चाहते थे। धन लुटाकर कीर्ति पा चुके थे, अब दान-दहेज में नाम कमाने की लालसा थी। बेटे का विवाह कर लेना आसान है पर कन्या के विवाह में आबरू निबाह ले जाना कठिन है, नौका पर सभी यात्रा करते हैं; जो तैरकर नदी पार करे, वही प्रशंसा का अधिकारी है।

धन की कमी न थी। अच्छा घर और सुयोग्य वर मिल गया। जन्मपत्र मिल गये, बनावत बन गया। फलदान और तिलक की रस्में भी अदा कर दी गयीं। पर हाय रे दुर्दैव! कहाँ तो विवाह की तैयारी हो रही थी, द्वार पर दरजी, सुनार, हलवाई, सब अपना-अपना काम कर रहे थे, कहाँ निर्दय विधाता ने और ही लीला रच दी! विवाह के एक सप्ताह पहले मंगला अनायास बीमार पड़ी, तीन ही दिन में में अपने सारे अरमान लिये हुए परलोक सिधार गयी।

सन्ध्या हो गयी थी। मंगला चारपाई पर पड़ी हुई थी। बेटे, बहुएँ, पोते, पोतियाँ सब चारपाई के चारों ओर खड़े थे। बिन्नी पैताने बैठी मंगला के पैर दबा रही थी। मृत्यु के समय की भयंकर निस्तब्धता छायी हुई थी। कोई किसी से न बोलता था; दिल में सब समझ रहे थे, क्या होनेवाला है। केवल चौबे जी वहाँ न थे।

सहसा मंगला ने इधर-उधर इच्छा-पूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—जरा उन्हें बुला दो; कहाँ है?

पंडितजी अपने कमरे में बैठे रो रहे थे। सन्देश पाते ही आँसू पोंछते हुए घर में आये और बड़े धैर्य के साथ मंगला के सामने हो गये। डर रहे थे कि मेरी आँखों से आँसू की एक बूँद भी निकली, तो घर में हाहाकार मच जायगा।

मंगला ने कहा—एक बात पूछती हूँ—बुरा न मानना—बिन्नी तुम्हारी कौन है ?

पंडित—बिन्नी कौन है ? मेरी बेटी है, और कौन ?

मंगला—हाँ, मैं तुम्हारे मुँह से यही सुनना चाहती थी। उसे सदा अपनी बेटी समझते रहना। उसके विवाह के लिए मैंने जो-जो तैयारियाँ की थीं, उनमें कुछ काट-छाँट मत करना।

पंडित—इसकी कुछ चिन्ता न करो। ईश्वर ने चाहा, तो उससे कुछ ज्यादा धूम-धाम के साथ विवाह होगा।

मंगला—उसे हमेशा बुलाते रहना, तीज-त्योहार में कभी मत भूलना।

पंडित—इन बातों की मुझे याद दिलाने की जरूरत नहीं।

मंगला ने कुछ सोचकर फिर कहा—इसी साल विवाह कर देना।

पंडित—इस साल कैसे होगा ?

मंगला—यह फागुन का महीना है। जेठ तक लगन है।

पंडित—हो सकेगा तो इसी साल कर दूँगा।

मंगला—हो सकने की बात नहीं, जरूर कर देना।

पंडित—कर दूँगा।

इसके बाद गोदान की तैयारी होने लगी।

(४)

बुढ़ापे मे पत्नी का मरना बरसात में घर का गिरना है फिर उसके बनने की आशा नहीं होती।

मंगला की मृत्यु से पंडितजी का जीवन अनियमित और विशृंखल-सा हो गया। लोगों से मिलना-जुलना छूट गया। कई-कई दिन कचहरी ही न जाते। जाते भी, तो बड़े आग्रह से। भोजन से अरुचि हो गयी। विन्ध्येश्वरी उनकी दशा देख-देखकर दिल में कुढ़ती और यथासाध्य उनका दिल बहलाने की चेष्टा किया करती थी। वह उन्हें पुराणों की कथाएँ पढ़कर सुनाती, उनके लिए तरह-तरह की भोजन-सामग्री पकाती और उन्हें आग्रह अनुरोध के साथ खिलाती थी। जबतक वह न खा लेते, आप कुछ न खाती थी। गरमी के दिन थे ही। रात को बड़ी देर तक उनके पैताने बैठी पंखा झला करती, और जब

तक वह न सो जाते, तबतक आप भी सोने न जाती। वह जरा भी सिर-दर्द की शिकायत करते, तो तुरन्त उनके सिर में तेल डालती। यहाँ तक कि रात को जब उन्हें प्यास लगती, तब खुद दौड़कर आती और उन्हें पानी पिलाती। धीरे-धीरे चौबेजी के हृदय में मंगला केवल एक सुख की स्मृति रह गयी।

एक दिन चौबे जी ने बिन्नी को मंगला के सब गहने दे दिये। मंगला का यह अंतिम आदेश था। बिन्नी फूली न समायी। उसने उस दिन खूब बनाव सिंगार किया। जब संध्या के समय पंडितजी कचहरी से आये, तो वह गहनों से लदी हुई उनके सामने कुछ लजाती और मुसकराती हुई आकर खड़ी हो गयी।

पंडितजी ने सतृष्ण नेत्रों से देखा। विंध्येश्वरी के प्रति अब उनके मन में एक नया भाव अंकुरित हो रहा था। मंगला जबतक जीवित थी, वह उनके पिता-पुत्री के भाव को सजग और पुष्ट कराती रहती थी। अब मंगला न थी। अतएव वह भाव दिन-दिन शिथिल होता जाता था। मंगला के सामने बिन्नी एक बालिका थी। मंगला की अनुपस्थिति में वह एक रूपवती युवती थी। लेकिन सरल-हृदया बिन्नी को इसकी रत्ती-भर भी खबर न थी कि भैया के भावों में क्या परिवर्तन हो रहा है। उसके लिए वह वही पिता के तुल्य भैया थे। वह पुरुषों के स्वभाव से अनभिज्ञ थी। नारी-चरित्र में अवस्था के साथ मातृत्व का भाव दृढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि एक समय ऐसा आता है, जब नारी की दृष्टि में युवकमात्र पुत्र तुल्य हो जाते हैं। उसके मन में विषय-वासना का लेश भी नहीं रह जाता। किन्तु पुरुषों में यह अवस्था कभी नहीं आती। उनकी कामेंद्रियाँ क्रिया-हीन भले ही हो जायँ, पर विषय-वासना संभवतः और भी बलवती हो जाती है। पुरुष वासनाओं से कभी मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि ज्यों-ज्यों अवस्था ढलती है। त्यों-त्यों ग्रीष्म-ऋतु के अंतिम काल की भाँति उसकी वासना की गरमी भी प्रचंड होती जाती है। वह तृप्ति के लिए नीच साधनों का सहारा लेने को भी प्रस्तुत हो जाता है। जवानी में मनुष्य इतना नहीं गिरता। उसके चरित्र में गर्व की मात्रा अधिक रहती है, जो नीच साधनों से घृणा करती है। वह किसी के घर में घुसने के लिए जबरदस्ती कर सकता है, किन्तु परनाले के रास्ते नहीं जा सकता।

पंडितजी ने बिन्नी को सतृष्ण नेत्रों से देखा, और फिर अपनी इस उच्छृ-

कुलता पर लज्जित होकर आँखें नीची कर लीं। बिन्नी इसका कुछ मतलब न समझ सकी।

पंडितजी बोले—तुम्हें देखकर मुझे मंगला की उस समय की याद आ रही है—जब वह विवाह के समय यहाँ आयी थी। बिलकुल ऐसी ही सूरत थी—यही गोरा रंग, यही प्रसन्न-मुख, यही कोमल गात, ये ही लजीली आँखें। वह चित्र अभी तक मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ है, कभी नहीं मिट सकता। ईश्वर ने तुम्हारे रूप में मेरी मंगला मुझे फिर दे दी।

बिन्नी—आपके लिए क्या जलपान लाऊँ?

पंडित—ले आना, अभी बैठो, मैं बहुत दुखी हूं। तुमने मेरे शोक को भुला दिया है। वास्तव में तुमने मुझे जिला लिया, नहीं तो मुझे आशा न थी कि मंगला के पीछे मैं जीवित रहूँगा। तुमने प्राणदान दिया। नहीं जानता, तुम्हारे चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी।

बिन्नी—कहाँ चले जाने के बाद? मैं तो कहीं नहीं जा रही हूँ।

पंडित—क्यों तुम्हारे विवाह की तिथि आ रही है। चली ही जाओगी।

बिन्नी—(सकुचाती हुई) ऐसी जल्दी क्या है?

पंडित—जल्दी क्यों नहीं है। जमाना हँसेगा।

बिन्नी—हँसने दीजिए। मैं यहीं आपकी सेवा करती रहूँगी।

पंडित—नहीं बिन्नी, मेरे लिए तुम क्यों हलकान होगी। मैं अभागा हूँ, अब तक जिंदगी है, जिऊँगा; चाहे रोकर जिऊँ, चाहे हँसकर। हँसी मेरी भाग्य से उठ गई। तुमने इतने दिनों सँभाल लिया, यही क्या कम एहसान किया? मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारे जाने के बाद कोई मेरी खबर लेनेवाला नहीं रहेगा, यह घर तहस-नहस हो जायगा, और मुझे घर छोड़कर भागना पड़ेगा। पर क्या किया जाय, लाचारी है। तुम्हारे बिना अब मैं यहाँ क्षणभर भी नहीं रह सकता। मंगल की खाली जगह तो तुमने पूरी की, अब तुम्हारा स्थान कौन पूरा करेगा?

बिन्नी—क्या इस साल रुक नहीं सकता। मैं इस दशा में आपको छोड़कर न जाऊँगी।

पंडित—अपने बस की बात तो नहीं? वे लोग आग्रह करेंगे, तो मजबूर होकर करना ही पड़ेगा।

बिन्नी—बहुत जल्दी मचायें तो आप कह दीजिएगा, अब नहीं करेंगे। उन लोगों के जी में जो आये, करें। क्या यहाँ कोई उनका दबैल बैठा हुआ है?

पंडित—वे लोग तो अभी से आग्रह कर रहे हैं।

बिन्नी—आप फटकार क्यों नहीं देते?

पंडित—करना तो है ही, फिर विलम्ब क्यों करूँ? यह दुःख और वियोग तो एक दिन होना ही है। अपनी विपत्ति का भार तुम्हारे सिर क्यों रखूँ?

बिन्नी—दुःख-सुख में काम न आऊँगी, तो और किस दिन काम आऊँगी?

(५)

पण्डितजी के मन में कई दिनों तक घोर संग्राम होता रहा। वह अब बिन्नी को पिता की दृष्टि से न देख सकते थे। बिन्नी अब मंगला की बहन और उनकी साली थी। जमाना हँसेगा, तो हँसे; जिन्दगी तो आनन्द से गुजरेगी। उनकी भावनाएँ कभी इतना उल्लासमयी न थीं। उन्हें अपने अङ्गों में फिर जवानी स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था।

वह सोचते, बिन्नी को मैं अपनी पुत्री समझता था; पर वह मेरी पुत्री है तो नहीं। इस तरह समझने से क्या होता है? कौन जाने, ईश्वर को यही मंजूर हो; नहीं तो बिन्नी यहाँ आती ही क्यों? उसने इसी बहाने से यह संयोग निश्चित कर दिया होगा। उसकी लीला तो अपरम्पार है!

पण्डितजी ने वर के पिता को सूचना दे दी कि कुछ विशेष कारणों से इस साल विवाह नहीं हो सकता।

विंध्येश्वरी को अभी तक कुछ खबर न थी कि मेरे लिए क्या-क्या षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। वह खुश थी कि मैं भैयाजी की सेवा कर रही हूँ; और भैयाजी मुझसे प्रसन्न हैं। बहन का इन्हें बड़ा दुःख है। मैं न रहूँगी, तो यह कहीं चले जायँगे—कौन जाने, साधु-सन्यासी हो जायँ! घर में कैसे मन लगेगा।

वह पण्डितज' का मन बहलाने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती थी। उन्हें कभी मनमारे न बैठने देती। पण्डितजी का मन अब कचहरी में न लगता था। घन्टे-दो-घन्टे बैठकर चले आते थे। युवकों के प्रेम में बिकलता होती है और वृद्धों के प्रेम में श्रद्धा। वे अपनी यौवन की कमी को खुशामद से, मीठी बातों से और हाजिरबाशी से पूर्ण करना चाहते हैं।

मंगला को मरे अभी तीन ही महीने गुजरे थे कि चौबेजी ससुराल पहुँचे। सास ने मुँह-माँगी मुराद पाई। उसके दो पुत्र थे। घर से कुछ पूँजी न थी। उनके पालन और शिक्षा के लिए कोई ठिकाना नजर न आता था। मंगला मर ही चुकी थी। लड़की का ज्योंही विवाह हो जायगा, वह अपने घर की हो रहेगी। फिर चौबे से नाता ही टूट जायगा। वह इसी चिंता में पड़ी हुई थी कि चौबेजी पहुँचे, मानो देवता स्वयं वरदान देने आये हों।

जब चौबेजी भोजन करके लेटे, तो सास ने कहा—भैया, अभी कहीं बात-चीत हुई कि नहीं?

पंडित—अम्माँ, अब मेरे विवाह की बातचीत क्या होगी?

सास—क्यों भैया, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है?

पंडित—करना भी चाहूँ तो बदनामी के डर से नहीं कर सकता। फिर मुझे पूछता ही कौन है?

सास—पूछने को हजारों हैं। दूर क्यों जाओ, अपने घर ही में लड़की बैठी हुई है। सुना है, तुमने मंगला के सब गहने बिन्नी को दे दिये हैं। कहीं और विवाह हुआ, तो ये कई हजार की चीजें तुम्हारे हाथों से निकल जायँगी। तुमसे अच्छा वर मैं कहाँ पाऊँगी। तुम उसे अंगीकार करलो, तो मैं तर जाऊँ।

अंधा क्या माँगे, दो आँखें! चौबेजी ने मानो विवश होकर सास की प्रार्थना स्वीकार कर ली।

(६)

बिन्नी अपने गाँव के कच्चे मकान में अपनी माँ के पास बैठी हुई है। अबकी चौबेजी ने उसकी सेवा के लिए एक लौंडी भी साथ कर दी है। विंध्येश्वरी के दोनों छोटे भाई विस्मित हो-होकर उसके आभूषणों को देख रहे हैं। गाँव की और कई स्त्रियाँ उसे देखने आयी हुई हैं, और उसके रूपलावण्य का विकास देखकर चकित हो रही हैं। यह वही बिन्नी है, जो यहाँ मोटी फरिया पहिने खेला करती थी! रंग-रूप कैसा निखर आया है! सुख की देह है न!

जब भीड़ कम हुई, एकांत हुआ, तो माता ने पूछा—तेरे भैयाजी तो अच्छी तरह हैं न बेटी? यहाँ आये थे, तो बहुत दुखी थे। मंगला का शोक

उन्हें खाये जाता है। संसार में ऐसे मर्द भी होते हैं, जो स्त्री के लिए प्राण दे देते हैं। नहीं तो यहाँ स्त्री मरी, और चट दूसरा ब्याह रचाया गया। मानो मनाते रहते हैं कि यह मरे तो नयी-नवेली बहू घर लायें!

विंध्ये०—उन्हें याद करके रोया करते हैं। चली आयी हूँ, न-जाने कैसे होंगे!

माता—मुझे तो डर लगता है कि तेरा ब्याह हो जाने पर कहीं घबराकर साधू-फकीर न हो जायँ।

विंध्ये०—मुझे भी तो यही डर लगता है। इसीसे तो मैंने कह दिया कि अभी जल्दी क्या है।

माता—जितने ही दिन उनकी सेवा करोगी, उतना ही उनका स्नेह बढ़ेगा; और तुम्हारे जाने से उन्हें उतना ही दुःख भी अधिक होगा। बेटी, सच तो यह है कि वह तुम्हीं को देखकर जीते हैं। इधर तुम्हारी डोली उठी और उधर उनका घर सत्यानाश हुआ। मैं तुम्हारी जगह होती, तो उन्हीं से ब्याह कर लेती।

विंध्ये०—ऐ हटो अम्माँ, गाली देती हो? उन्होंने मुझे बेटी करके पाला है। मैं भी उन्हें अपना पिता.......

माता—चुप रह पगली, कहने से क्या होता है?

विंध्ये०—अरे सोच तो अम्माँ, कितनी बेढंगी बात है!

माता—मुझे तो इसमें कोई बेढंगापन नहीं देख पड़ता।

विंध्ये०—क्या कहती हो अम्माँ, उनसे मेरा....मैं तो लाज के मारे मर जाऊँ, उनके सामने ताक न सकूँ। वह भी कभी न मानेंगे। मानने की बात भी हो कोई।

माता—उनका जिम्मा मैं लेती हूँ। मैं उन्हें राजी कर लूँगी। तू राजी हो जा। याद रख, यह कोई हँसी-खुशी का ब्याह नहीं है, उनकी प्राणरक्षा की बात है, जिसके सिवा संसार में हमारा और कोई नहीं है। फिर अभी उनकी कुछ ऐसी उम्र भी तो नहीं है। पचास से दो ही चार साल ऊपर होंगे। उन्होंने एक ज्योतिषी से पूछा भी था। उसने उनकी कुंडली देखकर बताया है कि आपकी जिंदगी कम-से-कम ७० वर्ष की है। देखने-सुनने में भी वह सौ-दो-सौ में एक आदमी हैं।

बातचीत में चतुर माता ने कुछ ऐसा शब्द-व्यूह रचा कि सरला बालिका उसमें से निकल न सकी। माता जानती थी कि प्रलोभन का जादू इस पर न चलेगा। धन का, आभूषणों का, कुल सम्मान का, सुखमय जीवन का उसने जिक्र तक न किया। उसने केवल चौबेजी की दयनीय दशा पर जोर दिया। अन्त को विंध्येश्वरी ने कहा—अम्माँ, मैं जानती हूँ कि मेरे न रहने से उनको बड़ा दुःख होगा; यह भी जानती हूँ कि मेरे जीवन में सुख नहीं लिखा है। अच्छा, उनके हित के लिए मैं अपना जीवन बलिदान कर दूँगी। ईश्वर की यही इच्छा है, तो यही सही।

(७)

चौबेजी के घर में मगल-गान हो रहा था। विंध्येश्वरी आज बधू बनकर इस घर में आयी है। कई वर्ष पहले वह चौबेजी की पुत्री बनकर आयी थी! उसने कभी स्वप्न में भी न सोचा था कि मैं एक दिन इस घर की स्वामिनी बनूँगी।

चौबेजी की सज-धज आज देखने योग्य है। तनजेब का रंगीन कुरता, कतरी और सँवारी हुई मूँछें, खिजाब से चमकते हुए बाल, हँसता हुआ चेहरा, चढ़ी हुई आँखें—यौवन का पूरा स्वाँग था!

रात बीत चुकी थी। विंध्येश्वरी आभूषणों से लदी हुई, भारी जोड़े पहने, फर्श पर सिर झुकाये बैठी थी। उसे कोई उत्कंठा न थी, भय न था; केवल यह संकोच था कि मैं उनके सामने कैसे मुँह खोलूँगी? उनकी गोद में खेली हूँ; उनके कन्धों पर बैठी हूँ; उनकी पीठ पर सवार हुई हूँ, कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी।—मगर वे पिछली बातें क्यों सोचूँ। ईश्वर उन्हें प्रसन्न रक्खे। जिसके लिए मैंने पुत्री से पत्नी बनना स्वीकार किया, वह पूर्ण हो। उनका जीवन आनन्द से व्यतीत हो।

इतने में चौबेजी आये? विंध्येश्वरी उठ खड़ी हुई। उसे इतनी लज्जा आयी कि जी चाहा कहीं भाग जाय- खिड़की से नीचे कूद पड़े।

चौबेजी ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोले—बिन्नी, मुझसे डरती हो?

बिन्नी कुछ न बोली। मूर्ति की तरह वहीं खड़ी रही। एक क्षण में चौबेजी ने उसे बिठा दिया वह बैठ गयी। उसका गला भर-भर आता था। भाग्य की यह निर्दय लीला, यह क्रूर क्रीड़ा उसके लिए असह्य हो रही थी।

पंडितजी ने पूछा—बिन्नी, बोलती क्यों नहीं? क्या मुझसे नाराज हो?

विंध्येश्वरी ने अपने कान बंदकर लिये। यही परिचित आवाज वह कितने दिनों से सुनती चली आती थी। आज वह व्यंग्य से भी तीव्र और उपहास से भी कटु प्रतीत होती थी।

सहसा पंडितजी चौंक पड़े; आँखें फैल गयीं और दोनों हाथ मेढक के पैरों की भाँति सिकुड़ गये। वह दो कदम पीछे हट गये। खिड़की से मंगला अन्दर झाँक रही थी! छाया नहीं, मंगला थी—मंगला थी—सदेह, साकार, सजीव! उसकी आँखों में क्रोध और तिरस्कार भरा हुआ था।

चौबेजी काँपती हुई टूटी-फूटी आवाज में बोले—बिन्नी देखो, वह क्या है?

बिन्नी ने भी घबराकर खिड़की की ओर देखा। कुछ न था। बोली—क्या है? मुझे तो कुछ नहीं दिखाई देता।

चौबेजी—अब गायब हो गयी; लेकिन ईश्वर जानता है, मंगला थी।

बिन्नी—बहन!

चौबे—हाँ, हाँ, वही। खिड़की से अंदर झाँक रही थी। मेरे तो रोयें खड़े हो गये।

विंध्येश्वरी काँपती हुई बोली—मैं यहाँ नहीं रहूँगी।

चौबे—नहीं, नहीं, बिन्नी, कोई डर नहीं है, मुझे धोखा हुआ होगा। बात यह है कि वह इस घर में रहती थी, यहीं सोती थी, इसी से कदाचित् मेरी भावना ने उसकी मूर्ति लाकर खड़ी कर दी। कोई बात नहीं है। आज का दिन कितना मंगलमय है कि मेरी बिन्नी यथार्थ में मेरी ही हो गयी.......

यह कहते-कहते चौबेजी फिर चौंके। फिर वही मूर्ति खिड़की से झाँक रही थी—मूर्ति नहीं, सदेह; सजीव, साकार मंगला! अबकी उसकी आँखों में क्रोध न था, तिरस्कार न था, उनमें हास्य भरा हुआ था, मानो वह इस दृश्य पर हँस रही है—मानो उसके सामने कोई अभिनय हो रहा है।

चौबेजी ने काँपते हुए कहा—बिन्नी, फिर वही बात हुई! वह देखो, मंगला खड़ी है!

विंध्येश्वरी चीखकर उनके गले से चिमट गयी।

चौबेजी ने महावीरजी का नाम जपते हुए कहा—मैं किवाड़े बंद किये देता हूँ।

बिन्नी—मैं इस घर में नहीं रहूँगी। (रोकर) भैयाजी, तुमने बहन के अंतिम आदेश को नहीं माना, इसी से उनकी आत्मा दुखी हो रही है। मुझे तो किसी अमंगल की आशंका हो रही है।

चौबेजी ने उठकर खिड़की के द्वार बन्द कर दिये और कहा—मैं कल से दुर्गापाठ कराऊँगा। आज तक कभी ऐसी शंका न हुई थी। तुमसे क्या कहूँ, मालूम होता है....होगा,|उस बात को जाने दो। यहाँ बड़ी गरमी पड़ रही है। अभी पानी गिरने को दो महीने से कम नहीं हैं। हमलोग मंसूरी क्यों न चलें।

विंध्ये०—मेरा तो कहीं जाने का जी नहीं चाहता। कल से दुर्गापाठ जरूर कराना। मुझे अब इस कमरे में नींद न आयेगी।

पंडित—ग्रंथों में तो यही देखा है कि मरने के बाद केवल सूक्ष्म शरीर रह जाता है। फिर समझ में नहीं आता, यह स्वरूप क्योंकर दिखाई दे रहा है। कुछ नहीं, यह मेरी कल्पना का दोष है। कभी-कभी ऐसे भ्रम हो जाते हैं। मैं सच कहता हूँ बिन्नी, अगर तुमने मुझपर यह दया न की होती, तो मैं कहीं का न रहता। शायद इस वक्त मैं बद्रीनाथ के पहाड़ों पर सिर टकराता होता, या कौन जाने विष खाकर प्राणांत कर चुका होता!

विंध्ये०—मंसूरी में किसी होटल में ठहरना पड़ेगा?

पंडित—नहीं, मकान भी मिलते हैं। मैं अपने एक मित्र को लिखे देता हूँ, वह कोई मकान ठीक कर रखेंगे। वहाँ....

बात पूरी न होने पायी थी कि न-जाने कहाँ से—जैसे आकाशवाणी हो—आवाज आई—बिन्नी तुम्हारी पुत्री है!

चौबेजी ने दोनों कान बंद कर लिये। भय से थर-थर काँपते हुए बोले—बिन्नी, यहाँ से चलो। न-जाने कहाँ से आवाजें आ रही है।

'बिन्नी तुम्हारी पुत्री है!'—यह ध्वनि सहस्रों कानों से पंडितजी को सुनाई पड़ने लगी, मानो उस कमरे की एक-एक वस्तु से यही सदा आ रही है।

बिन्नी ने रोकर पूछा—कैसी आवाज थी?

पंडित—क्या बताऊँ, कहते लज्जा आती है।

बिन्नी—जरूर बहनजी की आत्मा है। बहन, मुझपर दया करो, मैं सर्वथा निर्दोष हूँ।

पंडित—फिर वही आवाज आ रही है। हाय ईश्वर! कहाँ जाऊँ? मेरे तो रोम-रोम में वे ही शब्द गूँज रहे हैं। बिन्नी मैंने बुरा किया। मंगला सती थी, उसके आदेश की उपेक्षा करके मैंने अपने हक में जहर बोया। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ?

यह कहकर पंडितजी ने कमरे के किवाड़े खोल दिये और बेतहाशा भागे। अपने मरदाने कमरे में पहुँचकर वह गिर पड़े। मूर्च्छा आ गयी। विंध्येश्वरी भी दौड़ी, पर चौखट से बाहर निकलते ही गिर पड़ी!

सवा सेर गेहूँ

किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिन्ता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला खा लिया, न मिला, चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा। किन्तु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था, तो उसे इस निवृत्ति-मार्ग का त्याग करना पड़ता था। विशेषकर जब साधु-महात्मा पदार्पण करते थे, तो उसे अनिवार्यतः सांसारिकता की शरण लेनी पड़ती थी। खुद भूखा सो सकता था; पर साधु को कैसे भूखा सुलाता, भगवान् से भक्त जो ठहरे!

एक दिन संध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीतांबर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, संपूर्ण वेष उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योग-सिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता। प्राचीनकाल में जौ का चाहे जो कुछ महत्त्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिंता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ। आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव-भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव में सब मनुष्य-ही-मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतएव देवताओं का खाद्य पदार्थ कैसे मिलता। सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ से थोड़े-से-मिल गये। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लम्बी तानकर सोये। प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शंकर ने दिल में कहा, सवा सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पंसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूँगा, यह भी समझ जायँगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ़ पंसेरी के लगभग गेहूँ दे दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चरचा न की। विप्रजी ने फिर कभी न माँगा। सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिए मुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

२

सात साल गुजर गये। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया। उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर मजूर हो गये थे। शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाये, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई-भाई शत्रु हो जायँगे, एक रोयेगा दूसरा हँसेगा, एक के घर मातम होगा तो दूसरे के घर गुलगुले पकेंगे, प्रेम का बंधन, खून का बंधन, दूध का बंधन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ-परिश्रम से कुल-मर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से-सींचा था, उसका जड़ से उखड़ना देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन-भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुंह लपेटकर सो रहता। इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को जला दिया, मांस और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों खाट से न उठा। अब गुजर-बसर कैसे हो? पाँच बीघे के आधे खेत रह गये, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती! अन्त को यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्यादा-रक्षा का साधन-मात्र रह गयी, जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गये, एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा, तो राह में विप्रजी ने टोककर कहा—शंकर, कल आकर के अपने बीज-बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कबसे बाकी पड़े हुए हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, क्या हजम करने का मन है क्या!

शंकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूँ लिए थे जो साढ़े पाँच

मन हो गये ? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसीका छटाँक भर न अनाज है, न एक पैसा उधार।

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता।

यह कहकर विप्रजी ने उस सवा सेर गेहूँ का जिक्र किया, जो आज के ७ वर्ष पहले शंकर को दिये थे। शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर! मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया? जब पोथी पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ-न-कुछ 'दछिणा' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल ही जायगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ तौलकर दे देता, क्या इसी नियत से चुप साधे बैठे रहे? बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानों में सेर सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन माँगते हैं, मैं कहाँ से दूँगा?

विप्र—लेखा जौ जौ, बखसीस सौ सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पाँड़े, क्यों एक गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा?

विप्र—जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटाँक-भर भी न छोड़ूँगा, यहाँ न दोगे, भगवान् के घर तो दोगे?

शंकर काँप उठा। हम पढ़े लिखे आदमी होते तो कह देते, अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे, वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम-से-कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिंता किंतु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस ख्याल ही से उसे रोमांच हो गया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूँ, इस जनम में तो ठोकर खा ही रहा हूँ, उस जनम के लिए क्यों

काँटे बोऊँ ? मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता। मैं तो दे दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान् के यहाँ जवाब देना पड़ेगा।

विप्र—वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई-बन्धु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं; देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने बिगड़ेगी, सँभाल लेंगे। तो कब देते हो ?

शंकर—मेरे पास रक्खा तो है नहीं, किसीसे माँग-चाँचकर लाऊँगा तभी न दूँगा !

विप्र—मैं यह न मानूँगा। सात साल हो गये, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा। गेहूँ नहीं दे सकते, तो दस्तावेज लिख दो।

शंकर—मुझे तो देना है, चाहे गेहूँ लो चाहे दस्तावेज लिखाओ, किस हिसाब से दाम रक्खोगे ?

विप्र—बाजार-भाव पाँच सेर का है, तुम्हें सवा पाँच सेर का काट दूँगा।

शंकर—जब दे ही रहा हूँ तो बाजार-भाव काटूँगा, पाव-भर छुड़ाकर क्यों दोषी बनूँ।

हिसाब लगाया गया तो गेहूँ के दाम ६०) हुए। ६०) का दस्तावेज लिखा गया, ३) सैकड़े सूद। साल-भर में न देने पर सूद का दर ३।।) सैकड़े। ।।) का स्टाम्प, १) दस्तावेज की तहरीर शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गाँव भर ने विप्रजी की निन्दा की, लेकिन मुँह पर नहीं। महाजन से सभी-का काम पड़ता है, उसके मुँह कौन आये।

(३)

शंकर ने सालभर तक कठिन तपस्या की। मीयाद के पहले रुपये अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर को पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बंद हुआ केवल लड़के के लिए रात को रोटियाँ रख दी जातीं। पैसे रोज का तंबाकू पी जाता था, यही एक व्यसन था जिसका वह कभी न त्याग कर सका था। अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत की भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और तमाखू की

हाँड़ी चूर-चूर कर डाली। कपड़े पहले भी त्याग की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गये। शिशिर की अस्थि-बेधक शीत को उसने आग तापकर काट दिया। इस ध्रुव-संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अन्त में उसके पास ६०) जमा हो गये। उसने समझा पंडितजी को इतने रुपये दे दूँगा और कहूँगा महाराज, बाकी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाजिर करूँगा। १५) की तो और बात है, क्या पंडितजी इतना भी न मानेंगे। उसने रुपये लिये और ले जाकर पंडितजी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिये। पंडितजी ने विस्मित होकर पूछा—किसी से उधार लिये क्या?

शंकर—नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र—लेकिन यह तो ६०) ही हैं!

शंकर—हाँ महाराज, इतने अभी ले लीजिए, बाकी मैं दो-तीन महीने में दे दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र—उरिन तो तभी होगे जब कि मेरी कौड़ी कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे १५) और लाओ।

शंकर—महाराज, इतनी दया करो, अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गाँव में हूँ तो कभी-न-कभी दे ही दूँगा।

विप्र—मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करना जानता हूँ। अगर मेरे पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से ३॥) सैकड़े का ब्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रक्खो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर—अच्छा, जितना लाया हूँ उतना रख लीजिए। मैं जाता हूँ, कहीं से १५) और लाने की फिक्र करता हूँ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिये, इसलिए नहीं कि उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिए कि पंडितजी के शिकार को छेड़ने की किसी की हिम्मत न थी।

(४)

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल भर तक तपस्या करने पर भी जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका तो उसी संकयम

निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी साल भर में ६०) से अधिक न जमा कर सका, तो अब और कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा इसके दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मिहनत से घृणा हो गयी। आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। शंकर आशा-हीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें, जिनको उसने साल-भर तक टाल रखा था, अब द्वार खड़ी होने वाली भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होने वाली पिशाचनियाँ थीं, जो अपनी भेंट लिये बिना जान नहीं छोड़ती। कपड़ों में चकत्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपड़े लाता कभी खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पिया करता था, वहाँ अब गाँजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिन्ता न थी मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं आता। पहले जूड़ी चढ़ी होती थी, पर वह काम करने अवश्य जाता था, अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गये। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार को चौंकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पंडितजी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया। ६०) जो जमा थे वह मिनहा करने पर अब भी शंकर के जिम्मे १२०) निकले।

शंकर—इतने रुपये तो उसी जन्म में दूँगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इसी जन्म में लूँगा। मूल न सही, सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर—एक बैल है, वह ले लीजिए; एक झोपड़ी है, वह ले लीजिए और मेरे पास रक्खा क्या है।

विप्र—मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

शंकर—और क्या है महाराज ?

विप्र—कुछ नहीं है तुम तो हो। आखिर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते

ही हो, मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना ही पड़ता है। सूद में तुम हमारे यहाँ काम किया करो, जब सुभीता हो मूल की दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह काम करने नहीं जा सकते जबतक मेरे रुपये नहीं चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड़ दूँ। कौन इसका जिम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे। और कहीं कमाकर जब तुम मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहे?

शंकर--महाराज, सूद में तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या?

विप्र--तुम्हारी घरवाली है, लड़के हैं, क्या वे हाथ-पाँव कटाके बैठेंगे। रहा मैं, तुम्हें आध सेर जौ रोज कलेवा के लिए दे दिया करूँगा। ओढ़ने को साल में एक कम्बल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा, और क्या चाहिए। यह सच है कि और लोग तुम्हें ।=) रोज देते हैं लेकिन मुझे ऐसी गरज नहीं है, मैं तो तुम्हें अपने रुपये भराने के लिए रखता हूँ।

शंकर ने कुछ देर तक गहरी चिन्ता में पड़े रहने के बाद कहा--महाराज, यह तो जन्म-भर की गुलामी हुई!

विप्र--गुलामी समझो, चाहे मजूरी समझो। मैं अपने रुपये भराये बिना तुमको कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

इस निर्णय की कहीं अपील न थी। मजूर की जमानत कौन करता, कहीं शरण न थी, भागकर कहाँ जाता; दूसरे दिन से उसने विप्रजी के यहाँ काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र-भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से संतोष होता था तो वह था कि यह यह मेरे पूर्व-जन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किये थे, बच्चे दानों को तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। वह गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति यावज्जीवन उसके सिर से न उतरे।

(५)

शंकर ने विप्रजी के यहाँ २० वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। १२०) अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडितजी

ने उस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने अन्यायी, इतने निर्दय न थे। उनके जवान बेटे की गरदन पकड़ी। आजतक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने।

पाठक! इस वृत्तांत को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।

SABHYATA KA RAHASYA

सभ्यता का रहस्य

यों तो मेरी समझ में दुनिया की एक हजार एक बातें नहीं आतीं—जैसे लोग प्रातःकाल उठते ही बालों पर छुरा क्यों चलाते हैं ! क्या अब पुरुषों में भी इतनी नजाकत आ गयी है कि बालों का बोझ उनसे नहीं सँभलता ! एक साथ ही सभी पढ़े-लिखे आदमियों की आँखें क्यों इतनी कमजोर हो गयी हैं ! दिमाग की कमजोरी ही इसका कारण है या और कुछ ! लोग खिताबों के पीछे क्यो इतने हैरान होते हैं ! इत्यादि—लेकिन इस समय मुझे इन बातों से मतलब नहीं। मेरे मन में एक नया प्रश्न उठ रहा है और उसका जवाब मुझे कोई नहीं देता। प्रश्न यह है कि सभ्य कौन है, और असभ्य कौन ! सभ्यता के लक्षण क्या हैं ! सरसरी नजर से देखिए, तो इससे ज्यादा आसान और कोई सवाल ही न होगा। बच्चा-बच्चा इसका समाधान कर सकता है। लेकिन जरा गौर से देखिए, तो प्रश्न इतना आसान नहीं जान पड़ता। अगर कोट-पतलून पहनना, टाई-हैट-कालर लगाना, मेज पर बैठकर खाना खाना, दिन में तेरह बार कोको या चाय पीना और सिगार पीते हुए चलना सभ्यता है, तो उन गोरों को भी सभ्य कहना पड़ेगा, जो सड़क पर शाम को कभी-कभी टहलते नजर आते हैं; शराब के नशे से आँखें सुर्ख, पैर लड़खड़ाते हुए, रास्ता चलनेवालों को अनायास छेड़ने की धुन ! क्या उन गोरों को सभ्य कहा जा सकता है ? कभी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि सभ्यता कोई और ही चीज है, उसका देह से इतना सम्बन्ध नहीं है, जितना मन से।

(२)

मेरे इने-गिने मित्रों में एक राय रतनकिशोर भी हैं। आप बहुत ही सहृदय बहुत ही उदार, बहुत अधिक शिक्षित और एक बड़े ओहदेदार हैं। बहुत अच्छा वेतन पाने पर भी उनकी आमदनी खर्च के लिए काफी नहीं होती। एक चौथाई वेतन तो बँगले ही की भेंट हो जाती है। इसलिए आप बहुधा चिंतित रहते हैं। रिश्वत तो नहीं लेते—कम-से-कम मैं नहीं जानता; हलाँकि कहनेवाले

कहते हैं—लेकिन इतना जानता हूँ कि वह भत्ता बढ़ाने के लिए दौरे पर बहुत रहते हैं, यहाँ तक कि इसके लिए हर साल बजट की किसी दूसरी मद से रुपये निकालने पड़ते हैं। उनके अफसर कहते हैं, इतने दौरे क्यों करते हो, तो जवाब देते हैं, इस जिले का काम ही ऐसा है कि जब तक खूब दौरे न किये जाँय रिआया शांत नहीं रह सकती। लेकिन मजा तो यह है कि राय साहब उतने दौरे वास्तव में नहीं करते, जितने कि अपने रोजनामचे में लिखते हैं, उनके पड़ाव शहर से ५० मील पर होते हैं। खेमे वहाँ गड़े रहते हैं, कैंप के अमले वहाँ पड़े रहते हैं, और राय साहब घर पर मित्रों के साथ गप-शप करते रहते हैं, पर किसी का मजाल है कि राय साहब की नेकनीयती पर सन्देह कर सके! उनके सभ्य पुरुष होने में किसी को शंका नहीं हो सकती।

एक दिन मैं उनसे मिलने गया। उस समय वह अपने घसियारे दमड़ी को डाट रहे थे। दमड़ी रात-दिन का नौकर था; लेकिन घर रोटी खाने जाया करता था। उसका घर थोड़ी ही दूर पर एक गाँव में था। कल रात को किसी कारण से यहाँ न आ सका था। इसलिए डाट पड़ रही थी।

राय साहब—जब हम तुम्हें रात-दिन के लिये रखे हुए हैं, तो तुम घर पर क्यों रहे? कल के पैसे कट जायँगे।

दमड़ी—हजूर, एक मेहमान आ गये थे, इसी से न आ सका।

राय साहब—तो कल के पैसे उसी मेहमान से लो।

दमड़ी—सरकार, अब कभी ऐसी खता न होगी।

राय साहब—बक-बक मत करो।

दमड़ी—हजूर.........

राय साहब—दो रुपये जुरमाना।

दमड़ी रोता हुआ चला गया। रोजा बख्शाने आया था, नमाज गले पड़ गयी। २) जुरमाना ठुक गया। खता यही थी कि बेचारा कसूर माफ कराना चाहता था।

यह एक रात को गैरहाजिर होने की सजा थी! बेचारा दिन-भर का काम कर चुका था, रात को यहाँ सोया न था, उसका दण्ड! और घर बैठे भत्ते उड़ानेवालों को कोई नहीं पूछता! कोई दण्ड नहीं देता? दंड तो मिले, और

ऐसा मिले कि जिंदगी-भर याद रहे; पर पकड़ना तो मुश्किल है। दमड़ी भी अगर होशियार होता, तो जरा रात रहे आकर कोठरी में सो जाता। फिर किसे खबर होती कि वह रात को कहाँ रहा। पर गरीब इतना चंट न था।

(३)

दमड़ी के पास कुल छः बिस्वे जमीन थी! पर इतने ही प्राणियों का खर्च भी था। उसके दो लड़के, दो लड़कियाँ और स्त्री, सब खेती में लगे रहते थे, फिर भी पेट की रोटियाँ नहीं मयस्सर होती थीं। इतनी जमीन क्या सोना उगल देती! अगर सब-के-सब घर से निकलकर मजदूरी करने लगते, तो आराम से रह सकते थे; लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने का अपमान न सह सकता था। इस बदनामी से बचने के लिए दो बैल बाँध रखे थे! उसके वेतन का बड़ा भाग बैलों के दाने चारे ही में उड़ जाता था। ये सारी तकलीफें मंजूर थीं, पर खेती छोड़कर मजदूर बन जाना मंजूर न था। किसान की जो प्रतिष्ठा है, वह कहीं मजदूर की हो सकती है; चाहे वह रुपया रोज ही क्यों न कमाये? किसानी के साथ मजदूरी करना इतने अपमान की बात नहीं, द्वार पर बँधे हुए बैल उसकी मान-रक्षा किया करते हैं, पर बैलों को बेचकर फिर कहाँ मुँह दिखलाने की जगह रह सकती है!

एक दिन राय साहब उसे सरदी से काँपते देखकर बोले—कपड़े क्यों नहीं बनवाता? काँप क्यों रहा है?

दमड़ी—सरकार, पेट की रोटी तो पूरी ही नहीं पड़ती; कपड़े कहाँ से बनवाऊँ?

राय साहब—बैलों को बेच क्यों नहीं डालता? सैकड़ों बार समझा चुका, लेकिन न-जाने क्यों इतनी मोटी-सी बात तेरी समझ में नहीं आती।

दमड़ी—सरकार, बिरादरी में कहीं मुँह दिखाने लायक न रहूँगा। लड़की की सगाई न हो पायेगी; टाट-बाहर कर दिया जाऊँगा।

राय साहब—इन्हीं हिमाकतों से तुम लोगों की यह दुर्गति हो रही है। ऐसे आदमियों पर दया करना भी पाप है। (मेरी तरफ फिरकर) क्यों मुंशीजी, इस पागलपन का भी कोई इलाज है? जाड़ों मर रहे हैं, पर दरवाजे पर बैल जरूर बाँधेंगे।

मैंने कहा—जनाब, यह तो अपनी-अपनी समझ है।

राय साहब—ऐसी समझ को दूर से सलाम कीजिए। मेरे यहाँ कई पुश्तों से जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता था। कई हजार रुपयों पर पानी फिर जाता था। गाना होता था; दावतें होती थीं, रिश्तेदारों को न्योते दिये जाते थे, गरीबों को कपड़े बाँटे जाते थे। वालिद साहब के बाद पहले ही साल मैंने उत्सव बन्द कर दिया। फायदा क्या? मुफ्त में चार-पाँच हजार की चपत पड़ती थी। सारे कसबे में वावेला मचा, आवाजें कसी गयीं; किसी ने नास्तिक कहा, किसी ने ईसाई बनाया; लेकिन यहाँ इन बातों की क्या परवा! आखिर थोड़े ही दिनों में सारा कोलाहल शांत हो गया। अजी, बड़ी दिल्लगी थी। कसबे में किसी के यहाँ शादी हो; लकड़ी मुझसे ले! पुश्तों से यह रस्म चली आती थी। वालिद तो दूसरों से दरख्त मोल लेकर इस रस्म को निभाते थे। थी हिमाकत या नहीं? मैंने फौरन् लकड़ी देना बन्द कर दिया। इस पर भी लोग बहुत रोये-धोये, लेकिन दूसरों का रोना-धोना सुनूँ, या अपना फायदा देखूँ। लकड़ी से ही कम-से-कम ५००) सालाना की बचत हो गयी। अब कोई भूलकर भी इन चीजों के लिए मुझे दिक करने नहीं आता।

मेरे दिल में फिर सवाल पैदा हुआ, दोनों में कौन सभ्य है, कुल प्रतिष्ठा पर प्राण देनेवाले मूर्ख दमड़ी, या धन पर कुल-मर्यादा को बलि देनेवाले राय रतन किशोर?

(४)

राय साहब के इजलास में एक बड़े मार्के का मुकदमा पेश था। शहर का एक रईस खून के मामले में फँस गया था। उसकी जमानत लेने के लिए राय साहब की खुशामदें होने लगीं। इज्जत की बात थी। रईस साहब का हुक्म था कि चाहे रियासत बिक जाय, पर इस मुकदमें से बेदाग निकल जाऊँ। डालियाँ लगाई गयीं, सिफारिशें पहुँचाई गयीं; पर राय साहब पर कोई असर न हुआ। रईस के आदमियों को प्रत्यक्ष रूप से रिश्वत की चरचा करने की हिम्मत न पड़ती थी। आखिर जब कोई बस न चला, तो रईस की स्त्री ने राय साहब की स्त्री से मिलकर सौदा पटाने की ठानी।

रात के १० बजे थे। दोनों महिलाओं में बातें होने लगीं। २० हजार की

बातचीत थी! राय साहब की पत्नी तो इतनी खुश हुई कि उसी वक्त राय साहब के पास दौड़ी हुई आयीं और कहने लगीं—ले लो, ले लो! तुम न लोगे, तो मैं ले लूँगी।

राय साहब ने कहा—इतनी बेसब्र न हो। वह तुम्हें अपने दिल में क्या समझेगी? कुछ अपनी इज्जत का भी ख्याल है या नहीं? माना कि रकम बड़ी है, और इससे मैं एकबारगी तुम्हारे आये दिन की फरमायशों से मुक्त हो जाऊँगा, लेकिन एक सिविलियन की इज्जत भी तो कोई मामूली चीज नहीं है। तुम्हें पहले बिगड़कर कहना चाहिए था कि मुझसे ऐसा बेहूदा बातचीत करनी हो, तो यहाँ से चली जाओ। मैं अपने कानों से नहीं सुनना चाहती।

स्त्री—यह तो मैंने पहले ही किया, बिगड़कर खूब खरी-खोटी सुनायी। क्या इतना भी नहीं जानती! बेचारी मेरे पैरों पर सर रखकर रोने लगी।

राय साहब—यह कहा था कि राय साहब से कहूँगी, तो मुझे कच्चा ही चबा जायँगे?

यह कहते हुए राय साहब ने गद्‌गद होकर पत्नी को गले लगा लिया।

स्त्री—अजी, मैं न-जाने ऐसी कितनी ही बातें कह चुकी, लेकिन किसी तरह टाले नहीं टलती। रो-रोकर जान दे रही है।

राय साहब—उससे वादा तो नहीं कर लिया?

स्त्री—वादा? मैं तो रुपये लेकर सन्दूक में रख आयी। नोट थे।

राय साहब—कितनी जबरदस्त अहमक हो, न मालूम ईश्वर तुम्हें कभी समझ भी देगा या नहीं।

स्त्री—अब क्या देगा? देना होता, तो दे न दी होती।

राय साहब—हाँ, मालूम तो ऐसा ही होता है। मुझसे कहा तक नहीं, और रुपये लेकर सन्दूक में दाखिल कर लिये! अगर किसी तरह बात खुल जाय, तो कहीं का न रहूँ।

स्त्री—तो भाई, सोच लो। अगर कुछ गड़बड़ हो, तो मैं जाकर रुपये लौटा दूँ।

राय साहब—फिर वही हिमाकत! अरे, अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। ईश्वर पर भरोसा करके जमानत लेनी पड़ेगी। लेकिन तुम्हारी हिमाकत

में शक नहीं। जानती हो, यह साँप के मुँह में उँगली डालना है। यह भी जानती हो कि मुझे ऐसी बातों से कितनी नफरत है, फिर भी बेसब्र हो जाती हो। अबकी बार तुम्हारी हिमाकत से मेरा व्रत टूट रहा है। मैंने दिल में ठान लिया था कि अब इस मामले में हाथ न डालूँगा, लेकिन तुम्हारी हिमाकत के मारे जब मेरी कुछ चलने भी पाये!

स्त्री—मैं जाकर लौटाये देती हूँ।

राय साहब—और मैं जाकर जहर खाये लेता हूँ।

इधर तो स्त्री-पुरुष में यह अभिनय हो रहा था, उधर दमड़ी उसी वक्त अपने गाँव के मुखिया के खेत से जुआर काट रहा था। आज वह रात भर की छुट्टी लेकर घर गया था। बैलों के लिए चारे का एक तिनका भी नहीं है। अभी वेतन मिलने में कई दिन की देर थी, मोल ले न सकता था। घर वालों ने दिन को कुछ घास छीलकर खिलायी तो थी, लेकिन ऊँट के मुँह में जीरा। उतनी घास से क्या हो सकता था। दोनों बैल भूखे खड़े थे। दमड़ी को देखते ही दोनों पूँछें खड़ी करके हुँकारने लगे। जब वह पास गया, तो दोनों उसकी हथेलियाँ चाटने लगे। बेचारा दमड़ी मन मसोसकर रह गया। सोचा, इस वक्त तो कुछ हो नहीं सकता, सबेरे किसी से कुछ उधार लेकर चारा लाऊँगा।

लेकिन जब ११ बजे रात उसकी आँखें खुलीं, तो देखा कि दोनों बैल अभी तक नाँद पर खड़े हैं। चाँदनी रात थी, दमड़ी को जान पड़ा कि दोनों उसकी ओर उपेक्षा और याचना की दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी क्षुधा वेदना देखकर उसकी आँखें सजल हो आयीं। किसान को अपने बैल अपने लड़कों की तरह प्यारे होते हैं। वह उन्हें पशु नहीं, अपना मित्र और सहायक समझता है। बैलों को भूखे खड़े देखकर नींद आँखों से भाग गयी। कुछ सोचता हुआ उठा। हँसिया निकाली और चारे की फिक्र में चला। गाँव के बाहर बाजरे और जुआर के खेत खड़े थे। दमड़ी के हाथ काँपने लगे। लेकिन बैलों की याद ने उसे उत्तेजित कर दिया। चाहता, तो कई बोझ काट सकता था; लेकिन वह चोरी करते हुए भी चोर न था। उसने केवल उतना ही चारा काटा, जितना बैलों को रात-भर के लिए काफी हो। सोचा, अगर किसी ने देख भी

लिया, तो उससे कह दूँगा, बैल भूखे थे, इसलिए काट लिया। उसे विश्वास था कि थोड़े-से चारे के लिए कोई मुझे पकड़ नहीं सकता। मैं कुछ बेचने के लिए तो काट नहीं रहा हूँ; फिर ऐसा निर्दयी कौन है, जो मुझे पकड़ले। बहुत करेगा, अपने दाम ले लेगा। उसने बहुत सोचा। चारे का थोड़ा होना ही उसे चोरी के अपराध से बचाने को काफी था। चोर उतना काटता, जितना उससे उठ सकता। उसे किसी के फायदे और नुकसान से क्या मतलब? गाँव के लोग दमड़ी को चारा लिये जाते देखकर बिगड़ते जरूर, पर कोई चोरी के इलजाम में न फँसाता, लेकिन संयोग से हल्के के थाने का सिपाही उधर जा निकला। वह पड़ोस के एक बनिये के यहाँ जुआ होने की खबर पाकर कुछ ऐंठने की टोह में आया था। दमड़ी को चारा सिर पर उठाते देखा, तो सन्देह हुआ। इतनी रात गये कौन चारा काटता है? हो न हो, कोई चोरी से काट रहा है। डाँटकर बोला—कौन चारा लिये जाता है? खड़ा रह!

दमड़ी ने चौंककर पीछे देखा, तो पुलिस का सिपाही! हाथ-पाँव फूल गये, काँपते हुए बोला—हुजूर, थोड़ा ही-सा काटा है, देख लीजिए।

सिपाही—थोड़ा काटा हो या बहुत, है तो चोरी। खेत किसका है?

दमड़ी—बलदेव महतो का।

सिपाही ने समझा था, शिकार फँसा, इससे कुछ ऐंठूँगा; लेकिन वहाँ क्या रखा था। पकड़कर गाँव में लाया, और जब वहाँ भी कुछ हत्थे चढ़ता न दिखाई दिया तो थाने ले गया। थानेदार ने चालान कर दिया। मुकदमा राय साहब ही के इजलास में पेश किया।

राय साहब ने दमड़ी को फँसे हुए देखा, तो हमदर्दी के बदले कठोरता से काम लिया। बोले—यह मेरी बदनामी की बात है। तेरा क्या बिगड़ा, साल-छः महीने की सजा हो जायगी, शर्मिन्दा तो मुझे होना पड़ रहा है। लोग यही तो कहते होंगे कि राय साहब के आदमी ऐसे बदमाश और चोर हैं। तू मेरा नौकर न होता, तो मैं हलकी सजा देता; लेकिन तू मेरा नौकर है, इसलिए कड़ी-से-कड़ी सजा दूँगा। मैं यह नहीं सुन सकता कि राय साहब ने अपने नौकर के साथ रिआयत की।

यह कहकर राय साहब ने दमड़ी को छः महीने की सख्त कैद का हुक्म सुना दिया।

उसी दिन उन्होंने खून के मुकदमें में जमानत ले ली। मैंने दोनों वृत्तान्त सुने, और मेरे दिल में यह ख्याल और भी पक्का हो गया कि सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे-से बुरा काम करें, लेकिन अगर आप उसपर परदा डाल सकते हैं, तो आप सभ्य हैं, सज्जन हैं, जेन्टिलमैन हैं। अगर आपमें यह सिफत नहीं तो आप असभ्य हैं, गंवार हैं, बदमाश हैं। यही सभ्यता का रहस्य है!

समस्या

मेरे दफ्तर में चार चपरासी हैं। उनमें एक का नाम गरीब है। वह बहुत ही सीधा, बड़ा आज्ञाकारी, अपने काम में चौकस रहनेवाला, घुड़कियाँ खाकर चुप रह जानेवाला, यथा नाम तथा गुणवाला मनुष्य है। मुझे इस दफ्तर में साल भर होते हैं, मगर मैंने उसे एक दिन के लिए भी गैरहाजिर नहीं पाया। मैं उसे ९ बजे दफ्तर में अपनी फटी दरी पर बैठे हुए देखने का ऐसा आदी होगया हूँ। कि मानो वह भी उसी इमारत का कोई अंग है। इतना सरल है कि किसीकी बात टालना नहीं जाना। एक मुसलमान है। उससे सारा दफ्तर डरता है, मालूम नहीं क्यों? मुझे तो इसका कारण सिवाय उसकी बड़ी-बड़ी बातों के और कुछ नहीं मालूम होता? उसके कथनानुसार उसके चचेरे भाई रामपुर रियासत में काजी हैं, फूफा टोंक की रियासत में कोतवाल हैं। उसे सर्वसम्मति ने 'काजी-साहेब' की उपाधि दे रखी है। शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण हैं। उनके आशीर्वादों का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक है। ये तीनों कामचोर, गुस्ताख और आलसी हैं। कोई छोटा सा काम करने को भी कहिए तो बिना नाक-भौं सिकोड़े नहीं करते। क्लर्कों को तो कुछ समझते ही नहीं। केवल बड़े बाबू से कुछ दबते हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे झगड़ बैठते हैं। मगर इन सब दुर्गुणों के होते हुए भी दफ्तर में किसी की मिट्टी इतनी खराब नहीं हैं, जितनी बेचारे गरीब की। तरक्की का अवसर आता है, तो ये तीनों मार ले जाते हैं, गरीब को कोई पूछता भी नहीं। और सब दस-दस पाते हैं, वह अभी छः ही में पड़ा हुआ है। सुबह से शाम तक उसके पैर एक क्षण के लिए भी नहीं टिकते—यहाँ तक कि तीनों चपरासी उसपर हुकूमत जताते हैं और ऊपर की आमदनी में तो उस बेचारे का कोई भाग ही नहीं। तिसपर भी दफ्तर के सब कर्मचारी—दफ्तरी से लेकर बड़े बाबू तक सब—उससे चिढ़ते हैं। उसकी कितनी ही बार शिकायतें हो चुकी हैं, कितनी ही बार जुर्माना हो चुका है और डाट डपट तो नित्य ही हुआ करती है। इसका रहस्य कुछ मेरी समझ में न आता था। हाँ,

मुझे उस पर दया अवश्य आती थी, और अपने व्यवहार से मैं यह दिखाना चाहता था कि मेरी दृष्टि में उसका आदर अन्य चपरासियों से कम नहीं। यहाँ तक कि कई बार मैं उसके पीछे अन्य कर्मचारियों से लड़ भी चुका हूँ।

(२)

एक दिन बड़े बाबू ने गरीब से अपनी मेज साफ करने को कहा। वह तुरन्त मेज साफ करने लगा। दैवयोग से झाड़न का झटका लगा, तो दावात उलट गयी और रोशनाई मेज पर फैल गयी। बड़े बाबू यह देखते ही जामे से बाहर होगये। उसके दोनों कान पकड़कर खूब ऐंठे और भारतवर्ष की सभी प्रचलित भाषाओं से दुर्वचन चुन-चुनकर उसे सुनाने लगे। बेचारा गरीब आँखों में आँसू भरे चुपचाप मूर्तिवत् खड़ा सुनता था, मानों उसने कोई हत्या कर डाली हो। मुझे बड़े बाबू का जरा-सी बात पर इतना भयंकर रौद्र रूप धारण करना बुरा मालूम हुआ। यदि किसी दूसरे चपरासी ने इससे भी बड़ा कोई अपराध किया होता, तो भी उसपर इतना वज्र-प्रहार न होता। मैंने अंग्रेजी में कहा— बाबू साहब, आप यह अन्याय कर रहे हैं। उसने जान-बूझकर तो रोशनाई गिराया नहीं। इसका इतना कड़ा दण्ड अनौचित्य की पराकाष्ठा है।

बाबूजी ने नम्रता से कहा—आप इसे जानते नहीं, बड़ा दुष्ट है।

'मैं तो उसकी कोई दुष्टता नहीं देखता।'

'आप अभी उसे जानते नहीं, एक ही पाजी है। इसके घर दो हलों की खेती होती है, हजारों का लेन-देन करता है, कई भैंसें लगती हैं। इन्हीं बातों का इसे घमण्ड है।'

'घर की ऐसी दशा होती, तो आपके यहाँ चपरासगिरी क्यों करता?'

'विश्वास मानिए, बड़ा पोढ़ा आदमी है और बला का मक्खीचूस।'

'यदि ऐसा ही हो, तो भी कोई अपराध नहीं है।'

'अजी, अभी आप इन बातों को नहीं जानते। कुछ दिन और रहिए तो आपको स्वयं मालूम हो जायगा कि यह कितना कमीना आदमी है।'

एक दूसरे महाशय बोल उठे—भाई साहब, इसके घर मनों दूध-दही होता है, मनों मटर, जुवार, चने होते हैं; लेकिन इसकी कभी इतनी हिम्मत न हुई कि कभी थोड़ा-सा दफ्तरवालों को भी दे दें। यहाँ इन चीजों को तरसकर रह

जाते हैं। तो फिर क्यों न जी जले ? और यह सब कुछ इसी नौकरी की बदौलत हुआ है। नहीं तो पहले इसके घर में भूनी भाँग भी न थी।

बड़े बाबू कुछ सकुचाकर बोले—यह कोई बात नहीं। उसकी चीज है, किसी को दे या न दे; लेकिन यह बिलकुल पशु है।

मैं कुछ-कुछ मर्म समझ गया। बोला—यदि ऐसे तुच्छ-हृदय का आदमी है तो वास्तव में पशु ही है। मैं यह न जानता था।

अब बड़े बाबू भी खुले। संकोच दूर हुआ। बोले—इन सौगातों से किसी का उबार तो होता नहीं, केवल देनेवाले की सहृदयता प्रकट होती है। और आशा भी उसी से की जाती है, जो इस योग्य होता है। जिसमें सामर्थ्य ही नहीं, उससे कोई आशा नहीं करता। नंगे से कोई क्या लेगा ?

रहस्य खुल गया। बड़े बाबू ने सरल भाव से सारी अवस्था दरशा दी थी। समृद्धि के शत्रु सब होते हैं, छोटे ही नहीं, बड़े भी। हमारी ससुराल या ननिहाल दरिद्र हो, तो हम उससे आशा नहीं रखते। कदाचित् वह हमें विस्मृत हो जाती है। किन्तु वे सामर्थ्यवान होकर हमें न पूछें, हमारे यहाँ तीज और चौथ न भेजें, तो हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगता है। हम अपने निर्धन मित्र के पास जायँ, तो उसके एक बीड़े पान से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं; पर ऐसा कौन मनुष्य है, जो अपने किसी धनी मित्र के घर से बिना जलपान के लौटकर उसे मन में कोसने न लगे और सदा के लिए उसका तिरस्कार न करने लगे। सुदामा कृष्ण के घर से यदि निराश लौटते, तो कदाचित वह उनके शिशुपाल और जरासंध से भी बड़े शत्रु होते। यह मानव-स्वभाव है।

(२)

कई दिन पीछे मैंने गरीब से पूछा—क्यों जी, तुम्हारे घर पर कुछ खेती-बारी होती है ?

गरीब ने दीन-भाव से कहा—हाँ, सरकार होती है। आपके दो गुलाम हैं वही करते हैं।

'गायें भैसें भी लगती हैं ?'

'हाँ, हुजूर, दो भैसें लगती हैं, मुदा गाये अभी गाभिन नहीं हैं। हुजूर लोगों के ही दया-धरम से पेट की रोटियाँ चल जाती हैं।'

'दफ्तर के बाबू लोगों की भी कभी कुछ खातिर करते हो ?'

गरीब ने अत्यन्त दीनता से कहा—हुजूर, मैं सरकार लोगों की क्या खातिर कर सकता हूँ। खेती में जौ, चना, मक्का, जुवार के सिवाय और क्या होता है। आप लोग राजा हैं, यह मोटी-मोटी चीजें किस मुँह से आपकी भेंट करूँ। जी डरता है, कहीं कोई डाट न बैठे कि इस टके के आदमी की इतनी मजाल। इसी के मारे बाबूजी, हियाव नहीं पड़ता। नहीं तो दूध-दही की कौन बिसात थी। मुँह लायक बीड़ा तो होना चाहिए।

'भला एक दिन कुछ लाके दो तो, देखो, लोग क्या कहते हैं। शहर में यह चीजें कहाँ मयस्सर होती हैं। इन लोगों का जी कभी-कभी मोटी-झोटी चीजों पर चला करता है।'

'जो सरकार, कोई कुछ कहे तो ? कहीं कोई साहब से शिकायत कर दे तो मैं कहीं का न रहूँ।'

'इसका मेरा जिम्मा है, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा। कोई कुछ कहेगा, तो मैं समझा दूँगा।'

'तो हजूर, आज कल तो मटर की फसिल है। चने के साग भी हो गये हैं, और कोल्हू भी खड़ा हो गया है। इसके सिवाय तो और कुछ नहीं है।'

'बस, तो यही चीजें लाओ।'

'कुछ उल्टी-सीधी पड़े; तो हुजूर ही सँभालेंगे !

'हाँ जी, कह तो दिया कि मैं देख लूँगा।'

दूसरे दिन गरीब आया तो उसके साथ तीन हृष्ट-पुष्ट युवक भी थे। दो के सिरों पर दो टोकरियाँ थीं, उसमें मटर की फलियाँ भरी हुई थीं। एक के सिर पर मटका था, उनमें ऊख का रस था। तीनों ऊख का एक-एक गट्ठर काँख में दबाये हुए थे। गरीब आकर चुपके से बरामदे के सामने पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। दफ्तर में आने का उसे साहस नहीं होता था, मानो कोई अपराधी है। वृक्ष के नीचे खड़ा था कि इतने में दफ्तर के चपरासियों और अन्य कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। कोई ऊख लेकर चूसने लगा, कई आदमी टोकरी पर टूट पड़े लूट मच गयी। इतने में बड़े बाबू दफ्तर में आ पहुँचे। यह कौतुक देखा तो उच्च स्वर से बोले—यह क्या भीड़ लगा रखी है, अपना-अपना काम देखो

मैंने जाकर उनके कान में कहा—गरीब अपने घर से यह सौगात लाया है। कुछ आप ले लीजिए, कुछ इन लोगों को बाँट दीजिए।

बड़े बाबू ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा—क्यों गरीब, तुम ये चीजें यहाँ क्यों लाये? अभी लौटा ले जाओ, नहीं तो मैं साहब से रपट कर दूँगा। कोई हम लोगों को मलूका समझ लिया है।

गरीब का रंग उड़ गया। थर-थर काँपने लगा। मुँह से एक शब्द भी न निकला। मेरी ओर अपराधी नेत्रों से ताकने लगा।

मैंने उसकी ओर से क्षमा-प्रार्थना की। बहुत कहने-सुनने पर बाबू साहब राजी हुए। सब चीजों में से आधी-आधी अपने घर भिजवायी। आधी में अन्य लोगों के हिस्से लगाये गये। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त हुआ।

(४)

अब दफ्तर में गरीब का मान होने लगा। उसे नित्य घुड़कियाँ न मिलतीं; दिन-भर दौड़ना न पड़ता, कर्मचारियों के व्यंग्य और अपने सहवर्गियों के कटु-वाक्य न सुनने पड़ते। चपरासी लोग स्वयं उसका काम कर देते। उसके नाम में भी थोड़ा सा परिवर्तन हुआ। वह गरीब से गरीबदास बना। स्वभाव में भी कुछ तबदीली पैदा हुई। दीनता की जगह आत्मगौरव का उद्भव हुआ। तत्परता की जगह आलस्य ने ली। वह अब कभी देर करके दफ्तर आता, कभी-कभी बीमारी का बहाना करके घर बैठ रहता। उसके सभी अपराध अब क्षम्य थे। उसे अपनी प्रतीष्ठा का गुर हाथ लग गया था। वह अब दसवें-पाँचवें दिन दूध, दही आदि लाकर बड़े बाबू की भेंट किया करता। देवता को संतुष्ट करना सीख गया। सरलता के बदले अब उसमें काँइयाँपन आ गया।

एक रोज बड़े बाबू ने उसे सरकारी फार्मों का पार्सल छुड़ाने के लिए स्टेशन भेजा। कई बड़े-बड़े पुलिंदे थे। ठेले पर आये। गरीब ने ठेलेवालों से ।||) मजदूरी तय की थी। जब कागज दफ्तर में गये तो उसने बड़े बाबू से ।||) पैसे ठेलेवालों को देने के लिए वसूल किए। लेकिन दफ्तर से कुछ दूर जाकर उसकी नीयत बदली। अपनी दस्तूरी माँगने लगा। ठेलेवाले राजी न हुए। इस पर गरीब ने बिगड़कर सब पैसे जेब में रख लिये और धमकाकर बोला—अब एक फूटी कौड़ी भी न दूँगा। जाओ, जहाँ चाहे फरियाद करो। देखें, क्या बना लेते हो।

ठेलेवालों ने जब देखा कि भेंट न देने से जमा ही गायब हुई जाती है, तो रो-धोकर चार आने पैसे देने पर राजी हुए। गरीब ने अठन्नी उसके हवाले की, ।।।) की रसीद लिखवाकर उनके अँगूठे के निशान लगवाये और रसीद दफ्तर में दाखिल होगयी।

यह कुतूहल देखकर मैं दंग रह गया। यह वही गरीब है, जो कई महीने पहले सरलता और दीनता की मूर्ति था, जिसे कभी चपरासियों से भी अपने हिस्से की रकम माँगने का साहस न होता था, जो दूसरों को खिलाना भी न जानता था, खाने का तो जिक्र ही क्या। यह स्वाभावांतर देखकर अत्यन्त खेद हुआ। इसका उत्तरदायित्व किसके सिर था! मेरे सिर, जिसने उसे चघड़पन और धूर्तता का पहला पाठ पढ़ाया था। मेरे चित्त में प्रश्न उठा—इस काँइयाँ-पन से, जो दूसरों का गला दबाता है, वह भोलापन क्या बुरा था, जो दूसरों अन्याय सह लेता था। वह अशुभ मुहुर्त था, जब मैंने उसे प्रतिष्ठा-प्राप्ति का मार्ग दिखाया, क्योंकि वास्तव में वह उसके पतन का भयंकर मार्ग था। मैंने बाह्य प्रतिष्ठा पर उसकी आत्म प्रतिष्ठा का बलिदान कर दिया।

DO SAKHIYAN

दो सखियाँ

(१)

लखनऊ
१-७-२५

प्यारी बहन,

जबसे यहाँ आयी हूँ, तुम्हारी याद सताती रहती है। काश तुम कुछ दिनों के लिए यहाँ चली आतीं, तो कितनी बहार रहती। मैं तुम्हें अपने विनोद से मिलाती। क्या यह सम्भव नहीं है? तुम्हारे माता-पिता क्या तुम्हें इतनी भी आजादी न देंगे? मुझे तो आश्चर्य यही है कि बेड़ियाँ पहनकर तुम कैसे रह सकती हो। मैं तो इस तरह घण्टे-भर भी नहीं रह सकती। ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि मेरे पिताजी पुरानी लकीर पीटनेवालों में नहीं। वह उन नवीन आदर्शों के भक्त हैं, जिन्होंने नारी-जीवन को स्वर्ग बना दिया है। नहीं तो मैं कहीं की न रहती।

विनोद हाल ही में इंग्लैंड से डी० फिल० होकर लौटे हैं और जीवन-यात्रा आरंभ करने के पहिले एक बार संसार-यात्रा करना चाहते हैं। योरप का अधिकाश भाग तो वह देख चुके हैं, पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया की सैर किये बिना उन्हें चैन नहीं। मध्य एशिया और चीन का तो यह विशेष रूप से अध्ययन करना चाहते हैं। योरापियन यात्री जिन बातों की मीमांसा न कर सके, उन्हीं पर प्रकाश डालना इनका ध्येय है। सच कहती हूँ चन्दा, ऐसा साहसी, ऐसा निर्भीक, ऐसा आदर्शवादी पुरुष मैंने कभी नहीं देखा था। मैं तो उनकी बातें सुनकर चकित हो जाती हूँ। ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसका उन्हें पूरा ज्ञान न हो, जिसकी वह आलोचना न कर सकते हों; और यह केवल किताबी आलोचना नहीं होती, उसमें मौलिकता और नवीनता होती है। स्वतन्त्रता के तो वह अनन्य उपासक हैं। ऐसे पुरुष की पत्नी बनकर ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो अपने सौभाग्य पर गर्व न करे। बहन, तुमसे क्या कहूँ कि प्रातः

काल उन्हें अपने बँगले की ओर आते देखकर मेरे चित्त की क्या दशा हो जाती है। यह उनपर न्योछावर होने के लिए विकल हो जाती है। वह मेरी आत्मा में बस गये हैं। अपने पुरुष की मैंने मनमें जो कल्पना की थी, उसमें और इनमें बाल बराबर भी अन्तर नहीं। मुझे रात-दिन यही भय लगा रहता है कि कहीं मुझमें उन्हें कोई त्रुटि न मिल जाय। जिन विषयों से उन्हें रुचि है, उसका अध्ययन आधी रात तक बैठी किया करती हूँ। ऐसा परिश्रम मैंने कभी न किया था। आईने-कंघी से मुझे कभी इतना प्रेम न था, सुभाषितों का मैंने कभी इतने चाव से कण्ठ न किया था। अगर इतना सब कुछ करने पर भी मैं उनका हृदय न पा सका, तो बहन, मेरा जीवन नष्ट हो जायगा, मेरा हृदय फट जायगा और संसार मेरे लिए सूना हो जायगा।

कदाचित् प्रेम के साथ ही मन में ईर्ष्या का भाव भी उदय हो जाता है। उन्हें मेरे बँगले की ओर आते हुए देख जब मेरी पड़ोसिन कुसुम अपने बरामदे में आकर खड़ी हो जाती है, तो मेरा ऐसा जी चाहता है कि उसकी आँखें ज्योति-हीन हो जायँ। कल तो अनर्थ ही हो गया। विनोद ने उसे देखते ही हैट उतार ली और मुसकिराये। वह कुलटा भी खीसें निकालने लगी। ईश्वर सारी विपत्तियाँ दे, पर मिथ्याभिमान न दे। चुड़ैलों की-सी तो आपकी सूरत है, पर अपने को अप्सरा समझती हैं। आप कविता करती हैं और कई पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छप भी गई हैं। बस, आप जमीन पर पाँव नहीं रखतीं सच कहती हूँ, थोड़ी देरी के लिए विनोद पर से मेरी श्रद्धा उठ गयी। ऐसा आवेश होता था कि चलकर कुसुम का मुँह नोच लूँ। खैरियत हुई कि दोनों में बातचीत न हुई, पर विनोद आकर बैठे, तो आध घण्टे तक मैं उनसे न बोल सकी, जैसे उनके शब्दों में वह जादू ही न था, वाणी में वह रस ही न था। तबसे अब तक मेरे चित्त की व्यग्रता शान्त नहीं हुई। रात-भर मुझे नींद नहीं आयी, वह दृश्य आँखों के सामने बार-बार आता था। कुसुम को लज्जित करने के लिए कितने मंसूबे बाँध चुकी हूँ। चंदा, मुझे आज तक यह नहीं मालूम था कि मेरा मन इतना दुर्बल है। अगर यह भय न होता कि विनोद मुझे ओछी और हलकी समझेंगे, तो मैं उनसे अपने मनोभावों को स्पष्ट कह देती। मैं सम्पूर्णतः उनकी होकर उन्हें संपूर्णतः अपना बनाना चाहती हूँ। मुझे विश्वास

है कि संसार का सबसे रूपवान युवक मेरे सामने आ जाय, तो मैं उसे आँख उठाकर न देखूँगी। विनोद के मन में मेरे प्रति यह भाव क्यों नहीं है ?

चन्दा, प्यारी बहन; एक सप्ताह के लिए आ जा। तुझसे मिलने के लिए मन अधीर हो रहा है। मुझे इस समय तेरी सलाह और सहानुभूति की बड़ी जरूरत है। यह मेरे जीवन का सबसे नाजुक समय है। इन्हीं दस-पाँच दिनों में या तो पारस हो जाऊँगी या मिट्टी। लो ७ बज गए और अभी बाल तक नहीं बनाये। विनोद के आने का समय है। अब विदा होती हूँ। कहीं आज फिर अभागिनी कुसुम अपने बरामदे में न आ खड़ी हो। अभी से दिल काँप रहा है। कल तो यह सोचकर मन को समझाया था कि यों ही सरल भाव से वह हँस पड़ी होगी। आज भी अगर वही दृश्य सामने आया, तो उतनी आसानी से मन को न समझा सकूँगी।

तुम्हारी,
पद्मा

(२)

गोरखपुर
५–७–२५

प्रिय पद्मा

भला एक युग के बाद तुम्हें मेरी सुधि आयी। मैंने तो समझा था, शायद तुमने परलोक-यात्रा कर ली। यह उस निष्ठुरता का ही दंड है, जो कुसुम तुम्हें दे रही है। १५ एप्रिल को कालेज बंद हुआ और एक जुलाई को आप खत लिखती हैं—पूरे ढाई महीने बाद, वह भी कुसुम की कृपा से। जिस कुसुम को तुम कोस रही हो, उसे मैं आशीर्वाद दे रही हूँ। वह दारुण दुःख की भाँति तुम्हारे रास्ते में न आ खड़ी होती, तो तुम्हें क्यों मेरी याद आती। खैर, विनोद की तुमने जो तसवीर खींची वह बहुत ही आकर्षक है, और मैं ईश्वर से मना रही हूँ, वह दिन जल्द आये कि मैं उनसे बहनोई के नाते मिल सकूँ। मगर देखना, कहीं सिविल मैरेज न कर बैठना। विवाह हिन्दू-पद्धति के अनुसार ही हो। हाँ, तुम्हें अख्तियार है जो सैकड़ों बेहूदा और व्यर्थ के पचड़े हैं, उन्हें निकाल डालो। एक सच्चे, विद्वान् पण्डित को अवश्य बुलाना, इसलिए नहीं

कि वह तुमसे बात-बात पर टके निकलवाये, बल्कि इसलिए कि वह देखता रहे कि सब कुछ शास्त्र-विधि से हो रहा है, या नहीं।

अच्छा, अब मुझसे पूछो कि इतने दिनों क्यों चुप्पी साधे बैठी रही। मेरे ही खानदान में इन ढाई महीनों में, पाँच शादियाँ हुईं। बारातों का ताँता लगा रहा। ऐसा शायद ही कोई दिन गया हो कि १०० मेहमानों से कम रहे हों और जब बारात आ जाती थी, तब तो उनकी संख्या पाँच-पाँच सौ तक पहुँच जाती थी। ये पाँचो लड़कियाँ मुझसे छोटी हैं; और मेरा बस चलता तो अभी तीन-चार साल तक न बोलती, लेकिन मेरी सुनता कौन है और विचार करने पर मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि माता-पिता का लड़कियों के विवाह के लिए जल्दी करना कुछ अनुचित नहीं है। जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। अगर माता-पिता अकाल ही मर जायँ, तो लड़की की विवाह कौन करे। भाइयों का क्या भरोसा। अगर पिता ने काफी दौलत छोड़ी है तब तो कोई बात नहीं; लेकिन जैसा साधारणतः होता है, पिता ऋण का भार छोड़ गये, तो बहन भाइयों पर भार हो जाती है यह भी अन्य कितने ही हिन्दू-रस्मों की भाँति आर्थिक समस्या है, और जब तक हमारी आर्थिक दशा न सुधरेगी, यह रस्म भी न मिटेगी।

अब मेरे बलिदान की बारी है। आज के पन्द्रहवें दिन यह घर मेरे लिए विदेश हो जायगा। दो-चार महीने के लिए आऊँगी, तो मेहमान की तरह। मेरे विनोद बनारसी हैं, अभी कानून पढ़ रहे हैं। उनके पिता नामी वकील हैं। सुनती हूँ, कई गाँव हैं, कई मकान हैं, अच्छी मर्यादा है। मैंने अभी तक वर को नहीं देखा। पिता जी ने मुझसे पुछवाया था कि इच्छा हो, तो वर को बुला दूँ। पर मैंने कह दिया, कोई जरूरत नहीं। कौन घर में बहू बने। है तकदीर ही का सौदा। न पिता जी ही किसी के मन में पैठ सकते हैं, न मैं ही। अगर दो-एक बार देख ही लेती, नहीं मुलाकात ही कर लेती तो क्या हम दोनों एक दूसरे को परख लेते? यह किसी तरह संभव नहीं। ज्यादा-से ज्यादा हम एक दूसरे का रंग-रूप देख सकते हैं। इस विषय में मुझे विश्वास है कि पिताजी मुझसे कम संयत नहीं हैं। मेरे दोनों बड़े बहनोई सौंदर्य के पुतले न हों पर कोई रमणी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरी बहनें उनके साथ आनन्द से जीवन बिता रही हैं। फिर पिता जी मेरे ही साथ क्यों अन्याय करेंगे। यह

मैं मानती हूँ कि हमारे समाज में कुछ लोगों का वैवाहिक जीवन सुखकर नहीं है, लेकिन संसार में ऐसा कौन समाज है, जिसमें दुखी परिवार न हों। और फिर हमेशा पुरुषों ही का दोष तो नहीं होता बहुधा स्त्रियाँ ही विष की गाँठ होती हैं। मैं तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती हूँ और इसी भाव से उसका अभिवादन करती हूँ। हाँ, मैं तुम्हें विनोद से छीनना तो नहीं चाहती, लेकिन अगर २० जुलाई तक तुम दो दिन के लिए आ सको, तो मुझे जिला लो। ज्यों-ज्यों इस व्रत का दिन निकट आ रहा है, मुझे एक अज्ञात शंका हो रही है, मगर खुद बीमार हो, मेरी दवा क्या करोगी—जरूर आना, बहन!

तुम्हारी,
चन्दा

(३)

मंसूरी
५-८-२५

प्यारी चन्दा,

सैकड़ों बातें लिखनी हैं, किस क्रम से शुरू करूँ, समझ में नहीं आता। सबसे पहले तुम्हारे विवाह के शुभ अवसर पर न पहुँच सकने के लिए क्षमा चाहती हूँ। मैं आने का निश्चय कर चुकी थी, मैं और प्यारी चन्दा के स्वयंवर में न जाऊँ। मगर उसके ठीक तीन दिन पहले विनोद ने अपना आत्म-समर्पण करके मुझे ऐसा मुग्ध कर दिया कि फिर मुझे किसी बात की सुधि न रही। आह! वे प्रेम के अन्तस्तल से निकले हुए उष्ण, आवेशमय और कंपित शब्द अभी तक कानों में गूँज रहे हैं। मैं खड़ी थी, और विनोद मेरे सामने घुटने टेके हुए प्रेरणा; विनय और आग्रह के पुतले बने बैठे थे। ऐसा अवसर जीवन में एक ही बार आता है, केवल एक बार, मगर उसकी मधुर स्मृति किसी स्वर्ग-संगीत की भाँति जीवन के तार-तार में व्याप्त रहता है। तुम उस आनन्द का अनुभव न कर सकोगी—मैं रोने लगी, कह नहीं सकती, मन में क्या-क्या भाव आये; पर मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। कदाचित् यही आनन्द की चरम सीमा है। मैं कुछ-कुछ निराश हो चली थी। तीन-चार दिन से विनोद

को आते-जाते कुसुम से बातें करते देखती थी, कुसुम नित नये आभूषणों से सजी रहती थी और क्या कहूँ, एक दिन विनोद ने कुसुम की एक कविता मुझे सुनायी और एक-एक शब्द पर सिर धुनते रहे। मैं मानिनी तो हूँ ही; सोची, जब यह उस चुड़ैल पर लट्टू हो रहे हैं, तो मुझे क्या गरज पड़ी है कि इनके लिए अपना सिर खपाऊँ। दूसरे दिन वह सवेरे आये, तो मैंने कहला दिया, तबीयत अच्छी नहीं है। जब उन्होंने मुझसे मिलने के लिए आग्रह किया, तब विवश होकर मुझे कमरे में आना पड़ा। मन में निश्चय करके आई थी—साफ कह दूँगी अब आप न आया कीजिए। मैं आपके योग्य नहीं हूँ, मैं कवि नहीं, विदुषी नहीं, सुभाषिणी नहीं........एक पूरी स्पीच मन में उमड़ रही थी, पर कमरे में आई और विनोद के सतृष्ण नेत्र देखे, प्रबल उत्कंठा से काँपते हुए ओठ—बहन, उस आवेश का चित्रण नहीं कर सकती। विनोद ने मुझे बैठने भी न दिया। मेरे सामने घुटनों के बल फर्श पर बैठ गये, और उनके आतुर उन्मत्त शब्द मेरे हृदय को तरंगित करने लगे।

एक सप्ताह तैयारियों में कट गया। पापा और मामा फूले न समाते थे। और सबसे प्रसन्न थी कुसुम! वही कुसुम जिसकी सूरत से मुझे घृणा थी! अब मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने उसपर संदेह करके उसके साथ घोर अन्याय किया। उसका हृदय निष्कपट है, उसमें न ईर्ष्या है, न तृष्णा, सेवा ही उसके जीवन का मूल-तत्व है। मैं नहीं समझती कि उसके बिना ये सात दिन कैसे कटते। मैं कुछ खोई-खोई-सी जान पड़ती थी। कुसुम पर मैंने अपना सारा भार छोड़ दिया था। आभूषणों के चुनाव और सजाव, वस्त्रों के रंग और काट-छाँट के विषय में उसकी सुरुचि विलक्षण है। आठवें दिन जब उसने मुझे दुलहिन बनाया, तो मैं अपना रूप देखकर चकित हो गई। मैंने अपने को कभी ऐसी सुन्दरी न समझा था। गर्व से मेरी आँखों में नशा-सा छा गया?

उसी दिन संध्या-समय विनोद और मैं दो भिन्न जल-धाराओं की भाँति संगम पर मिलकर अभिन्न हो गये। विहार-यात्रा की तैयारी पहले ही से हो चुकी थी, प्रातःकाल हम मंसूरी के लिए रवाना हो गये। कुसुम हमें पहुँचाने के लिए स्टेशन तक आयी और विदा होते समय बहुत रोयी। उसे साथ ले चलना चाहती थी, पर न-जाने क्यों वह राजी न हुई।

मंसूरी रमणीक है, इसमें सन्देह नहीं। श्यामवर्ण मेघ-मालाएँ पहाड़ियों पर विश्राम कर रही हैं, शीतल पवन आशा-तरंगों की भाँति चित्त का रंजन कर रहा है; पर मुझे ऐसा विश्वास है कि विनोद के साथ मैं किसी निर्जन वन में भी इतने ही सुख से रहती। उन्हें पाकर अब मुझे किसी वस्तु की लालसा नहीं। बहन, तुम इस आनन्दमय जीवन की शायद कल्पना भी न कर सकोगी। सुबह हुई, नाश्ता आया, हम दोनों ने नाश्ता किया; डाँडी तैयार है, नौ बजते-बजते सैर करने निकल गये। किसी जल-प्रपात के किनारे जा बैठे। वहाँ जल-प्रवाह का मधुर संगीत सुन रहे हैं या किसी शिला-खंड पर बैठे मेघों की व्योम-क्रीड़ा देख रहे हैं। ११ बजते-बजते लौटे। भोजन तैयार है। भोजन किया। मैं प्यानो पर जा बैठी। विनोद को संगीत से प्रेम है। खुद बहुत अच्छा गाते हैं, और मैं गाने लगती हूँ, तब तो वह झूमने ही लगते हैं। तीसरे पहर हम एक घंटे के लिए विश्राम करके खेलने या कोई खेल देखने चले जाते हैं। रात को भोजन करने के बाद थियेटर देखते हैं और वहाँ से लौटकर शयन करते हैं। न सास की घुड़कियाँ हैं, न ननदों की कानाफूसी, न जेठानियों के ताने। पर इस सुख में भी मुझे कभी-कभी मुझे एक शंका-सी होती है—फूल में कोई काँटा तो नहीं छिपा हुआ है, प्रकाश के पीछे कहीं अन्धकार तो नहीं है! मेरी समझ में नहीं आता, ऐसी शंका क्यों होती है। अरे, यह लो पाँच बज गये, विनोद तैयार हैं, आज टेनिस का मैच देखने जाना है। मैं भी जल्दी से तैयार हो जाऊँ। शेष बातें फिर लिखूँगी।

हाँ, एक बात तो भूली ही जा रही थी। अपने विवाह का समाचार लिखना। पतिदेव कैसे हैं? रंग-रूप कैसा है? ससुराल गयी, या अभी मैके ही में हो? ससुराल गयी, तो वहाँ के अनुभव अवश्य लिखना। तुम्हारी खूब नुमाइश हुई होगी। घर, कुटुम्ब और मुहल्ले की महिलाओं ने घूँघट उठा-उठाकर खूब मुँह देखा होगा, खूब परीक्षा हुई होगी। ये सभी बातें विस्तार से लिखना। देखें, कब फिर मुलाकात होती है।

तुम्हारी,
पद्मा

(४)

गोरखपुर
१-६-२५

प्यारी पद्मा,

तुम्हारा पत्र पढ़कर चित्त को बड़ी शांति मिली। तुम्हारे न आने ही से मैं समझ गयी थी कि विनोद बाबू तुम्हें हर ले गये, मगर यह न समझी थी कि तुम मंसूरी पहुँच गयी। अब उस आमोद-प्रमोद में भला गरीब चन्दा तुम्हें क्यों याद आने लगी। अब मेरी समझ में आ रहा है कि विवाह के नये और पुराने आदर्श में क्या अन्तर है। तुमने अपनी पसन्द से काम लिया, सुखी हो। मैं लोक-लाज की दासी बनी रही, नसीबों को रो रही हूँ।

अच्छा, अब मेरी बीती सुनो। दान-दहेज के टंटे से तो मुझे कुछ मतलब नहीं। पिताजी से बड़ा ही उदार-हृदय पाया। खूब दिल खोलकर दिया होगा। मगर द्वार पर बारात आते ही मेरी अग्नि-परीक्षा शुरू हो गयी। कितनी उत्कण्ठा थी वरदर्शन की, पर देखूँ कैसे! कुल की नाक न कट जायगी। द्वार पर बारात आयी। सारा जमाना वर को घेरे हुए था। मैंने सोचा—छत पर से देखूँ। छत पर गयी, पर वहाँ से भी कुछ न दिखाई दिया। हाँ, इस अपराध के लिए अम्माँजी की घुड़कियाँ सुननी पड़ीं। मेरी जो बात इन लोगों को अच्छी नहीं लगती, उसका दोष मेरी शिक्षा के माथे मढ़ा जाता है। पिताजी बेचारे मेरे साथ बड़ी सहानुभूति रखते हैं। मगर किस-किस का मुँह पकड़ें। द्वारचार तो यों गुजरा और भाँवरों की तैयारियाँ होने लगीं। जनवासे से गहनों और कपड़ों का डाल आया। बहन! सारा घर—स्त्री पुरुष—सब उसपर कुछ इस तरह टूटे, मानो इन लोगों ने कभी कुछ देखा ही नहीं। कोई कहता है, कंठा तो लाये ही नहीं; कोई हार के नाम को रोता है? अम्माँजी तो सचमुच रोने लगीं, मानो मैं डुबा दी गयी। वर-पक्षवालों की दिल खोलकर निंदा होने लगी। मगर मैंने गहनों की तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखा। हाँ, जब कोई वर के विषय में कोई बात करता था, तो मैं तन्मय होकर सुनने लगती थी। मालूम हुआ—दुबले-पतले आदमी हैं। रंग साँवला है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं, हँसमुख हैं। इन सूचनाओं से दर्शनोत्कंठा और भी प्रबल होती थी। भाँवरों का मुहूर्त ज्यों-ज्यों

समीप आता था, मेरा चित्त व्यग्र होता जाता था। अब तक यद्यपि मैंने उनकी झलक भी न देखी थी, पर मुझे उनके प्रति एक अभूतपूर्व प्रेम का अनुभव हो रहा था। इस वक्त यदि मुझे मालूम हो जाता कि उनके दुश्मनों को कुछ हो गया है, तो मैं बावली हो जाती। अभी तक मेरा उनसे साक्षात् नहीं हुआ है, मैंने उनकी बोली तक नहीं सुनी है, लेकिन संसार का सबसे रूपवान पुरुष भी, मेरे चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। अब वही मेरे सर्वस्व हैं।

आधी रात के बाद भाँवरें हुईं। सामने हवन कुण्ड था, दोनों ओर विप्र-गण बैठे हुए थे, दीपक जल रहा था, कुल देवता की मूर्ति रखी हुई थी। वेद-मंत्र का पाठ हो रहा था। उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि सचमुच देवता विराजमान हैं। अग्नि, वायु, दीपक, नक्षत्र सभी मुझे उस समय देवत्व की ज्योति से प्रदीप्त जान पड़ते थे। मुझे पहली बार आध्यात्मिक विकास का परिचय मिला। मैंने जब अग्नि के सामने मस्तक झुकाया, तो यह कोरी रस्म की पाबंदी न थी, मैं अग्नि देव को अपने सम्मुख मूर्तिमान्, स्वर्गीय आभा से तेजोमय देख रही थी। आखिर भाँवरें भी समाप्त हो गयीं; पर पतिदेव के दर्शन न हुए।

अब अंतिम आशा यह थी कि प्रातःकाल जब पतिदेव कलेवा के लिए बुलाये जायँगे, उस समय देखूँगी। तब उनके सिर पर मौर न होगा, सखियों के साथ मैं भी जा बैठूँगी और खूब जी भरकर देखूँगी। पर क्या मालूम था कि विधि कुछ और ही कुचक्र रच रहा है। प्रातःकाल देखती हूँ, तो जनवासे के खेमे उखड़ रहे हैं। बात कुछ न थी। बारातियों के नाश्ते के लिए जो सामान भेजा गया था, वह काफी न था। शायद घी भी खराब था। मेरे पिताजी को तुम जानती ही हो। कभी किसी से दबे नहीं, जहाँ रहे शेर बनकर रहे। बोले— जाते हैं, तो जाने दो, मनाने की कोई जरूरत नहीं; कन्यापक्ष का धर्म है बारा-तियों का सत्कार करना, लेकिन सत्कार का यह अर्थ नहीं कि धमकी और रोब से काम लिया जाय, मानो किसी अफसर का पड़ाव हो। अगर वह अपने लड़के की शादी कर सकते हैं, तो मैं भी अपनी लड़की का शादी कर सकता हूँ।

बरात चली गया और मैं पति के दर्शन न कर सकी! सारे शहर में हलचल मच गयी। विरोधियों को हँसने का अवसर मिला। पिताजी ने बहुत सामान जमा किया था। वह सब खराब हो गया। घर में जिसे देखिए, मेरी ससुराल

की निंदा कर रहा है—उजड्ड हैं, लोभी हैं, बदमाश हैं। मुझे जरा भी बुरा नहीं लगता। लेकिन पति के विरुद्ध मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहती। एक दिन अम्माँजी बोलीं—लड़का भी बेसमझ है। दूध-पीता बच्चा नहीं, कानून पढ़ता है, मूँछ-दाढ़ी आ गई है, उसे अपने बाप को समझाना चाहिए था कि आप लोग क्या कर रहे हैं। मगर वह भी भीगी बिल्ली बन रहा। मैं सुनकर तिलमिला उठी। कुछ बोली तो नहीं, पर अम्माँजी को मालूम जरूर होगया कि इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं। मैं तुम्हीं से पूछता हूँ बहन, जैसी समस्या उठ खड़ी हुई थी, उसमें उनका क्या धर्म था? अगर वह अपने पिता और अन्य सम्बन्धियों का कहना न मानते, तो उनका अपमान न होता? उस वक्त उन्होंने वही किया, जो उचित था। मगर मुझे विश्वास है कि जरा मामला ठंढा होने पर वह आयेंगे। मैं अभी से उनकी राह देखने लगी हूँ। डाकिया चिट्ठियाँ लाता है, तो दिल में धड़कन होने लगती है—शायद उनका पत्र भी हो! जी में बार-बार आता है, क्यों न मैं ही एक खत लिखूँ; मगर संकोच में पड़कर रह जाती हूँ। शायद मैं कभी न लिख सकूँगी। मान नहीं है केवल संकोच है। पर हाँ, अगर दस-पाँच दिन और उनका पत्र न आया, या वह खुद न आये, तो संकोच मान का रूप धारण कर लेगा। क्या तुम उन्हें एक चिट्ठी नहीं लिख सकती! सब खेल बन जाय। क्या मेरी इतनी खातिर भी न करोगी? मगर ईश्वर के लिए उस खत में कहीं यह न लिख देना कि चन्दा ने प्रेरणा की है। क्षमा करना, ऐसी भद्दी गलती की तुम्हारी ओर से शंका करके मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ, मगर मैं समझदार थी ही कब?

तुम्हारी,
चन्दा

(५)

मंसूरी
२०-६-२५

प्यारी चन्दा,

मैंने तुम्हारा खत पाने के दूसरे ही दिन काशी खत लिख दिया था। उसका

जवाब भी मिल गया। शायद बाबूजी ने तुम्हें खत लिखा हो। कुछ पुराने खयाल के आदमी हैं। मेरी तो उनसे एक दिन भी न निभती। हाँ, तुमसे निभ जायगी। यदि मेरे पति ने मेरे साथ यह बर्ताव किया होता—अकारण मुझसे रूठे होते—तो मैं जिन्दगी-भर उनकी सूरत न देखती। अगर कभी आते भी, तो कुत्तों की तरह दुत्कार देती। पुरुष पर सबसे बड़ा अधिकार उसकी स्त्री का है। माता-पिता को खुश रखने के लिए वह स्त्री का तिरस्कार नहीं कर सकता। तुम्हारे ससुरालवालों ने बड़ा घृणित व्यवहार किया। पुराने खयालवालों का गजब का कलेजा है, जो ऐसी बातें सहते हैं। देखो न उस प्रथा का फल, जिसकी तारीफ करते तुम्हारी जबान नहीं थकती। वह दीवार सड़ गयी है। टीपटाप करने से काम न चलेगा। उसकी जगह नये सिरे से दीवार बनाने की जरूरत है।

अच्छा, अब कुछ मेरी भी कथा सुन लो। मुझे ऐसा संदेह हो रहा है कि विनोद ने मेरे साथ दगा की है। इनकी आर्थिक दशा वैसी नहीं, जैसी मैंने समझी थी। केवल मुझे ठगने के लिए इन्होंने सारा स्वाँग भरा था। मोटर माँगे की थी, बँगले का किराया अभी तक नहीं दिया गया, फरनिचर किराये के थे। यह सच है कि इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुझे धोखा नहीं दिया। कभी अपनी दौलत की डींग नहीं मारी, लेकिन ऐसा रहन-सहन बना लेना, जिससे दूसरों का अनुमान हो कि वह कोई बड़े धनी आदमी हैं, एक प्रकार का धोखा ही है। यह स्वाँग इसीलिए भरा गया था कि कोई शिकार फँस जाय। अब देखती हूँ कि विनोद मुझसे अपनी असली हालत को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। अपने खत मुझे नहीं देखने देते, कोई मिलने आता है, तो वह चौंक पड़ते हैं और घबरायी हुई आवाज में बैरा से पूछते हैं, कौन है? तुम जानती हो, मैं धन की लौंडी नहीं। मैं केवल विशुद्ध हृदय चाहती हूँ। जिसमें पुरुषार्थ है, प्रतिभा है, वह आज नहीं तो कल अवश्य ही धनवान् होकर रहेगा। मैं इस कपट-लीला से जलती हूँ। अगर विनोद अपनी कठिनाइयाँ कह दें, तो मैं उनके साथ सहानुभूति करूँगी, उन कठिनाइयों को दूर करने में उनकी मदद करूँगी। यों मुझसे परदा करके यह मेरी सहानुभूति और सहयोग ही से हाथ नहीं धोते, मेरे मन में अविश्वास, द्वेष और क्षोभ का बीज बोते हैं। यह चिंता मुझे मारे डालती है। अगर इन्होंने

अपनी दशा साफ-साफ बता दी होती, तो मैं यहाँ मंसूरी आती ही क्यों ? लखनऊ में ऐसी गरमी नहीं पड़ती कि आदमी पागल हो जाय। यह हजारों रुपये पर क्यों पानी पड़ता। सबसे कठिन समस्या जीविका की है। कई विद्यालयों में आवेदन-पत्र भेज रखे हैं। जवाब का इंतजार कर रहे हैं। शायद इस महीने के अंत तक कहीं जगह मिल जाय। पहले तीन-चार सौ मिलेंगे। समझ में नहीं आता, कैसे काम चलेगा। १५०) तो पापा मेरे कालेज का खर्च देते थे। अगर दस-पाँच महीने जगह न मिली तो क्या करेंगे, यह फिक्र और भी खाये डालती है। मुश्किल यही है कि विनोद मुझसे परदा रखते हैं। अगर हम दोनों बैठकर परामर्श कर लेते, तो सारी गुत्थियाँ सुलझ जातीं। मगर शायद यह मुझे इस योग्य ही नहीं समझते। शायद इनका खयाल है कि मैं केवल रेशमी गुड़िया हूँ, जिसे भाँति-भाँति आभूषणों, सुगंधों और रेशमी वस्त्रों से सजाना ही काफी है। थियेटर में कोई नया तमाशा होनेवाला होता है, तो दौड़े हुए आकर मुझे खबर देते हैं। कहीं कोई जलसा हो, कोई खेल हो, कहीं सैर करना हो, उनकी शुभ सूचना मुझे अविलम्ब दी जाती है, और बड़ी प्रसन्नता के साथ, माना मैं रात-दिन विनोद और क्रीड़ा एवं विलास में मग्न रहना चाहती हूँ, मानो मेरे हृदय में गंभीर अंश से ही नहीं ! यह मेरा अपमान है, घोर अपमान, जिसे मैं अब नहीं सह सकती। मैं अपने संपूर्ण अधिकार लेकर ही संतुष्ट हो सकती हूँ। बस, इस वक्त इतना ही। बाकी फिर। अपने यहाँ का हाल-हवाल विस्तार से लिखना। मुझे अपने लिए जितनी चिंता है, उससे कम तुम्हारे लिए नहीं है। देखो, हम दोनों के डोंगे कहाँ लगते हैं। तुम अपनी स्वदेशी, पाँच हजार वर्षों की पुरानी जर्जर नौका पर बैठी हो, मैं नये, द्रुतगामी मोटर-बोट पर। अवसर, विज्ञान और उद्योग मेरे साथ हैं। लेकिन कोई दैवी विपत्ति आ जाय, तब भी इसी मोटर-बोट पर डूबूँगी। साल में लाखों आदमी रेल के टक्करों से मर जाते हैं, पर कोई बैलगाड़ियों पर यात्रा नहीं करता। रेलों का विस्तार बढ़ता ही जाता है। बस।

तुम्हारी,

पद्मा

(६)

गोरखपुर
२५-६-२५

प्यारी पद्मा,

तुम्हारा खत मिला, आज जवाब लिख रही हूँ। एक तुम हो कि महीनों रटाती हो। इस विषय में तुम्हें मुझसे उपदेश लेना चाहिए। विनोद बाबू पर तुम व्यर्थ ही आक्षेप लगा रही हो। तुमने क्यों पहले ही उनकी आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल नहीं की? बस, एक सुन्दर, रसिक, शिष्ट, वाणी-मधुर युवक को देखकर फूल उठीं! अब भी तुम्हारा ही दोष है। तुम अपने व्यवहार से, रहन-सहन से सिद्ध कर दो कि तुममें गंभीर अंश भी है, फिर देखूँ कि विनोद बाबू कैसे तुमसे परदा रखते हैं। और बहन, वह तो मानवी स्वभाव है। सभी चाहते हैं कि लोग हमें संपन्न समझें। इस स्वाँग को अंत तक निभाने की चेष्टा की जाती है और जो इस काम में सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल समझा जाता है। जिस युग में धन ही सर्वप्रधान हो, मर्यादा, कीर्ति, यश—यहाँ तक कि विद्या भी धन से खरीदी जा सके, उस युग में स्वाँग भरना एक लाजिमी बात हो जाती है। अधिकार योग्यता का मुँह ताकते हैं! यही समझ लो कि इन दोषों में फूल और फल का संबंध है। योग्यता का फूल लगा, और अधिकार का फल आया।

इस ज्ञानोपदेश के बाद अब तुम्हें हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। तुमने पतिदेव के नाम जो पत्र लिखा था, उसका बहुत अच्छा असर हुआ। उसके पाँचवें दिन स्वामी का कृपापत्र मुझे मिला। बहन, वह खत पाकर मुझे कितनी खुशी हुई, इसका तुम अनुमान कर सकती हो। मालूम होता था, अंधे को आँखें मिल गयी हैं। कभी कोठे पर जाती थी, कभी नीचे आती थी। सारे घर में खलबली पड़ गयी। तुम्हें वह पत्र अत्यन्त निराशाजनक जान पड़ता, मेरे लिए वह संजीवन-मन्त्र था, आशादीपक था। प्राणेश ने बारातियों की उद्दंडता पर खेद प्रकट किया था, पर बड़ों के सामने वह जबान कैसे खोल सकते थे। फिर जनातियों ने भी, बरातियों का जैसा आदर-सत्कार करना चाहिए था, वैसा नहीं किया। अन्त में लिखा था—'प्रिये, तुम्हारे दर्शनों की

कितनी उत्कंठा है, लिख नहीं सकता। तुम्हारी कल्पित मूर्ति नित आँखों के सामने रहती है। पर कुल-मर्यादा का पालन करना मेरा कर्तव्य है। जबतक माता-पिता का रुख न पाऊँ, आ नहीं सकता। तुम्हारे वियोग में चाहे प्राण ही निकल जायँ, पर पिता की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकता। हाँ, एक बात का दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ—चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय, कपूत कहलाऊँ पिता के कोप का भागी बनूँ, घर छोड़ना पड़े पर अपनी दूसरी शादी न करूँगा। मगर जहाँ तक मैं समझता हूँ, मामला इतना तूल न खींचेगा। ये लोग थोड़े दिनों में नर्म पड़ जायँगे और तब मैं आऊँगा और अपनी हृदयेश्वरी को आँखों पर बिठाकर लाऊँगा।'

बस, अब मैं संतुष्ट हूँ बहन, मुझे और कुछ न चाहिए। स्वामी मुझपर इतनी कृपा रखते हैं, इससे अधिक और वह क्या कर सकते हैं! प्रियतम, तुम्हारी चन्दा सदा तुम्हारी रहेगी, तुम्हारी इच्छा ही उसका कर्तव्य है। वह जबतक जिएगी, तुम्हारे पवित्र चरणों से लगी रहेगी। उसे बिसारना मत।

बहन, आँखों में आँसू भरे आते हैं, अब नहीं लिखा जाता, जवाब जल्द देना।

तुम्हारी,
चन्दा

(७)

दिल्ली
१५-१२-२५

प्यारी बहन,

तुमसे बार-बार क्षमा माँगती हूँ, पैरों पड़ती हूँ। मेरे पत्र न लिखने का कारण आलस्य न था, सैर-सपाटे की धुन न थी। रोज सोचती थी कि आज लिखूँगी, पर कोई-न-कोई ऐसा काम आ पड़ता था, कोई ऐसी बात हो जाती थी, कोई ऐसी बाधा आ खड़ी होती थी कि चित्त अशांत हो जाता था और मुँह लपेट कर पड़ रहती थी। तुम मुझे अब देखो तो शायद पहचान भी न सको। मंसूरी से दिल्ली आये एक महीना हो गया। यहाँ विनोद को तीन सौ रुपये की

एक जगह मिल गयी है। यह सारा महीना बाजार की खाक छानने में कटा। विनोद ने मुझे पूरी स्वाधीनता दे रखी है। मैं जो चाहूँ, करूँ; उनसे कोई मतलब नहीं। वह मेरे मेहमान हैं। गृहस्थी का सारा बोझ मुझपर डालकर वह निश्चिन्त हो गये हैं। ऐसा बेफिक्र मैंने आदमी ही नहीं देखा। हाजिरी की परवाह है, न डिनर की, बुलाया तो आ गये, नहीं तो बैठे हैं। नौकरों से कुछ बोलने की तो मानो इन्होंने कसम ही खा ली है। उन्हें डाटूँ तो मैं, रखूँ तो मैं, निकालूँ तो मैं, उनसे कोई मतलब ही नहीं। मैं चाहती हूँ, वह मेरे प्रबन्ध की आलोचना करें, ऐब निकालें; मैं चाहती हू, जब मैं बाजार से कोई चीज लाऊँ, तो वह बतावें कि मैं जट गयी या जीत आयी; मैं चाहती हूँ महीने के खर्च का बजट बनाते समय मेरे और उनके बीच में खूब बहस हो, पर इन अरमानों में से एक भी पूरा नहीं होता। मैं नहीं समझती, इस तरह कोई स्त्री कहाँ तक गृह-प्रबन्ध में सफल हो सकती है। विनोद के इस सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ने मेरी निज की जरूरतों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रखी। अपने शौक की चीजें खुद खरीदकर लाते बुरा मालूम होता है, कम-से-कम मुझसे नहीं हो सकता। मैं जानती हूँ, मैं अपने लिए कोई चीज लाऊ, तो वह नाराज न होंगे। नहीं, मुझे विश्वास है, खुश होंगे; लेकिन मेरा जी चाहता है, मेरे शौक सिंगार की चीजें वह खुद लाकर दें। उनसे लेने में जो आनन्द है, वह खुद जाकर लाने में नहीं। पिताजी अब भी मुझे १००) महीना देते हैं, और उन रुपयों को मैं अपनी जरूरतों पर खर्च कर सकती हूँ। पर न जाने क्यों मुझे भय होता है कि कहीं विनोद समझें, मैं उनके रुपये खर्च किये डालती हूँ। जो आदमी किसी बात पर नाराज नहीं हो सकता, वह किसी बात पर खुश भी नहीं हो सकता। मेरी समझ ही में नहीं आता, वह किस बात से खुश और किस बात से नाराज होते हैं। बस, मेरी दशा उस आदमी की-सी है, जो बिना रास्ता जाने इधर-उधर भटकता फिरे। तुम्हें याद होगा, हम दोनों कोई गणित का प्रश्न लगाने के बाद कितनी उत्सुकता से उसका जवाब देखती थीं। जब हमारा जवाब किताब के जवाब से मिल जाता था, तो हमें कितना हार्दिक आनन्द मिलता था। मेहनत सफल हुई, इसका विश्वास हो जाता था। जिन गणित की पुस्तकों में प्रश्नों के उत्तर न लिखे होते थे, उनके प्रश्न हल करने की हमारी

इच्छा ही न होती थी। सोचते थे, मेहनत अकारथ जायगी। मैं रोज प्रश्न हल करती हूँ, पर नहीं जानती कि जवाब ठीक निकला, या गलत। सोचो, मेरे चित्त की क्या दशा होगी।

एक हफ्ता होता है, लखनऊ की मिस रिग से भेंट हो गयी। यह लेडी-डाक्टर हैं और मेरे घर बहुत आती-जाती है। किसी का सिर भी धमका और मिस रिग बुलायीं गयीं। पापा जब मेडिकल कालेज में प्रोफेसर थे, तो उन्होंने इन मिस रिग को पढ़ाया था। उसका एहसान वह अबतक मानती हैं। यहाँ उन्हें देखकर भोजन का निमंत्रण न देना अशिष्टता की हद होती। मिस रिग ने दावत मंजूर कर ली। उस दिन मुझे जितनी कठिनाई हुई है, वह बयान नहीं कर सकती। मैंने कभी अँगरेजों के साथ टेबुल पर नहीं खाया। उनमें भोजन के क्या शिष्टाचार है, इसका मुझे बिलकुल ज्ञान नहीं। मैंने समझा था, विनोद मुझे सारी बातें बता देंगे। वह बरसों अँगरेजों के साथ इंग्लैंड रह चुके हैं। मैंने उन्हें मिस रिग के आने की सूचना भी दे दी। पर उस भले आदमी ने मानों सुना ही नहीं। मैंने भी निश्चय किया, मैं तुमसे कुछ न पूछूँगी, यही न होगा कि मिस रिग हँसेगी। बला से। अपने ऊपर बार-बार झुँझलाती थी कि कहाँ से मिस रिग को बुला बैठी। पड़ोस के बँगलों में कई हमीं-जैसे परिवार रहते हैं। उनसे सलाह ले सकती थी। पर यही संकोच होत था कि ये सभी लोग मुझे गँवारिन समझेंगे। अपनी इस विवशता पर थोड़ी देर तक आँसू भी बहाती रही। आखिर निराश होकर अपनी बुद्धि से काम लिया। दूसरे दिन मिस रिस आयीं हम दोनों भी मेज पर बैठे। दावत शुरू हुई। मैं देखती थी कि विनोद बार-बार झेंपते थे और मिस रिग बार-बार नाक सिकोड़ती थीं, जिससे प्रकट हो रहा था कि शिष्टाचार की मर्यादा भंग हो रही है। मैं शर्म के मारे मरी जाती थी। बारे किसी भाँति विपत्ति सिर से टली। तब मैंने कान पकड़े कि अब किसी अँगरेज की दावत न करूँगी। उस दिन से देख रही हूँ, विनोद मुझसे कुछ खिंचे हुए हैं। मैं भी नहीं बोल रही हूँ। वह शायद समझते हैं कि मैंने उनकी भद्द करा दी। मैं समझ रही हूँ कि उन्होंने मुझे लज्जित किया। सच कहती हूँ चन्दा, गृहस्थी के इन झंझटों में मुझे अब किसी से हँसने-बोलने का अवसर नहीं मिलता। इधर महीनों से कोई नयी पुस्तक नही पढ़ सकी। विनोद की विनोद-शीलता

भी न जाने कहाँ चली गयी। अब वह सिनेमा या थिएटर का नाम भी नहीं लेते। हाँ मैं चलूँ तो वह तैयार हो जायँगे। मैं चाहती हूँ, प्रस्ताव उनकी ओर से हो, मैं केवल उसका अनुमोदन करूँ। शायद अब वह पहिले की आदतें छोड़ रहे हैं। मैं तपस्या का संकल्प उनके मुख पर अंकित पाती हूँ। जान पड़ता है, अपने में गृह-संचालन की शक्ति न पाकर उन्होंने सारा भार मुझपर डाल दिया है। मंसूरी में वह घर के संचालक थे। दो-ढाई महीने में १५ सौ खर्च किये। कहाँ से लाये, यह मैं अब तकनहीं जानती। पास तो शायद ही कुछ रहा हो। संभव है, किसी मित्र से ले लिया हो। ३००) महीने की आमदनी में थिएटर और सिनेमा का जिक्र ही क्या। ५०) तो मकान ही के निकल जाते हैं। मैं इस जंजाल से तंग आगयी हूँ। जी चाहता है, विनोद से कह दूँ कि मेरे चलाये यह ठेला न चलेगा। आप दो-ढाई घंटा युनिवर्सिटी में काम करके दिन-भर चैन करें, खूब टेनिस खेलें, खूब उपन्यास पढ़ें, खूब सोयें, और मैं सुबह से आधी रात तक घर के झंझटों में मरा करूँ। कई बार छेड़ने का इरादा किया, दिल में ठान-कर उनके पास गयी भी, लेकिन उनका सामीप्य मेरे सारे संयम, सारी ग्लानि सारी विरक्ति को हर लेता है। उनका विकसित मुखमण्डल, उनके अनुरक्त नेत्र, उनके कोमल शब्द मुझपर मोहिनी मन्त्र-सा डाल देते हैं। उनके एक आलिंगन में मेरी सारी वेदना विलीन हो जाती है। बहुत अच्छा होता, अगर यह इतने रूपवान, इतने मधुरभाषी, इतने सौम्य न होते। तब कदाचित् मैं इनसे झगड़ बैठती, अपनी कठिनाइयाँ कह सकती। इस दशा में तो इन्होंने मुझे जैसे भेड़ बना लिया है। मगर इस माया को तोड़ने का मौका तलाश कर रही हूँ। एक तरह से मैं अपना आत्म-सम्मान खो बैठी हूँ। मैं क्यों हरएक बात में किसी की अप्रसन्नता से डरती रहती हूँ? मुझसे क्यों नहीं वह भाव आता कि जो-कुछ मैं कर रही हूँ, वह ठीक है। मैं इतनी मुखापेक्षा क्यों करती हूँ? इस मनो-वृत्ति पर मुझे विजय पाना है, चाहे जो कुछ हो। अब इस वक्त बिदा होती हूँ। अपने यहाँ के समाचार लिखना, जी लगा है।

तुम्हारी

पद्मा

(८)

काशी
२५-१२-२५

प्यारी पद्मा,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे कुछ दुःख हुआ, हँसी आयी, कुछ क्रोध आया। तुम क्या चाहती हो, यह तुम्हें खुद नहीं मालूम। तुमने आदर्श पति पाया है, व्यर्थ की शंकाओं से मन को अशांत न करो। तुम स्वाधीनता चाहती थीं, वह तुम्हें मिल गयी। दो आदमियों के लिए ३००) कम नहीं होते। उस-पर अभी तुम्हारे पापा भी १००) दिये जाते हैं। अब और क्या चाहिए। मुझे भय होता है कि तुम्हारा चित्त कुछ अव्यवस्थित हो गया है। मेरे पास तुम्हारे लिए सहानुभूति का एक शब्द भी नहीं।

मैं १५ तारीख को काशी आ गयी। स्वामी स्वयं मुझे बिदा कराने गये थे। घर से चलते समय बहुत रोयी। पहले मैं समझती थी कि लड़कियाँ झूठ-मूठ रोया करती हैं। फिर मेरे लिए तो माता-पिता का वियोग कोई नयी बात न थी। गर्मी, दशहरा और बड़े दिन की छुट्टियों के बाद ६ सालों से इस वियोग का अनुभव कर रही हूँ। कभी आँखों में आँसू न आते थे। सहेलियों से मिलने की खुशी होती थी। पर अबकी तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई हृदय को खींचे लेता है। अम्माँजी के गले लिपटकर तो मैं इतना रोयी कि मुझे मूर्च्छा आ गयी। पिताजी के पैरों पर लेटकर रोने की अभिलाषा मन में ही रह गयी। हाय, वह रुदन का आनन्द! उस समय पिता के चरणों पर गिर कर रोने के लिए मैं अपने प्राण तक दे देती। यही रोना आता था कि मैंने इनके लिए कुछ न किया। मेरे पालन-पोषण करने में इन्होंने क्या कुछ भी कष्ट न उठाया? मैं जन्म की रोगिणी हूँ। रोज ही बीमार रहती थी। अम्माँजी रात-रात-भर मुझे गोद में लिये बैठी रह जाती थीं। पिताजी के कन्धों पर चढ़कर उचकने की याद मुझे अभी तक आती है। उन्होने कभी मुझे कड़ी निगाह से नहीं देखा। मेरे सिर में दर्द हुआ और उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। १० वर्ष की उम्र तक तो यों गये। ६ साल देहरादून में गुजरे। अब, जब इस योग्य हुई कि उनकी कुछ सेवा करूँ, तो यों पर झाड़कर अलग हो गयी। कुल ८ महीने तक

उनके चरणों की सेवा कर सकी और यही ८ महीने मेरे जीवन की निधि है। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मेरा जन्म फिर इसी गोद में हो और फिर इसी अतुल पितृस्नेह का आनन्द भोगूँ।

सन्ध्या समय गाड़ी स्टेशन से चली। मैं जनाने कमरे में थी। और लोग दूसरे कमरे में थे। उस वक्त सहसा मुझे स्वामीजी को देखने की प्रबल इच्छा हुई। सान्त्वना, सहानुभूति और आश्रय के लिए हृदय व्याकुल हो रहा था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई कैदी कालापानी जा रहा हो।

घण्टे भर के बाद गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। मैं पीछे की ओर खिड़की से सिर निकालकर देखने लगी। उसी वक्त द्वार खुला और किसी ने कमरे में कदम रखा। उस कमरे में एक भी औरत न थी। मैंने चौंककर पीछे देखा तो एक पुरुष। मैंने तुरन्त मुँह छिपा लिया और बोली, आप कौन हैं। यह जनाना कमरा है। मरदाने कमरे में जाइए।

पुरुष ने खड़-खड़े कहा—मैं तो इसी कमरे में बैठूँगा। मरदाने कमरे में भीड़ बहुत है।

मैंने रोष से का—नहीं, आप इसमें नहीं बैठ सकते।

'मैं तो बैठूँगा।'

'आपको निकालना पड़ेगा। आप अभी चले जाइए, नहीं तो मैं अभी जंजीर खींच लूँगी।'

'अरे साहब, मैं भी आदमी हूँ, कोई जानवर नहीं हूँ। इतनी जगह पड़ी हुई है। आपका इसमें क्या हरज है।'

गाड़ी ने सीटी दी। मैं और भी घबराकर बोली—'आप निकलते हैं, या मैं जंजीर खीचूँ ?'

पुरुष ने मुसकिराकर कहा—आप तो बड़ी गुस्सावर मालूम होती हैं। एक गरीब आदमी पर आपको जरा भी दया नहीं आती ?

गाड़ी चल पड़ी। मारे क्रोध और लज्जा के मुझे पसीना आ गया। मैंने फौरन द्वार खोल दिया और बोली—अच्छी बात है, आप बैठिए, मैं ही जाती हूँ !

बहन, मैं सच कहती हूँ, मुझे उस वक्त लेश-मात्र भी भय न था। जानती

थी, गिरते ही मर जाऊँगी, पर एक अजनबी के साथ अकेले बैठने से मर जाना अच्छा था। मैंने एक पैर लटकाया ही था कि उस पुरुष ने मेरी बाँह पकड़ ली और अन्दर खींचता हुआ बोला—अब तक तो आपने मुझे काले-पानी भेजने का सामान कर दिया था। यहाँ और कोई तो है नहीं, फिर आप इतना क्यों घबराती हैं। बैठिए, जरा हँसिए-बोलिए। अगले स्टेशन पर मैं उतर जाऊँगा, इतनी देर तक तो कृपा-कटाक्ष से वंचित न कीजिए। आपको देखकर दिल काबू से बाहर हुआ जाता है। क्यों एक गरीब का खून सिर पर लीजिएगा।............

मैंने झटककर अपना हाथ छुड़ा लिया। सारी देह काँपने लगी। आँखों में आँसू भर आये। उस वक्त अगर मेरे पास कोई छुरी या कटार होती, तो मैंने जरूर उसे निकाल लिया होता, और मरने-मारने को तैयार हो गयी होती। मगर इस दशा में क्रोध से ओंठ चबाने के सिवा और क्या करती। आखिर झल्लाना व्यर्थ समझकर मैंने सावधान होने की चेष्टा करके कहा—आप कौन हैं? उसने उसी ढिठाई से कहा—तुम्हारे प्रेम का इच्छुक।

'आप तो मजाक करते हैं। सच बतलाइए।'

'सच बता रहा हूँ। तुम्हारा आशिक हूँ।'

'अगर आप मेरे आशिक हैं, तो कम-से-कम इतनी बात मानिए कि अगले स्टेशन पर उतर जाइए। मुझे बदनाम करके आप कुछ न पायेंगे। मुझपर इतनी दया कीजिए।'

मैंने हाथ जोड़कर यह बात कही। मेरा गला भी भर आया था। उस आदमी ने द्वार की ओर जाकर कहा—अगर आपका यही हुक्म है, तो लीजिए, जाता हूँ। याद रखिएगा।

उसने द्वार खोल लिया और एक पाँव आगे बढ़ाया। मुझे मालूम हुआ, वह नीचे कूदने जा रहा है। बहन, नहीं कह सकती कि उस वक्त मेरे दिल की क्या दशा हुई। मैंने बिजली की तरह लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और अपनी तरफ जोर से खींच लिया।

उसने ग्लानि से भरे हुए स्वर में कहा—'क्यों खींच लिया मैं तो चला जा रहा था।'

'अगला स्टेशन आने दीजिए।'

'जब आप भगा ही रही हैं, तो जितनी जल्द भाग जाऊँ उतना ही अच्छा।'

'मैं यह कब कहती हूँ कि आप चलती गाड़ी से कूद पड़िए।'

'अगर मुझपर इतनी दया है, तो एक बार जरा दर्शन ही दे दो।'

'अगर आपकी स्त्री से कोई दूसरा पुरुष ऐसी बातें करता, तो आपको कैसी लगती?'

पुरुष ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—'मैं उसका खून पी जाता।'

मैंने निस्संकोच होकर कहा—तो फिर आपके साथ मेरे पति क्या व्यवहार करेंगे, यह भी आप समझते होंगे?

'तुम अपनी रक्षा आप ही कर सकती हो। प्रिये, तुम्हें पति की मदद की जरूरत ही नहीं। अब आओ, मेरे गले से लग जाओ। मैं ही तुम्हारा भाग्यशाली स्वामी और सेवक हूँ।

मेरा हृदय उछल पड़ा। एक बार मुँह से निकला—'अरे! आप!!' और मैं दूर हटकर खड़ी हो गयी। एक हाथ लंबा घूँघट खींच लिया। मुँह से एक शब्द न निकला।

स्वामी ने कहा—अब यह शर्म और परदा कैसा?

मैंने कहा—आप बड़े छलिये हैं। इतनी देर तक मुझे रुलाने में क्या मजा आया?

स्वामी—इतनी देर में मैंने तुम्हें जितना पहचान लिया, उतना घर के अन्दर शायद बरसों में भी न पहचान सकता। यह अपराध क्षमा करो। क्या तुम सचमुच गाड़ी से कूद पड़तीं?

'अवश्य!'

'बड़ी खैरियत हुई, मगर यह दिल्लगी बहुत दिनों तक याद रहेगी। मेरे स्वामी औसत कद के, साँवले, चेचकरू, दुबले आदमी हैं। उनसे कहीं रूपवान् पुरुष मैंने देखे हैं: पर मेरा हृदय कितना उल्लसित हो रहा था! कितनी आनन्दमय सन्तुष्टि का अनुभव कर रही, मैं बयान नहीं कर सकती।'

मैंने पूछा—गाड़ी कब तक पहुँचेगी!

'शाम को पहुँच जायँगे।'

मैंने, देखा स्वामी का चेहरा कुछ उदास होगया है। वह दस मिनट तक चुपचाप बैठे बाहर की तरफ ताकते रहे। मैंने उन्हें केवल बातों में लगाने ही के लिए यह अनावश्यक प्रश्न पूछा था। पर अब भी जब वह न बोले, तो मैंने फिर न छेड़ा। पानदान खोलकर पान बनाने लगी। सहसा उन्होंने कहा—चन्दा, एक बात कहूँ?

मैंने कहा—हाँ हाँ, शौक से कहिए।

उन्होंने सिर झुकाकर शर्माते हुए कहा—मैं जानता कि तुम इतनी रूपवती हो, तो मैं तुमसे विवाह न करता। अब तुम्हें देखकर मुझे मालूम हो रहा है कि मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। मैं किसी तरह तुम्हारे योग्य न था।

मैंने पान का बीड़ा उन्हें देते हुए कहा—ऐसी बातें न कीजिए। आप जैसे हैं, मेरे सर्वस्व हैं। आपकी दासी बनकर अपने भाग्य को धन्य मानती हूँ।

दूसरा स्टेशन आ गया। गाड़ी रुकी। स्वामी चले गये। जब-जब गाड़ी रुकती थी, वह आकर दो-चार बातें कर जाते थे। शाम को हम लोग बनारस पहुँच गये। मकान एक गली मे है और मेरे घर से बहुत छोटा है। इन कई दिनों में यह भी मालूम हो रहा है कि सासजी स्वभाव की रूखी हैं। लेकिन अभी किसी के बारे में कुछ नहीं कह सकती। सम्भव है, मुझे भ्रम हो रहा हो। फिर लिखूँगी। मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि घर कैसा है, आर्थिक दशा कैसी है, सास-ससुर कैसे हैं। मेरी इच्छा है कि यहाँ सभी मुझसे खुश रहें। पतिदेव को मुझसे प्रेम है, यह मेरे लिए काफी है। मुझे और किसी बात की परवा नहीं। तुम्हारे बहनोईजी का मेरे पास बार-बार आना सासजी को अच्छा नहीं लगता। वह समझती हैं, कहीं यह सिर न चढ़ जाय। क्यों मुझपर उनकी यह अकृपा है, कह नहीं सकती; पर इतना जानती हूँ कि वह अगर इस बात से नाराज होती हैं, तो हमारे ही भले के लिए। वह ऐसी कोई बात क्यों करेंगी, जिसमें हमारा हित न हो। अपनी सन्तान का अहित कोई माता नहीं कर सकती। मुझ ही में कोई बुराई उन्हें नजर आयी होगी। दो-चार दिन में आप ही मालूम हो जायगा। अपने यहाँ के समाचार लिखना। जवाब की आशा एक महीने के पहले तो है नहीं, यों तुम्हारी खुशी।

तुम्हारी,
चन्दा

(६)

देहली
१-२-२६

प्यारी बहन,

तुम्हारे प्रथम मिलन की कुतूहलमय कथा पढ़कर चित्त प्रसन्न हो गया। मुझे तुम्हारे ऊपर हसद हो रहा है। मैंने समझा था, तुम्हें मुझपर हसद होगा, पर क्रिया उल्टी हो गयी। तुम्हें चारों ओर हरियाली ही नजर आती है, मैं जिधर नजर डालती हूँ, सूखे रेत और नग्न टीलों के सिवा और कुछ नहीं। खैर! अब कुछ मेरी भी वृत्तान्त सुनो—

"अब जिगर थामकर बैठो, मेरी बारी आयी।"

विनोद की अविचलित दार्शनिकता अब असह्य हो गयी। कुछ विचित्र जीव हैं, घर में आग लगे, पत्थर पड़े इनकी बला से। इन्हें मुझपर जरा भी दया नहीं आती। मैं सुबह से शाम तक घर के झंझटों में कुढ़ा करूँ, इन्हें कुछ परवाह नहीं। ऐसा सहानुभूति से खाली आदमी कभी नहीं देखा था। इन्हें तो किसी जंगल में तपस्या करनी चाहिए थी। अभी तो खैर दो ही प्राणी हैं, लेकिन कहीं बाल-बच्चे हो गये तब तो मैं बे-मौत मर जाऊँगी। ईश्वर न करे, वह दारुण विपित्ति मेरे सिर पड़े।

चन्दा, मुझे अब दिल से लगी हुई है कि किसी भाँति इनकी यह समाधि भंग कर दूँ। मगर कोई उपाय सफल नहीं होता, कोई चाल ठीक नहीं पड़ती। एक दिन मैंने उनके कमरे के लंप का बल्ब तोड़ दिया। कमरा अँधेरा पड़ा रहा। आप सैर करके आये, तो कमरा अँधेरा देखा। मुझसे पूछा, मैंने कह दिया, बल्ब टूट गया। बस, आपने भोजन किया और मेरे कमरे में आकर लेट रहे। पत्रों और उपन्यासों की ओर देखा तक नहीं, न-जाने वह उत्सुकता कहाँ विलीन हो गयी। दिन-भर गुजर गया, आपको बल्ब लगवाने की कोई फिक्र नहीं। आखिर मुझी को बाजार से लाना पड़ा।

एक दिन मैंने झुँझलाकर रसोइये को निकाल दिया। सोचा जब लाला रात भर भूखे सोयेंगे तब आँखें खुलेंगी। मगर इस भले आदमी ने कुछ पूछा तक नहीं। चाय न मिली, कुछ परवा नहीं। ठीक दस बजे आपने कपड़े पहने,

एक बार रसोई की ओर जाकर देखा, सन्नाटा था। बस, कालेज चल दिये। एक आदमी पूछता है, महाराज कहाँ गया, क्यों गया; अब क्या इन्तजाम होगा, कौन खाना पकायेगा, कम-से-कम इतना तो मुझसे कह सकते थे कि तुम अगर नहीं पका सकतीं, तो बाजार ही से कुछ खाना मँगवा लो। जब वह चले गये, तो मुझे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। रायल होटल से खाना मँगवाया और बैरे के हाथ कालेज भेज दिया। पर खुद भूखी ही रही। दिन-भर भूख के मारे बुरा हाल था। सिर में दर्द होने लगा। आप कालेज से आये और मुझे पड़े देखा तो ऐसे परेशान हुए मानो मुझे त्रिदोष है। उसी वक्त एक डाक्टर बुला भेजा। डाक्टर आये, आँखें देखी, जबान देखी, हरारत देखी, लगाने की दवा अलग दी, पीने की अलग। आदमी दवा लेने गया। लौटा तो १२) रुपये का बिल भी था। मुझे इन सारी बातों पर ऐसा क्रोध आ रहा था कि कहाँ भागकर चली जाऊँ। उसपर आप आराम-कुरसी डालकर मेरी चारपाई के पास बैठ गये और एक-एक पल पर पूछने लगे, कैसा जी है? दर्द कुछ कम हुआ? यहाँ मारे भूख के आँतें कुलकुला रही थीं। दवा हाथ से छुई तक नहीं। आखिर झख मारकर मैंने फिर बैरे से खाना मँगवाया। फिर चाल उलटी पड़ी। मैं डरी कि कहीं सबेरे फिर यह महाशय डाक्टर को न बुला बैठें, इसलिए सबेरा होते ही हारकर फिर घर के काम धन्धे में लगी। उसी वक्त एक दूसरा महाराज बुलवाया। अपने पुराने महाराज को बेकसूर निकालकर दण्डस्वरूप एक काठ के उल्लू को रखना पड़ा, जो मामूली चपातियाँ भी नहीं पका सकता। उस दिन से एक नयी बला गले पड़ी। दोनों वक्त दो घन्टे इस महाराज को सिखाने में लग जाते हैं। इसे अपनी पाक-कला का ऐसा घमण्ड है कि मैं चाहे जितना बकूँ, पर करता अपने ही मन की है। उसपर बीच-बीच में मुसकिराने लगता है, मानो कहता हो कि 'तुम इन बातों का क्या जानो, चुपचाप बैठी देखती जाव।' जलाने चली थी विनोद को, और खुद जल गयी। रुपये खर्च हुए वह तो हुए ही, एक और जंजाल में फँस गयी। मैं खूब जानती हूँ कि विनोद का डाक्टर को बुलाना या मेरे पास बैठे रहना केवल दिखावा था। उनके चेहरे पर जरा भी घबराहट न थी, चित्त जरा भी अशांत न था।

चन्दा, मुझे क्षमा करना। मैं नहीं जानती कि ऐसे पुरुष के पाले पड़कर

तुम्हारी क्या दशा होती, पर मेरे लिए इस दशा में रहना असह्य है। मैं आगे जो वृत्तान्त कहनेवाली हूँ, उसे सुनकर तुम नाक-भौं सिकोड़ोगी, मुझे कोसोगी, कलंकिनी कहोगी; पर जो चाहे कहो, मुझे परवा नहीं। आज चार दिन होते है, मैंने त्रिया-चरित्र का एक नया अभिनय किया। हम दोनों सिनेमा देखने गये थे। वहाँ मेरी बगल में एक बंगाली बाबू बैठे हुए थे। विनोद सिनेमा में इस तरह बैठते हैं, मानो ध्यानावस्था में हों। न बोलना, न चालना! फिल्म इतना सुन्दर था, ऐक्टिंग इतना सजीव कि मेरे मुँह से बार-बार प्रशंसा के शब्द निकल जाते थे। बंगाली बाबू को भी बड़ा आनन्द आ रहा था! हम दोनों उस फिल्म पर आलोचनाएँ करने लगे। वह फिल्म के भावों की इतनी रोचक व्याख्या करता था कि मन मुग्ध हो जाता था। फिल्म से ज्यादा मजा मुझे उसकी बातों में आ रहा था। बहन, सच कहती हूँ, शक्ल-सूरत में वह विनोद के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकता, पर केवल विनोद को जलाने के लिए मैं उससे मुसकिरा-मुसकिराकर बातें करने लगी। उसने समझा, कोई शिकार फँस गया। अवकाश के समय वह बाहर जाने लगा, तो मैं उठ खड़ी हुई; पर विनोद अपनी जगह पर ही बैठे रहे।

मैंने कहा—बाहर चलते हो, मेरी तो बैठे-बैठे कमर दुख गयी।

विनोद बोले—हाँ-हाँ, चलो इधर-उधर टहल आयें। मैंने लापरवाही से कहा—तुम्हारा जी न चाहे तो मत चलो, मैं मजबूर नहीं करती।

विनोद फिर अपनी जगह पर बैठते हुए बोले—अच्छी बात है।

मैं बाहर आयी तो बंगाली बाबू ने पूछा—क्या आप यहीं की रहनेवाली हैं।

'मेरे पति यहाँ यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।'

'अच्छा! वह आपके पति थे। अजीब आदमी हैं।'

'आपको तो मैंने शायद यहाँ पहले ही देखा है।'

'हाँ, मेरा मकान तो बंगाल में है। कंचनपुर के महाराज साहब का प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ। महाराजा साहब वाइसराय से मिलने आये हैं।'

'तो अभी दो-चार दिन रहिएगा?'

'जी हाँ आशा तो करता हूँ! रहूँ तो साल-भर रह जाऊँ। जाऊँ तो दूसरी

गाड़ी से चला जाऊँ। हमारे महाराजा साहब का कुछ ठीक नहीं। यों बड़े सज्जन और मिलनसार हैं। आपसे मिलकर बहुत खुश होंगे।

यह बातें करते-करते हम रेस्ट्राँ में पहुँच गये। बाबू ने चाय और टोस्ट लिया। मैंने सिर्फ चाय ली।

तो इसी वक्त आपका महाराजा साहब से परिचय करा दूँ। आपको आश्चर्य होगा कि मुकुटधारियों में भी इतनी नम्रता और विनय हो सकती है। उनकी बातें सुनकर आप मुग्ध हो जायँगी।

मैंने आईने में अपनी सूरत देखकर कहा—जी नहीं, फिर किसी दिन पर रखिए। आपसे तो अक्सर मुलाकात होती रहेगी। क्या आपकी स्त्री आपके साथ नहीं आयीं ?

युवक ने मुसकिराकर कहा—मैं अभी क्वाँरा हूँ और शायद क्वाँरा ही रहूँ!

मैंने उत्सुक होकर पूछा—अच्छा! तो आप भी स्त्रियों से भागनेवाले जीवों में हैं। इतनी बातें तो हो गयीं और आपका नाम तक न पूछा।

बाबू ने अपना नाम भुवनमोहन दास गुप्त बताया। मैंने अपना परिचय दिया।

'जी नहीं; मैं उन अभागों में हूँ, जो एक बार निराश होकर फिर उसकी परीक्षा नहीं करते। रूप की तो संसार में कमी नहीं, मगर रूप और गुण का मेल बहुत कम देखने में आता है। जिस रमणी से मेरा प्रेम था, वह आज एक बड़े वकील की पत्नी है। मैं गरीब था। इसकी सजा मुझे ऐसी मिली कि जीवन-पर्यन्त न भूलेगी। साल-भर तक जिसकी उपासना की, जब उसने मुझे धन पर बलिदान कर दिया, तो अब और क्या आशा रखूँ ?

मैंने हँसकर कहा—आपने बहुत जल्दी हिम्मत हार दी।'

भुवन ने सामने द्वार की ओर ताकते हुए कहा—मैंने आज तक ऐसा वीर ही नहीं देखा, जो रमणियों से परास्त न हुआ हो। ये हृदय पर चोट करती हैं और हृदय एक ही गहरी चोट सह सकता है। जिस रमणी ने मेरे प्रेम को तुच्छ समझकर पैरों से कुचल दिया, उसको मैं दिखाना चाहता हूँ कि मेरी आँखों में धन कितनी तुच्छ वस्तु है। यही मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। मेरा जीवन

उसी दिन सफल होगा, जब विमला के घर के सामने मेरा विशाल भवन होगा और उसका पति मुझसे मिलने में अपना सौभाग्य समझेगा।

मैंने गम्भीरता से कहा —यह तो कोई बहुत ऊँचा उद्देश्य नहीं है। आप यह क्यों समझते हैं कि विमला ने केवल धन के लिए आपका परित्याग किया सम्भव है, इसके और भी कारण हों। माता-पिता ने उसी पर दबाव डाल हो, या आपने ही में उसे कोई ऐसी त्रुटि दिखायी दी हो, जिससे आपका जीवन दुःखमय हो जाता। आप यह क्यों समझते हैं कि जिस प्रेम से वंचित होकर आप इतने दुखी हुए, उसी प्रेम से वंचित होकर वह सुखी हुई होगी। सम्भव था, कोई धनी स्त्री पाकर आप भी फिसल जाते।

भुवन ने जोर देकर कहा - यह असम्भव है, सर्वथा असम्भव है। मैं उसके लिए त्रिलोक का राज्य भी त्याग देता।

मैंने हँसकर कहा—हाँ, इस वक्त आप ऐसा कह सकते हैं; मगर ऐसी परीक्षा में पढ़कर आपकी क्या दशा होती, इसे आप निश्चयपूर्वक नहीं बता सकते। सिपाही की बहादुरी का प्रमाण उसकी तलवार है, उसकी जबान नहीं इसे अपना सौभाग्य समझिए कि आपको उस परीक्षा में नहीं पड़ना पड़ा। वह प्रेम प्रेम नहीं है, जो प्रत्याघात की शरण ले। प्रेम का आदि भी सहृदयता है और अन्त भी सहृदयता। सम्भव है, आपको अब भी कोई ऐसी बात मालूम हो जाय, जो विमला की तरफ से आपको नर्म कर दे।

भुवन गहरे विचार में डूब गये। एक मिनट के बाद उन्होंने सिर उठाया और बोले—'मिसेज विनोद, आपने आज एक ऐसी बात सुझा दी, जो आज तक मेरे ध्यान में आयी ही न थी। यह भाव कभी मेरे मन में उदय ही नहीं हुआ था। मैं इतना अनुदार क्यों होगया, समझ में नहीं आता। मुझे आज मालूम हुआ कि प्रेम के ऊँचे आदर्श का पालन रमणियाँ ही कर सकती हैं। पुरुष कभी प्रेम के लिए आत्म समर्पण नहीं कर सकता—वह प्रेम को स्वार्थ और वासना से पृथक् नहीं कर सकता। अब मेरा जीवन सुखमय हो जायगा। आपने मुझे आज जो शिक्षा दी है, उसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।'

यह कहते-कहते भुवन सहसा चौंक पड़े और बोले—ओह! मैं कितना बड़ा मूर्ख हूँ—सारा रहस्य समझ में आ गया, अब कोई बात छिपी नहीं है। ओह,

मैंने विमला के साथ घोर अन्याय किया ! महान् अन्याय ! मैं बिलकुल अंधा हो गया था। विमला, मुझे क्षमा करो।

भुवन इसी तरह देर तक विलाप करते रहे। बार-बार मुझे धन्यवाद देते थे और अपनी मूर्खता पर पछताते थे। हमें इसकी सुध ही न रही कि कब घंटी बजी, कब खेल शुरू हुआ। एकाएक विनोद कमरे में आये। मैं चौंक पड़ी। मैंने उनके मुख की ओर देखा, किसी भाव का पता न था। बोले—तुम अभी यहीं हो, पद्मा ! खेल शुरू हुए तो देर हुई ! मैं चारों तरफ तुम्हें खोज रहा था।

मैं हकबकाकर उठ खड़ी हुई और बोली—खेल शुरू हो गया ? घंटी की आवाज तो सुनायी ही नहीं दी।

भुवन भी उठे। हम फिर आकर तमाशा देखने लगे। विनोद ने मुझे अगर इस वक्त दो-चार लगनेवाली बातें कह दी होतीं, उनकी आँखों में क्रोध की झलक दिखायी देती, तो मेरा अशांत हृदय सँभल जाता, मेरे मन को ढाढ़स होता, पर उनके अविचलित विश्वास ने मुझे और भी अशांत कर दिया। बहन, मैं चाहती हूँ, वह मुझपर शासन करें। मैं उनकी कठोरता, उनकी उद्दण्डता, उनकी बलिष्ठता का रूप देखना चाहती हूँ। उनके प्रेम, प्रमोद, विश्वास का रूप देख चुकी। इससे मेरी आत्मा को तृप्ति नहीं होती। तुम उस पिता को क्या कहोगी, जो अपने पुत्र को अच्छा खिलाये अच्छा पहनाये, पर उसकी शिक्षा-दीक्षा की कुछ चिंता न करे; वह जिस राह जाय उस राह जाने दे, जो कुछ करे वह करने दे। कभी उसे कड़ी आँख से देखे भी नहीं। ऐसा लड़का अवश्य ही आवारा हो जायगा। मेरा भी वही हाल हुआ जाता है। यह उदासीनता मेरे लिए असह्य है। इस भले आदमी ने यहाँ तक न पूछा कि भुवन कौन है। भुवन ने यही तो समझा होगा कि इसका पति इसकी बिलकुल परवा नहीं करता। विनोद खुद स्वाधीन रहना चाहते हैं, मुझे भी स्वाधीन छोड़ देना चाहते हैं। वह मेरे किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। इसी तरह चाहते है कि मैं भी उनके किसी काम में हस्तक्षेप न करूँ। मैं इस स्वाधीनता को दोनों ही के लिए विष तुल्य समझती हूँ। संसार में स्वाधीनता का चाहे जो भी मूल्य हो, घर में तो पराधीनता ही फूलती-फलती है। मैं जिस तरह अपने एक जेवर को अपना समझती हूँ, उसी तरह विनोद को भी अपना समझना चाहती

हूँ। अगर मुझसे पूछे बिना विनोद उसे किसी को दे दें, तो मैं लड़ पड़ूँगी। मैं चाहती हूँ, उसी तरह उन पर मेरा अधिकार हो। अपने ऊपर भी उनका ऐसा ही अधिकार चाहती हूँ। उन्हें मेरी एक-एक बात पर ध्यान देना चाहिए। मैं किससे मिलती हूँ, कहाँ जाती हूँ, क्या पढ़ती हू, किस तरह जीवन व्यतीत करती हूँ, इन सारी बातों पर उनकी तीव्र दृष्टि रहनी चाहिए। जब वह मेरी परवा नहीं करते, तो मैं उनकी परवा क्यों करूँ? इस खींचातानी में हम एक दूसरे से अलग होते चले जा रहे हैं। और क्या कहूँ, मुझे कुछ नहीं मालूम कि वह किन मित्रों को रोज पत्र लिखते हैं। उन्होंने भी मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा। खैर, मैं क्या लिख रही थी, क्या कहने लगी। विनोद ने मुझसे कुछ नहीं पूछा। मैं फिर भुवन से फिल्म के सम्बन्ध में बातें करने लगी।

जब खेल खत्म हो गया और हम लोग बाहर आये और ताँगा ठीक करने लगे, तो भुवन ने कहा—'मैं अपनी कार में आपको पहुँचा दूँगा।'

हमने कोई आपत्ति नहीं की। हमारे मकान का पता पूछकर भुवन ने कार चला दी। रास्ते में मैंने भुवन से कहा—'कल मेरे यहाँ दोपहर का खाना खाइएगा।' भुवन ने स्वीकार कर लिया।

भुवन तो हमें पहुँचाकर चले गये, पर मेरा मन बड़ी देर तक उन्हीं की तरफ लगा रहा। इन दो-तीन घण्टों में भुवन को जितना समझी, उतना विनोद को आज तक नहीं समझी मैंने भी अपने हृदय की जितनी बातें उससे कह दीं, उतनी विनोद से आज तक नहीं कही। भुवन उन मनुष्यों में है, जो किसी पर पुरुष को मेरी ओर कुदृष्टि डालते देखकर उसे मार डालेगा। उसी तरह मुझे किसी पुरुष से हँसते देखकर मेरा खून पी लेगा और जरूरत पड़ेगी, तो मेरे लिए आग में भी कूद पड़ेगा। ऐसा ही पुरुष-चरित्र मेरे हृदय पर विजय पा सकता है। मेरे ही हृदय पर नहीं, नारी-जाति (मेरे विचार में) ऐसे ही पुरुष पर जान देती है। वह निर्बल है, इसलिए बलवान् का आश्रय ढूँढ़ती है।

बहन, तुम ऊब गयी होगी, खत लंबा होगया, मगर इस काण्ड को समाप्त किए बिना नहीं रहा जाता। मैंने सबेरे ही से भुवन की दावत की तैयारी शुरू कर दी। रसोइया तो काठ का उल्लू है, मैंने सारा काम अपने हाथ से किया। भोजन बनाने में ऐसा आनन्द मुझे और कभी न मिला था।

भुवन बाबू की कार ठीक समय पर आ पहुँची। भुवन उतरे और सीधे मेरे कमरे में आये। दो-चार बातें हुईं। डिर-टेबुल पर जा बैठे। विनोद भी भोजन करने आये। मैंने उन दोनों आदमियों का परिचय करा दिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि विनोद ने भुवन की ओर से कुछ उदासीनता दिखायी। इन्हें राजाओं-रईसों से चिढ़ है, साम्यवादी हैं। जब राजाओं से चिढ़ है तो उनके पिट्ठुओं से क्यों न होती। वह समझते हैं, इन रईसों के दरबार में खुशामदी, निकम्मे, सिद्धान्तहीन एवं चरित्रहीन लोगों का जमघट रहता है, जिनका इसके सिवाय और कोई काम नहीं कि अपने रईस की हरएक उचित-अनुचित इच्छा पूरी करें और प्रजा का गला काटकर अपना घर भरें। भोजन के समय बातचीत की धारा घूमते-घामते विवाह और प्रेम-जैसे महत्व के विषय पर आ पहुँची।

विनोद ने कहा—'नहीं, मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसंद नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंभिक दशा में था। तबसे दुनिया बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह-प्रथा में जौ भर भी अन्तर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं।

भुवन ने कहा—'आखिर आपको इसमें क्या दोष दिखाई देत हैं?''

विनोद ने विचारकर कहा—'इसमें सबसे बड़ा ऐब यह ह कि वह एक सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देता है।'

'और दूसरा?''

'दूसरा यह कि यह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है। यह स्त्री-व्रत और पातिव्रत का स्वाँग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है। हमारी बुद्धि के विकास में जितनी रुकावट इस प्रथा ने डाली है, उतनी और किसी भौतिक या दैविक क्रांति से भी नहीं हुई। इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आज तक हम उन्हीं पुरानी, सड़ी हुई, लज्जा-जनक, पाशविक लकीरों को पीटते जाते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बन्धन का नाम है। इतना महत्वपूर्ण नाम देकर हमने उस कैद को धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यों चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे? केवल इसलिए कि वह उसका भरण-पोषण करता है? क्या स्त्री का कर्तव्य केवल पुरुष

की सम्पत्ति के लिए वारिस पैदा करना है ? उस सम्पत्ति के लिए जिसपर, हिन्दू-नीतिशास्त्र के अनुसार, पति के देहान्त के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता। समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने सम्पत्ति का प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दिया है। हमारे ही वीर्य से उत्पन्न सन्तान हमारी कमाई हुई जायदाद का भोग करे, इस मनोभाव में कितनी स्वार्थान्धता, कितना दासत्व छिपा हुआ है, इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस कैद में जकड़ी हुई समाज की संतान यदि आज घर में, देश में, संसार में, अपने क्रूर स्वार्थ के लिए रक्त की नदियाँ बहा रही है, तो क्या आश्चर्य है। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।

भुवन चकित हो गया। मैं खुद चकित हो गयी। विनोद ने इस विषय पर मुझसे कभी इतनी स्पष्टता से बातचीत न की थी। मैं यह तो जानती थी, वह साम्यवादी हैं, दो-एक बार इस विषय पर उनसे बहस भी कर चुकी हूँ, पर वैवाहिक प्रथा के वे इतने विरोधी हैं, यह मुझे न मालूम था। भुवन के चेहरे से ऐसा प्रकट होता था कि उन्होंने ऐसे दार्शनिक विचारों की गंध तक नहीं पायी। जरा देर के बाद बोले—प्रोफेसर साहब, आपने तो मुझे एक बड़े चक्कर में डाल दिया। आखिर आप इस प्रथा की जगह कोई और प्रथा रखना चाहते हैं या विवाह की आवश्यकता ही नहीं समझते ? जिस तरह पशु-पक्षी आपस में मिलते हैं, वह हमें भी करना चाहिए ?

विनोद ने तुरन्त उत्तर दिया—बहुत कुछ। पशु-पक्षियों में सभी का मानसिक विकास एक-सा नहीं है। कुछ ऐसे हैं, जो जोड़े के चुनाव में कोई विचार नहीं रखते। कुछ ऐसे हैं, जो एक बार बच्चे पैदा करने के बाद अलग हो जाते हैं, और कुछ ऐसे हैं, जो जीवनपर्यन्त एक साथ रहते हैं। कितनी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ है। मैं मनुष्य होने के नाते उसी श्रेणी को श्रेष्ठ समझता हूँ, जो जीवनपर्यन्त एक साथ रहते हैं। मगर स्वेच्छा से। उनके यहाँ कोई कैद नहीं, कोई सजा नहीं। दोनों अपने-अपने चारे-दाने की फिक्र करते हैं। दोनों मिलकर रहने का स्थान बनाते हैं, दोनों साथ बच्चों का पालन करते हैं। उनके बीच में कोई तीसरा नर या मादा आ ही नहीं सकता, यहाँ तक कि उनमें से जब एक मर जाता है तो दूसरा मरने दम तक फुट्टैल रहता। यह अन्धेर

मनुष्य-जाति ही में है कि स्त्री ने किसी दूसरे पुरुष से हँसकर बात की और उसके पुरुष की छाती पर साँप लोटने लगा, खून-खराबे के मंसूबे सोचे जाने लगे। पुरुष ने किसी दूसरी स्त्री की ओर रसिक नेत्रों से देखा और अर्धाङ्गिनी ने त्योरियाँ बदलीं, पति के प्राण लेने को तैयार हो गयी। यह सब क्या है? ऐसा मनुष्य-समाज सभ्यता का किस मुँह से दावा कर सकता है?

भुवन ने सिर सहलाते हुए कहा—मगर मनुष्यों में भी तो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। कुछ लोग हर महीने एक नया जोड़ा खोज निकालेंगे।

विनोद ने हँसकर कहा—लेकिन यह इतना आसान काम न होगा। या तो वह ऐसी स्त्री चाहेगा, जो सन्तान का पालन स्वयं कर सकती हो, या उसे एक मुश्त सारी रकम अदा करनी पड़ेगी!

भुवन भी हँसे—आप अपने को किस श्रेणी में रक्खेंगे?

विनोद इस प्रश्न के लिए तैयार न थे। था भी बेढंगा-सा सवाल। झेंपते हुए बोले—परिस्थितियाँ जिस श्रेणी में ले जायँ। मैं स्त्री और पुरुष दोनों के लिए पूर्ण स्वाधीनता का हामी हूँ। कोई कारण नहीं है कि मेरा मन किसी नवयौवना की ओर आकर्षित हो और वह भी मुझे चाहे, तो भी मैं समाज और नीति के भय से उसकी ओर ताक न सकूँ। मैं इसे पाप नहीं समझता।

भुवन अभी कुछ उत्तर न देने पाये थे कि विनोद उठ खड़े हुए। कालेज के लिए देर हो रही थी। तुरन्त कपड़े पहने और चल दिये। हम दोनों दीवानखाने में आकर बैठे और बातें करने लगे।

भुवन ने सिगार जलाते हुए कहा—'कुछ सुना, कहाँ जाकर तान टूटी?'

मैंने मारे शर्म के सिर झुका लिया। क्या जवाब देती। विनोद की अंतिम बात ने मेरे हृदय पर कठोर आघात किया था। मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि विनोद ने केवल मुझे सुनाने के लिए विवाह का यह नया खण्डन तैयार किया है। वह मुझसे पिंड छुड़ा लेना चाहते हैं। वह किसी रमणी की ताक में हैं, मुझसे उनका जी भर गया। यह ख्याल करके मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। कदाचित् एकांत में मैं न रोती, पर भुवन के सामने मैं संयत न रह सकी। भुवन ने मुझे बहुत सांत्वना दी—'आप व्यर्थ इतना शोक करती हैं। मिस्टर विनोद आपका मान न करें; पर संसार में

कम से-कम एक ऐसा व्यक्ति है, जो आपके संकेत पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता है। आप-जैसी रमणी-रत्न पाकर संसार में ऐसा कौन पुरुष है, जो अपने भाग्य को धन्य न मानेगा। आप इसकी बिलकुल चिन्ता न करें।

मुझे भुवन की यह बात बुरी मालूम हुई। क्रोध से मेरा मुख लाल हो गया। यह धूर्त मेरी इस दुर्बलता से लाभ उठाकर मेरा सर्वनाश करना चाहता है। अपने दुर्भाग्य पर बराबर रोना आता था। अभी विवाह हुए साल भी नहीं पूरा हुआ और मेरी यह दशा होगयी कि दूसरों को मुझे बहकाने और मुझ पर अपना जादू चलाने का साहस हो रहा है। जिस वक्त मैंने विनोद को देखा था, मेरा हृदय कितना फूल उठा था। मैंने अपने हृदय को कितनी भक्ति से उनके चरणों पर अर्पण किया था। मगर क्या जानती थी कि इतनी जल्द मैं उनकी आँखों से गिर जाऊँगी, और मुझे परित्यक्ता समझकर शोहदे मुझ पर डोरे डालेंगे।

मैंने आँसू पोंछते हुए कहा—मैं आपसे क्षमा माँगती हूँ। मुझे जरा विश्राम लेने दीजिए।

'हाँ-हाँ, आप आराम करें; मैं बैठा देखता रहूँगा।'

'जी नहीं, अब आप कृपा करके जाइए। यों मुझे आराम न मिलेगा।'

'अच्छी बात है, आप आराम कीजिए। मैं सन्ध्या-समय आकर देख जाऊँगा।'

'जी नहीं, आपको कष्ट करने की कोई जरूरत नहीं है।'

'अच्छा तो मैं कल आऊँगा। शायद महाराजा साहब भी आवें।'

'नहीं, आप लोग मेरे बुलाने का इन्तजार कीजिएगा। बिना बुलाये न आइएगा।'

यह कहती हुई मैं उठकर अपने सोने के कमरे की ओर चली। भुवन एक क्षण मेरी ओर देखता रहा, फिर चुपके से चला गया।

बहन, इसे दो दिन हो गये हैं। पर मैं कमरे से बाहर नहीं निकाली। भुवन दो-तीन बार आ चुका है, मगर मैंने उससे मिलने से साफ इनकार कर दिया। अब शायद उसे फिर आने का साहस न होगा। ईश्वर ने बड़े नाजुक मौके पर मुझे सुबुद्धि दान की, नहीं तो मैं अबतक अपना सर्वनाश कर बैठी होती।

विनोद प्रायः मेरे ही पास बैठे रहते हैं। लेकिन उनसे बोलने को मेरा जी नहीं चाहता। जो पुरुष व्यभिचार का दार्शनिक सिद्धान्तों से समर्थन कर सकता है, जिसकी आँखों में विवाह-जैसे पवित्र बन्धन का कोई मूल्य नहीं, जो न मेरा हो सकता है, न मुझे अपना बना सकता है, उसके हाथ मुझ-जैसी मानिनी गर्विणी स्त्री का कै दिन निर्वाह होगा!

बस, अब बिदा होती हूँ। बहन, क्षमा करना। मैंने तुम्हारा बहुत-सा अमूल्य समय ले लिया। मगर इतना समझ लो कि मैं तुम्हारी दया नहीं, बल्कि सहानुभूति चाहती हूँ।

तुम्हारी,
पद्मा

(१०)

काशी
५-१-२६

बहन,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोई उपन्यास पढ़कर उठी हूँ। अगर तुम उपन्यास लिखो, तो मुझे विश्वास है, उसकी धूम मच जाय। तुम आप उसकी नायिका बन जाना। तुम ऐसी-ऐसी बातें कहाँ सीख गयीं, मुझे तो यही आश्चर्य है। उस बंगाली के साथ तुम अकेली कैसे बैठी बातें करती रहीं, मेरी तो समझ में नहीं आता। मैं तो कभी न कर सकती। तुम विनोद को जलाना चाहती हो, उनके चित्त को अशांत करना चाहती हो। हाय! उस गरीब के साथ तुम कितना भयंकर अन्याय कर रही हो! तुम यह क्यों समझती हो कि विनोद तुम्हारी उपेक्षा कर रहे हैं, अपने विचारों में इतने मग्न हैं कि उन्हें तुम्हारी परवा ही नहीं। यह क्यों नहीं समझती कि उन्हें कोई मानसिक चिंता सताया करती है, उन्हें कोई ऐसी फिक्र घेरे हुए है कि जीवन के साधारण व्यापारों में उतनी रुचि ही नहीं रही। संभव है, वह कोई दार्शनिक तत्त्व खोज रहे हों, कोई थीसिस लिख रहे हों, किसी पुस्तक की रचना कर रहे हों। कौन कह सकता है! तुम-जैसी रूपवती स्त्री पाकर यदि कोई मनुष्य चिन्तित रहे, तो समझ लो कि उसके दिल पर कोई बड़ा बोझ है। उनको तुम्हारी सहानुभूति की जरूरत है,

तुम उनका बोझ हलका कर सकती हो। लेकिन तुम उलटे उन्हीं को दोष देती हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम एक दिन क्यों विनोद से दिल खोलकर बातें नहीं कर लेतीं। संदेह को जितनी जल्द हो सके, निकाल डालना चाहिए। संदेह वह चोट है, जिसका उपचार जल्द न हो, तो नासूर पड़ जाता है, और फिर अच्छा नहीं होता। क्यों दो-चार दिनों के लिए यहाँ नहीं चली आतीं? तुम शायद कहो, तू ही क्यों नहीं चली आती। लेकिन मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, बिना सास-ससुर से पूछे कोई काम नहीं कर सकती। तुम्हें तो कोई बंधन नहीं है।

बहन, आजकल मेरा जीवन हर्ष और शोक का विचित्र मिश्रण हो रहा है। अकेली होती हूँ, तो रोती हूँ, आनन्द आ जाते हैं, तो हँसती हूँ। जी चाहता है, वह हरदम मेरे सामने बैठे रहते। लेकिन रात बारह बजे के पहले उनके दर्शन नहीं होते। एक दिन दोपहर को आगये, तो सासजी ने ऐसा डाँटा कि कोई बच्चे को क्या डाँटेगा। मुझे ऐसा भय हो रहा है कि सासजी को मुझसे चिढ़ है। बहन, मैं उन्हें भरसक प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हूँ। जो काम कभी न किये थे, वह उनके लिए करती हूँ, उनके स्नान के लिए पानी गर्म करती हूँ, उनकी पूजा के लिए चौकी बिछाती हूँ। वह स्नान कर लेती है, तो उनकी धोती छाँटती हूँ; वह लेटती हैं, तो उनके पैर दबाती हूँ; जब वह सो जाती हैं तो उन्हें पंखा झलती हूँ। वह मेरी माता है, उन्हींके गर्भ से वह रत्न उत्पन्न हुआ है, जो मेरा प्राणाधार है। मैं उनकी कुछ सेवा कर सकूँ, इससे बढ़कर मेरे लिए सौभाग्य की और क्या बात होगी। मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि मुझसे हँसकर बोलें; मगर न जाने क्यों वह बात-बात पर मुझे कोसा करती हैं। मैं जानती हूँ, दोष मेरा ही है। हाँ, मुझे मालूम नहीं, वह क्या है। अगर मेरा यही अपराध है कि मैं अपनी दोनों ननदों से रूपवती क्यों हूँ, पढ़ी-लिखी क्यों हूँ, आनन्द क्यों मुझे इतना चाहते हैं, तो बहन, यह मेरे बस की बात नहीं। मेरे प्रति सासजी का यह व्यवहार देखकर ही कदाचित् आनंद माताजी से कुछ खिंचे रहते हैं। सासजी को भ्रम होता होगा कि मैं ही आनन्द को भरमा रही हूँ। शायद वह पछताती हैं कि क्यों मुझे बहू बनाया! उन्हें भय होता है कि कहीं मैं उनके बेटे को उनसे छीन न लूँ। दो-एक बार मुझे जादूगरनी कह चुकी हैं। दोनों ननदें अकारण ही मुझसे जलती रहती हैं। बड़ी ननदजी तो विधवा हो गयी हैं उनका

जलना समझ में आता है। लेकिन छोटी ननदजी तो अभी कलोर हैं, उनका जलना मेरी समझ में नहीं आता। मैं उनकी जगह होती, तो अपनी भावज से कुछ सीखने की, कुछ पढ़ने की कोशिश करती, उनके चरण धो-धोकर पीती। पर इस छोकरी को मेरा अपमान करने ही में आनन्द आता है। मैं जानती हूँ, थोड़े दिनों में दोनों ननदें लज्जित होंगी। हाँ अभी वे मुझसे बिचकती हैं। मैं अपनी तरफ से तो उन्हें अप्रसन्न होने का कोई अवसर नहीं देती।

मगर रूप को क्या करूँ। क्या जानती थी कि एक दिन इस रूप के कारण मैं अपराधिनी ठहरायी जाऊँगी। मैं सच कहती हूँ बहन, यहाँ मैंने सिंगार करना एक तरह से छोड़ ही दिया है। मैली-कुचैली बनी बैठी रहती हूँ। इस भय से कि कोई मेरे पढ़ने-लिखने पर नाक न सिकोड़े, पुस्तकों को हाथ नहीं लगाती। घर से पुस्तकों का एक गट्ठर बाँध लायी थी। उसमें कई पुस्तकें बड़ी सुन्दर हैं। उन्हें पढ़ने के लिए बार-बार जी चाहता है, मगर डरती हूँ कि कोई ताना न दे बैठे। दोनों ननदें मुझे देखती रहती हैं कि यह क्या करती है, कैसे बैठती है, कैसे बोलती है, मानो दो-दो जासूस मेरे पीछे लगा दिये गये हों। इन दोनों महिलाओं को मेरी बदगोई में क्यों इतना मजा आता है, नहीं कह सकती। शायद आजकल उन्हें इसके सिवा दूसरा काम ही नहीं। गुस्सा तो ऐसा आता है कि एक बार झिड़क दूँ, लेकिन मन को समझाकर रोक लेती हूँ। यह दशा बहुत दिनों नहीं रहेगी। एक नये आदमी से कुछ हिचक होना स्वाभाविक ही है, विशेषकर जब वह नया आदमी शिक्षा और विचार-व्यवहार में हमसे अलग हो। मुझी को अगर किसी फ्रेंच लेडी के साथ रहना पड़े, तो शायद मैं भी उसकी हरएक बात को आलोचना और कुतूहल की दृष्टि से देखने लगूँ। यह काशी-वासी लोग पूजा-पाठ बहुत करते हैं। सासजी तो रोज गंगा-स्नान करने जाती हैं। बड़ी ननदजी भी उनके साथ जाती हैं। मैंने कभी पूजा नहीं की। याद है, हम और तुम पूजा करनेवालों को कितना बनाया करती थीं। अगर मैं पूजा करनेवालों का चरित्र कुछ उन्नत पाती, तो शायद अब तक मैं भी पूजा करती होती। लेकिन मुझे तो कभी ऐसा अनुभव प्राप्त नहीं हुआ। पूजा करनेवालियाँ भी उसी तरह दूसरों की निन्दा करती हैं,

उसी तरह आपस में लड़ती झगड़ती हैं, जैसे वे जो कभी पूजा नहीं करतीं। खैर, अब मुझे धीरे-धीरे पूजा से श्रद्धा होती जा रही है। मेरे ददिया ससुरजी ने एक छोटा-सा ठाकुरद्वारा बनवा दिया था। वह मेरे घर के सामने ही है। मैं अक्सर सासजी के साथ वहाँ जाती हूँ, और अब यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि उन विशाल मूर्तियों के दर्शन से मुझे अपने अंतस्तल में एक ज्योति का अनुभव होता है। जितनी अश्रद्धा से मैं राम और कृष्ण के जीवन की आलोचना किया करती थी, वह बहुत कुछ मिट चुकी है।

लेकिन रूपवती होने का दण्ड यहीं तक बस नहीं है। ननदें अगर मेरे रूप को देखकर जलती हैं, तो यह स्वाभाविक है। दुःख तो इस बात का है अब यह दण्ड मुझे उस तरफ से भी मिल रहा है, जिधर से इसकी कोई संभावना न होनी चाहिए—मेरे आनंद बाबू भी मुझे इसका दण्ड दे रहे हैं। हाँ, उनकी दण्डनीति एक निराले ही ढंग की है। वह मेरे पास नित्य ही कोई-न-कोई सौगात लाते रहते हैं। वह जितनी देर मेरे पास रहते हैं, उनके मन में यह सदेह होता रहता है कि मुझे उनका रहना अच्छा नहीं लगता। वह समझते हैं कि मैं उनसे जो प्रेम करती हूँ, यह केवल दिखावा है, कौशल है। वह मेरे सामने कुछ ऐसे दबे-दबाये, सिमटे-सिमटाये रहते हैं कि मैं मारे लज्जा के मरी जाती हूँ। उन्हें मुझसे कुछ कहते हुए ऐसा सकोच होता है, मानो वह कोई अनधिकार चेष्टा कर रहे हों। जैसे मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए कोई आदमी उज्ज्वल वस्त्र पहननेवालों से दूर ही रहना चाहता है, वही दशा इनकी है। वह शायद समझते हैं कि किसी रूपवती स्त्री को रूपहीन पुरुष से प्रेम हो ही नहीं सकता। शायद वह दिल में पछताते हैं कि क्यों इससे विवाह किया। शायद उन्हें अपने ऊपर ग्लानि होती है। वह मुझे कभी रोते देख लेते हैं, तो समझते हैं, मैं अपने भाग्य को रो रही हूँ; कोई पत्र लिखते देखते हैं, तो समझते हैं, मैं इनकी रूपहीनता ही का रोना रो रही हूँ। क्या कहूँ बहन, यह सौन्दर्य मेरी जान का गाहक हो गया। आनन्द के मन से इस शंका को निकालने और उन्हें अपनी ओर से आश्वासन देने के लिए मुझे ऐसी-ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, ऐसे-ऐसे आचरण करने पड़ते हैं, जिनपर मुझे घृणा होती है। अगर पहले से यह दशा जानती, तो ब्रह्मा से कहती कि मुझे कुरूपा ही बनाना। बड़े असमंजस में

पड़ी हूँ ! अगर सासजी की सेवा नहीं करती, बड़ी ननदजी का मन नहीं रखती, तो उनकी आँखों से गिरती हूँ। अगर आनन्द बाबू को निराश करती हूँ, तो कदाचित् मुझसे विरक्त ही हो जायँ। मैं तुमसे अपने हृदय की बात कहती हूँ। बहन, तुमसे क्या पर्दा रखना है; मुझे आनन्द बाबू से उतना ही प्रेम है, जितना किसी स्त्री को पुरुष से हो सकता है, उनकी जगह अब अगर इन्द्र भी सामने आ जाय, तो मैं उनकी ओर आँख उठाकर न देखूँ। मगर उन्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ ? मैं देखती हूँ, वह किसी-न-किसी बहाने से बार-बार घर में आते हैं और दबी हुई, ललचायी हुई नजरों से मेरे कमरे के द्वार की ओर देखते हैं, तो जी चाहता है, जाकर उनका हाथ पकड़ लूँ और अपने कमरे में खींच ले आऊँ। मगर एक तो डर होता है कि किसी की आँख पड़ गयी, तो छाती पीटने लगेगी, और इससे भी बड़ा डर यह कि कहीं आनन्द इसे भी कौशल ही न समझ बैठें। अभी उनकी आमदनी बहुत कम है, लेकिन दो-चार रुपये सौगातों में रोज उड़ाते हैं। अगर प्रेमोपहार-स्वरूप वह धेले की कोई चीज दें, तो मैं उसे आँखों से लगाऊँ; लेकिन वह कर-स्वरूप देते हैं, मानों उन्हे ईश्वर ने यह दण्ड दिया है। क्या करूँ, अब मुझे भी प्रेम का स्वाँग करना पड़ेगा। प्रेम-प्रदर्शन से मुझे चिढ़ है। तुम्हें याद होगा, मैंने एक बार कहा था कि प्रेम या तो भीतर ही रहेगा या बाहर ही रहेगा। समान रूप से वह भीतर और बाहर दोनों जगह नहीं रह सकता। स्वाँग वेश्याओं के लिए है, कुलवती तो प्रेम को हृदय ही में सञ्चित रखती हैं।

बहन, पत्र बहुत लम्बा हो गया, तुम पढ़ते-पढ़ते ऊब गयी होगी। मैं भी लिखते-लिखते थक गयी। अब शेष बातें कल लिखूँगी ! परसों यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचेगा।

× × ×

बहन, क्षमा करना; कल पत्र लिखने का अवसर नहीं मिला। रात एक ऐसी बात होगयी, जिससे चित्त अशान्त हो उठा। बड़ी मुश्किलों से यह थोड़ा सा समय निकाल सकी हूँ। मैंने अभी तक आनन्द से घर के किसी प्राणी की शिकायत नहीं की थी। अगर सासजी ने कोई बात कह दी या ननदजी ने कोई ताना दे दिया, तो इसे उनके कानों तक क्यों पहुँचाऊँ। इसके सिवा कि

गृह-कलह उत्पन्न हो, इससे और क्या हाथ आयेगा। इन्हीं जरा-जरा-सी बातों को पेट में न डालने से घर बिगड़ते हैं। आपस में वैमनस्य बढ़ता है। मगर संयोग की बात, कल अनायास ही मेरे मुँह से एक बात निकल गयी जिसके लिए मैं अब भी अपने को कोस रही हूँ, और ईश्वर से मनाती हूँ कि वह आगे न बढ़े। बात यह हुई कि कल आनन्द बाबू बहुत देर करके मेरे पास आये। मैं उनके इन्तजार में बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी। सहसा सासजी ने आकर पूछा—क्या अभी तक बिजली जल रही है? क्या वह रात-भर न आयें, तो तुम रात-भर बिजली जलाती रहोगी?

मैंने उसी वक्त बत्ती ठण्डी कर दी। आनन्द बाबू थोड़ी देर में आये, तो कमरा अँधेरा पड़ा था, न-जाने उस वक्त मेरी मति कितनी मन्द हो गयी थी। अगर मैंने उनकी आहट पाते ही बत्ती जला दी होती, तो कुछ न होता। मगर मैं अँधेरे में पड़ी रही। उन्होंने पूछा—क्या सो गयीं? यह अँधेरा क्यों पड़ा हुआ है?

हाय! इस वक्त भी यदि मैंने कह दिया होता कि मैंने अभी बत्ती गुल कर दी है, तो बात बन जाती। मगर मेरे मुँह से निकाला—'सास जी का हुक्म हुआ कि बत्ती गुल कर दो, गुल कर दी। तुम रात-भर न आओ, तो क्या रात-भर बत्ती जलती रहे?'

'तो अब तो जला दो। मै रोशनी के सामने से आ रहा हूँ। मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं।'

'मैंने अब बटन को हाथ से न छूने की कसम खा ली। जब जरूरत पड़ेगी, तो मोम की बत्ती जला लिया करूँगी। कौन मुफ्त में घुड़कियाँ सहे।'

आनन्द ने बिजली का बटन दबाते हुए कहा—'और मैंने कसम खा ली कि रात-भर बत्ती जलेगी, चाहे किसी को बुरा लगे या भला। सब कुछ देखता हूँ, अन्धा नहीं हूँ। दूसरी बहू आकर इतनी सेवा करेगी तो देखूँगा। तुम हो नसीब की खोटी कि ऐसे प्राणियों के पाले पड़ी। किसी दूसरी सास की तुम इतनी खिदमत करतीं, तो वह तुम्हें पान की तरह फेरती, तुम्हें हाथों पर लिये रहती; मगर यहाँ चाहे कोई प्राण ही दे दे, किसी के मुँह से सीधी बात न निकलेगी।'

मुझे अपनी भूल साफ मालूम हो गयी। उनका क्रोध शान्त करने के इरादे से बोली—गलती तो मेरी ही थी कि व्यर्थ आधीरात तक बत्ती जलाये बैठी रही। अम्माँजी ने गुल करने को कहा, तो क्या बुरा कहा। मुझे समझाना, अच्छी सीख देना उनका धर्म है। मेरा भी धर्म यही है कि यथाशक्ति उनकी सेवा करूँ और उनकी शिक्षा को गिरह बाँधूँ।

आनन्द एक क्षण द्वार की ओर ताकते रहे। फिर बोले—मुझे मालूम हो रहा है कि इस घर में मेरा अब गुजर न होगा। तुम नहीं कहती, मगर मैं सब कुछ सुनता रहा हूँ। सब समझता हूँ। तुम्हें मेरे पापों का प्रायश्चित करना पड़ रहा है। मैं कल अम्माँजी से साफ-साफ कह दूँगा—'अगर आपका यही व्यवहार है, तो आप अपना घर लीजिए, मैं अपने लिए कोई दूसरी राह निकाल लूँगा।'

मैंने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा—नहीं, नहीं। कहीं ऐसा गजब भी न करना। मेरे मुँह में आग लगे, कहाँ से बत्ती का जिक्र कर बैठी। मैं तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ, मुझे न सासजी से कोई शिकायत है न ननद-जी से, दोनों मुझसे बड़ी हैं, मेरी माता के तुल्य हैं। अगर एक बात कड़ी भी कह दें, तो मुझे सब्र करना चाहिए। तुम उनसे कुछ न कहना, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा।

आनन्द ने रुंधे कंठ से कहा—तुम्हारी-जैसी बहू पाकर भी अम्माँजी का कलेजा नहीं पसीजता, अब क्या कोई स्वर्ग की देवी घर में आती? तुम डरो मत, मैं ख्वामख्वाह लड़ूँगा नहीं। मगर हाँ, इतना अवश्य कह दूँगा कि जरा अपने मिजाज को काबू में रखें। आज अगर मैं दो-चार सौ रुपये घर में लाता होता, तो कोई चूँ न करता। कुछ कमाकर नहीं लाता, यह उसी का दण्ड है। सच पूछो, तो मुझे विवाह करने का कोई अधिकार ही न था। मुझ-जैसे मन्दबुद्धि को, जो कौड़ी कमा नहीं सकता, अपने साथ किसी महिला को डुबाने का क्या हक था। बहनजी को न-जाने क्या सूझी है कि तुम्हारे पीछे पड़ी रहती हैं। ससुराल का सफाया कर दिया, अब यहाँ भी आग लगाने पर तुली हुई हैं। बस, पिताजी का लिहाज करता हूँ, नहीं तो इन्हें तो एक दिन में ठीक कर देता।

बहन, उस वक्त तो मैंने किसी तरह उन्हें शान्त किया, पर नहीं कह सकती

कि कब वह उबल पड़ें। मेरे लिए वह सारी दुनिया से लड़ाई मोल ले लेंगे। मैं जिन परिस्थितियों में हूँ, उनका तुम अनुमान कर सकती हो। मुझपर कितनी ही मार पड़े, मुझे रोना न चाहिए, जबान तक न हिलाना चाहिए। मैं रोयी और घर तबाह हुआ। आनन्द फिर कुछ न सुनेंगे, कुछ न देखेंगे। कदाचित् इस उपाय से वह अपने विचार में मेरे हृदय में अपने प्रेम का अंकुर जमाना चाहते हों। आज मुझे मालूम हुआ कि यह कितने क्रोधी हैं। अगर मैंने जरा-सा पुचारा दे दिया होता, तो रात ही को वह सासजी की खोपड़ी पर जा पहुंचते। कितनी ही युवतियाँ इसी अधिकार के गर्व में अपने को भूल जाती है। मैं तो बहन, ईश्वर ने चाहा तो कभी न भूलूँगी। मुझे इस बात का डर नहीं है कि आनन्द अलग घर बना लेंगे, तो गुजर कैसे होगा। मैं उनके साथ सब-कुछ झेल सकती हूँ। लेकिन घर तो तबाह हो जायगा।

बस, प्यारी पद्मा, आज इतना ही। पत्र का जवाब जल्द देना।

तुम्हारी,

चन्दा

(११)

देहली

५-२-२६

प्यारी चन्दा,

क्या लिखूँ, मुझपर तो विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा! हाय, वह चले गये! मेरे विनोद का तीन दिन से पता नहीं—निर्मोही चला गया, मुझे छोड़कर बिन कुछ कहे-सुने चला गया—अभी तक रोयी नहीं। जो लोग पूछने आते हैं उनसे बहाना कर देती हूँ कि] दो-चार दिन में आयेंगे, एक काम से काशी गये हैं। मगर जब रोऊँगी, तो यह शरीर उन आँसुओं में डूब जायगा। प्राण उसी में विसर्जित हो जायँगे। छलिये ने मुझसे कुछ भी नहीं कहा, रोज की तरह उठा, भोजन किया, विद्यालय गया, नियत समय पर रोज की तरह मुसकिराकर मेरे पास आया। हम दोनों ने जल-पान किया, फिर वह दैनिक पत्र पढ़ने लगा, मैं टेनिस खेलने चली गयी। इधर कुछ दिनों से उन्हें टेनिस से कुछ प्रेम न रहा था, मैं अकेली ही जाती थी। लौटी, तो रोज ही की तरह उन्हें बरामदे

में टहलते और सिगार पीते देखा। मुझे देखते ही वह रोज की तरह मेरा ओवर-कोट लाये और मेरे ऊपर डाल दिया। बरामदे से नीचे उतरकर खुले मैदान में हम टहलने लगे। मगर वह ज्यादा बोले नहीं, किसी विचार में डूबे रहे। जब ओस अधिक पड़ने लगी, तो हम दोनों फिर अन्दर चले आये। उसी वक्त वह बंगाली महिला आ गयी, जिनसे मैंने वीणा सीखना शुरू किया है। विनोद भी मेरे साथ ही बैठे रहे। संगीत उन्हें कितना प्रिय है, यह तुम्हें लिख चुकी हूँ। कोई नयी बात नहीं हुई। महिला के चले जाने के बाद हमने साथ-ही साथ भोजन किया, फिर मैं अपने कमरे में लेटने आयी। वह रोज की तरह अपने कमरे में लिखने पढ़ने चले गये। मैं जल्द ही सो गयी, लेकिन जब वह मेरे कमरे में आये, तो मेरी आँखें खुल गयीं। मैं नींद में कितनी ही बेखबर पड़ी रहूँ, उनकी आहट पाते ही आप-ही-आप आँखें खुल जाती हैं। मैंने देखा, वह अपना हरा शाल ओढ़े खड़े थे। मैंने उनकी ओर हाथ बढ़ाकर कहा—आओ, खड़े क्यों हो, और फिर सो गयी। बस, प्यारी बहन! वही विनोद के अंतिम दर्शन थे। कह नहीं सकती, वह पलंग पर लेटे या नहीं। इन आँखों में न-जाने कौन-सी महानिद्रा समायी हुई थी। प्रातः उठी, तो विनोद को न पाया। मैं पहले उठती हूँ, वह पड़े सोते रहते हैं। पर आज वह पलँग पर न थे। शाल भी न था। मैंने समझा, शायद अपने कमरे में चले गये हों। स्नान-गृह में चली गयी। आध घंटे में बाहर आयी, फिर भी वह न दिखायी दिये। उनके कमरे में गयी, वहाँ भी न थे। आश्चर्य हुआ कि इतने सबेरे कहाँ चले गये सहसा खूँटी पर आँख पड़ी—कपड़े न थे। किसी से मिलने चले गये? या स्नान के पहले सैर करने की ठानी। कम-से-कम मुझसे कह तो देते, संशय में तो जी न पड़ता। क्रोध आया—मुझे लौंडी समझते हैं........

हाजिरी का समय आया। बैरा मेज पर चाय रख दिया। विनोद के इंतजार में चाय ठंढी हो गयी। मैं बार-बार झुँझलाती थी, कभी भीतर जाती, कभी बाहर आती, ठान ली थी कि आज ज्योंही महाशय आयेंगे, ऐसा लताड़ूँगी कि वह भी याद करेंगे। कह दूँगी, आप अपना घर लीजिए, आपको अपना घर मुबारक रहे, मैं अपने घर चली जाऊँगी। इस तरह तो रोटियाँ वहाँ भी मिल जायँगी। जाड़े के नौ बजने में देर ही क्या लगती है। विनोद का अभी पता

नहीं। झल्लायी हुई उनके कमरे में गयी कि एक पत्र लिखकर मेज पर रख दूँ—साफ-साफ लिख दूँ कि इस तरह अगर रहना है, तो आप रहिए, मैं नहीं रह सकती। मैं जितना ही तरह देती जाती हूँ, उतना ही तुम मुझे चिढ़ाते हो। बहन, उस क्रोध में सन्तप्त भावों की नदी-सी मन में उमड़ रही थी। अगर लिखने बैठती, तो पन्नों-के-पन्ने लिख डालती। लेकिन आह! मैं तो भाग जाने की धमकी ही दे रही थी, वह पहले ही भाग चुके थे। ज्योंही मेज पर बैठी, मुझे पैड में उनका एक पत्र मिला। मैंने तुरन्त उस पत्र को निकाल लिया और सरसरी निगाह से पढ़ा—मेरे हाथ काँपने लगे, पाँव थरथराने लगे, जान पड़ा कमरा हिल रहा है। एक ठण्ढी, लम्बी, हृदय को चीरनेवाली आह खींचकर मैं कोच पर गिर पड़ी। पत्र यह था—

'प्रिये, नौ महीने हुए, जब मुझे पहली बार तुम्हारे दर्शनों का सौभाग्य हुआ था। उसी वक्त मैंने अपने को धन्य माना था। आज तुमसे वियोग का दुर्भाग्य हो रहा है, फिर भी मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मुझे जाने का लेश-मात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम खुश होगी। जब तुम मेरे साथ सुखी नहीं रह सकतीं, तो मैं जबरदस्ती क्यों पड़ा रहूँ। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि हम और तुम अलग हो जायँ। मैं जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा! तुम भी जैसी हो, वैसी ही रहोगी। फिर सुखी जीवन की सम्भावना कहाँ? मैं विवाह को आत्मविकास का साधन समझता हूँ। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है, वर्ना मैं विवाह की कोई जरूरत नहीं समझता। मानव सन्तान बिना विवाह के भी जीवित रहेगी और शायद इससे अच्छे रूप में। वासना भी बिना विवाह के पूरी हो सकती है, घर के प्रबन्ध के लिए विवाह करने की कोई जरूरत नहीं। जीविका एक बहुत ही गौण प्रश्न है। जिसे ईश्वर ने दो हाथ दिये, वह कभी भूखा नहीं रह सकता। विवाह का उद्देश्य यही और केवल यही है कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे की आत्मोन्नति में सहायक हों। जहाँ अनुराग हो, वहीं विवाह है और अनुराग ही आत्मोन्नति का मुख्य साधन है। जब अनुराग न रहा, तो विवाह भी न रहा। अनुराग के बिना विवाह का कोई अर्थ ही नहीं।

'जिस वक्त मैंने तुम्हें पहली बार देखा था, तुम मुझे अनुराग की सजीव

मूर्ति-सी नजर आयी थीं। तुममें सौन्दर्य था, शिक्षा थी, प्रेम था, स्फूर्ति थी, उमंग थी। मैं मुग्ध हो गया। उस वक्त मेरी अन्धी आँखों को यह न सूझा कि जहाँ तुममें इतने गुण थे, वहाँ चंचलता भी थी, जो इन सब गुणों पर पर्दा डाल देती है। तुम चंचल हो, गजब की चंचल, जो उस वक्त मुझे न सूझा था। तुम ठीक वैसी ही हो, जैसी तुम्हारी दूसरी बहनें होती हैं, न कम, न ज्यादा। मैंने तुमको स्वाधीन बनाना चाहा था, क्योंकि मेरी समझ में अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचने के लिए इसीकी सबसे अधिक जरूरत है। संसार भर में पुरुषों के विरुद्ध क्यों इतना शोर मचा हुआ है? इसीलिए कि हमने औरतों की आजादी छीन ली है और उन्हें अपनी इच्छाओं की लौंडी बना रखा है। मैंने तुम्हें स्वाधीन कर दिया। मैं तुम्हारे ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता। तुम अपनी स्वामिनी हो। मैं जबतक समझता था, तुम मेरे साथ स्वेच्छा से रहती हो, मुझे कोई चिन्ता न थी। अब मुझे मालूम हो रहा है, तुम स्वेच्छा से नहीं, संकोच या भय या बन्धन के कारण रहती हो। दो ही चार दिन पहले मुझपर यह बात खुली है। इसीलिए अब मैं तुम्हारे सुख के मार्ग में बाधा नहीं डालना चाहता। मैं कहीं भागकर नहीं जा रहा हूँ। केवल तुम्हारे रास्ते से हटा जा रहा हूँ, और इतनी दूर हटा जा रहा हूँ कि तुम्हें मेरी ओर से पूरी निश्चिन्तता हो जाय। अगर मेरे बगैर तुम्हारा जीवन अधिक सुन्दर हो सकता है, तो मैं तुम्हें जबरन् नहीं रखना चाहता। अगर मैं समझता कि तुम मेरे सुख के मार्ग में बाधक हो रही हो, तो मैंने तुमसे साफ-साफ कह दिया होता। मैं धर्म और नीति का ढोंग नहीं मानता, केवल आत्मा का सन्तोष चाहता हूँ,—अपने लिए भी, तुम्हारे लिए भी। जीवन का तत्त्व यही है, मूल्य यही है। मैंने डेस्क में अपने विभाग के अध्यक्ष के नाम एक पत्र लिखकर रख दिया है। वह उनके पास भेज देना। रुपये की कोई चिन्ता मत करना। मेरे एकाउंट में अभी इतने रुपये हैं, जो तुम्हारे लिए कई महीने को काफी हैं, और उस वक्त तक मिलते रहेंगे, जब तक तुम लेना चाहोगी। मैं समझता हूँ, मैंने अपना भाव स्पष्ट कर दिया है। इससे अधिक स्पष्ट मैं नहीं करना चाहता। जिस वक्त तुम्हारी इच्छा मुझसे मिलने की हो, बैंक से मेरा पता पूछ लेना। मगर दो-चार दिन के बाद। घबड़ाने की कोई बात नहीं। मैं स्त्री को [illegible]ना

या अपंग नहीं समझता। वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकती है—अगर करना चाहे। अगर अब या अब से, २-४ महीना, २-४ साल पीछे तुम्हें मेरी याद आये, और तुम समझो कि मेरे साथ सुखी रह सकती हो, तो मुझे केवल दो शब्द लिखकर डाल देना। मैं तुरन्त आ जाऊँगा; क्योंकि मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। तुम्हारे साथ मेरे जीवन के जितने दिन कटे हैं, वह मेरे लिए स्वर्ग-स्वप्न के दिन हैं। जब तक जीऊँगा, इस जीवन की आनन्द-स्मृतियों को हृदय में संचित रखूँगा। आह! इतनी देर तक मन को रोके रहने के बाद आँखों से एक बूँद आँसू गिर ही पड़ा। क्षमा करना, मैंने तुम्हें 'चंचल' कहा है। अचंचल कौन है? जानता हूँ कि तुमने मुझे अपने हृदय से निकालकर फेंक दिया है, फिर भी इस एक घंटे में कितनी बार तुमको देख-देखकर लौट आया हूँ। मगर इन बातों को लिखकर मैं तुम्हारी दया को उकसाना नहीं चाहता। तुमने वही किया, जिसका मेरी नीति में तुमको अधिकार था, है और रहेगा। मैं विवाह में आत्मा को सर्वोपरि रखना चाहता हूँ। स्त्री और पुरुष में मैं वही प्रेम चाहता हूँ, जो दो स्वाधीन व्यक्तियों में होता है। वह प्रेम नहीं जिसका अधार पराधीनता है।

बस, अब और कुछ न लिखूँगा। तुमको एक चेतावनी देने की इच्छा हो रही है, पर दूँगा नहीं; क्योंकि तुम अपना भला और बुरा खुद समझ सकती हो। तुमने सलाह देने का हक मुझसे छीन लिया है। फिर भी इतना कहे बगैर नहीं रहा जाता कि संसार में प्रेम का स्वाँग भरनेवाले शोहदों की कमी नहीं है, उनसे बचकर रहना। ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम जहाँ रहो, आनन्द से रहो। अगर कभी तुम्हें मेरी जरूरत पड़े, तो याद करना। तुम्हारी एक तस्वीर का अपहरण किये जाता हूँ। क्षमा करना। क्या मेरा इतना अधिकार भी नहीं? हाय! जी चाहता है, एक बार फिर देख आऊँ, मगर नहीं आऊँगा।'

—तुम्हारा ठुकराया हुआ,
विनोद

बहन, यह पत्र पढ़कर मेरे चित्त की जो दशा हुई, उसका तुम अनुमान कर सकती हो। रोयी तो नहीं; पर दिल बैठा जाता था। बार-बार जी चाहता

था कि विष खाकर सो रहूँ ? १० बजने में अब थोड़ी ही देर थी। मैं तुरन्त विद्यालय गयी और दर्शन-विभाग के अध्यक्ष को विनोद का पत्र दिया। वह एक मदरासी सज्जन हैं। मुझे बड़े आदर से बिठाया और पत्र पढ़कर बोले—आपको मालूम है, वह कहाँ गये और कब तक आयेंगे। इसमें तो केवल एक मास की छुट्टी माँगी गयी है। मैंने बहाना किया—वह एक, आवश्यक कार्य से काशी गये हैं। और निराश होकर लौट आयी। मेरी अन्तरात्मा सहस्रों जिह्वा बनकर मुझे धिक्कार रही थी। कमरे में उनकी तस्वीर के सामने घुटने टेककर मैंने जितने पश्चात्ताप-पूर्ण शब्दों में क्षमा माँगी है, वह अगर किसी तरह उनके कानों तक पहुँच सकती, तो उन्हें मालूम होता कि उन्हें मेरी ओर से कितना भ्रम हुआ! तब से अब तक मैंने कुछ भोजन नहीं किया और न एक मिनट सोयी। विनोद मेरी क्षुधा और निद्रा भी अपने साथ लेते गये और शायद इसी तरह दस-पाँच दिन उनकी खबर न मिली, तो प्राण भी चले जायँगे। आज मैं बैंक तक गयी थी, पर यह पूछने की हिम्मत न पड़ी कि विनोद कोई पत्र आया। वह सब क्या सोचते कि यह उनकी पत्नी होकर हमसे पूछने आयी है!

बहन, अगर विनोद न आये, तो क्या होगा? मैं समझती थी, वह मेरी तरफ से उदासीन हैं, मेरी पर्वा नहीं करते, मुझसे अपने दिल की बातें छिपाते हैं, उन्हें शायद मैं भारी हो गयी हूँ। अब मालूम हुआ, मैं कैसे भयंकर-भ्रम में पड़ी हुई थी। उनका मन इतना कोमल है, यह मैं जानती, तो उस दिन क्यों भुवन को मुँह लगाती। मैं उस अभागे का मुँह तक न देखती। इसी वक्त जो उसे देख पाऊँ, तो शायद गोली मार दूँ! जरा तुम विनोद के पत्र को फिर पढ़ो, बहन—आप मुझे स्वाधीन बनाने चले थे। अगर स्वाधीन बनाते थे, तो भुवन से जरा देर मेरा बातचीत कर लेना क्यों इतना अखरा? मुझे उनकी अविचलित शांति से चिढ़ होती थी। वास्तव में उनके हृदय में इस जरा-सी बात ने जितनी अशांति पैदा कर दी, उतनी शायद मुझमें न कर सकती। मैं किसी रमणी से उनकी रुचि देखकर शायद मुँह फुला लेती, ताने देती, खुद रोती, उन्हें रुलाती; पर इतनी जल्द भाग न जाती मर्दों का घर छोड़कर भागना तो आज तक नहीं सुना, औरतें ही घर छोड़कर मैके भागती हैं, या कहीं डूबने जाती हैं, या आत्महत्या करती हैं। पुरुष निर्द्वन्द्व बैठे मूँछों पर ताव देते हैं,

मगर यहाँ उलटी गंगा बह रही है—पुरुष ही भाग खड़ा हुआ! इस अशांति की थाह कौन लगा सकता है। इस प्रेम की गहराई को कौन समझ सकता है। मैं तो अगर इस वक्त विनोद के चरणों पर पड़े-पड़े मर जाऊँ तो समझूँ, मुझे स्वर्ग मिल गया। बस, इसके सिवा मुझे अब और कोई इच्छा नहीं है। इस अगाध-प्रेम ने मुझे तृप्त कर दिया। विनोद मुझसे भागे तो, लेकिन भाग न सके। वह मेरे हृदय से, मेरी धारणा से, इतने निकट कभी न थे। मैं तो अब भी उन्हें अपने सामने बैठा देख रही हूँ। क्या मेरे सामने फिलासफर बनने चले थे? कहाँ गयी आपकी वह दार्शनिक गंभीरता? यों अपने को धोखा देते हो? यों अपनी आत्मा को कुचलते हो? अबकी तो तुम भागे, लेकिन फिर भागना तो देखूँगी। न जानती थी कि तुम ऐसे चतुर बहुरूपिये हो। अब मैंने समझा, और शायद तुम्हारी दार्शनिक गंभीरता को भी समझ में आया होगा कि प्रेम जितना ही सच्चा, जितना ही हार्दिक होता है, उतना ही कोमल होता है। वह विपत्ति के उन्मत्त सागर में थपेड़े खा सकता है, पर अवहेलना की एक चोट भी नहीं सह सकता। बहन, बात विचित्र है, पर है सच्ची, मैं इस समय अपने अंतस्तल में जितनी उमंग, जितने आनंद का अनुभव कर रही हूँ, याद नहीं आता कि विनोद के हृदय से लिपटकर भी कभी पाया हो। तब पर्दा बीच में था, अब कोई पर्दा बीच में नहीं रहा। मैं उनको प्रचलित प्रेम व्यापार की कसौटी पर कसना चाहती थी। यह फैशन होगया है कि पुरुष घर में आये, तो स्त्री के वास्ते कोई तोहफा लाये, पुरुष रात-दिन स्त्री के लिए गहने बनवाने, कपड़े सिलवाने, बेल, फीते, लेस खरीदने में मस्त रहे, फिर स्त्री को उससे कोई शिकायत नहीं, वह आदर्श-पति है, उसके प्रेम में किसे संदेह हो सकता है। लेकिन उसी प्रेयसी की मृत्यु के तीसरे महीने वह फिर नया विवाह रचता है। स्त्री के साथ अपने प्रेम को भी चिता में जला आता है। फिर वही स्वाँग इस नयी प्रेयसी से होने लगते हैं, फिर वही लीला शुरू हो जाती है। मैंने यही प्रेम देखा था और इसी कसौटी पर विनोद को कस रही थी। कितनी मन्दबुद्धि हूँ! छिछोरेपन को प्रेम समझे बैठी थी। कितनी स्त्रियाँ जानती हैं कि अधिकांश ऐसे ही गहने, कपड़े और हँसने-बोलने में मस्त रहने-वाले जीव लम्पट होते हैं। अपनी लम्पटता को छिपाने के लिए वे यह स्वाँग भरते रहते हैं। कुत्ते को चुप रखने के लिए उनके सामने हड्डी के टुकड़े फेंक

देते हैं। बेचारी भोली-भाली स्त्री अपना सर्वस्व देकर खिलौने पाती है और उन्हीं में मग्न रहती है। मैं विनोद को उसी काँटे पर तौल रही थी—हीरे को साग के तराजू पर रखे देती थी। मैं जानती हूँ, मेरा दृढ़ विश्वास है, और वह अटल है कि विनोद की दृष्टि कभी किसी पर स्त्री पर नहीं पड़ सकती। उनके लिए मैं हूँ, अकेली मैं हूँ, अच्छी या बुरी हूँ! बहन, मेरी तो मारे गर्व और आनन्द से छाती फूल उठी है। इतना बड़ा साम्राज्य, इतना अचल, इतना स्वरक्षित, किसी हृदयेश्वरी को नसीब हुआ है! मुझे तो सन्देह है। और मैं इस पर भी असन्तुष्ट थी, यह न जानती थी कि ऊपर बबूले तैरते हैं, मोती समुद्र की तह में ही मिलते हैं। हाय! मेरी इस मूर्खता के कारण, मेरे प्यारे विनोद को कितनी मानसिक वेदना हो रही है! मेरे जीवन-धन, मेरे जीवन-सर्वस्व न-जाने कहाँ मारे-मारे फिरते होंगे, न-जाने किस दशा में होंगे, न-जाने मेरे प्रति उनके मन में कैसी-कैसी शंकाएँ उठ रही होंगी—प्यारे! तुमने मेरे साथ कुछ अन्याय नहीं किया। अगर मैंने तुम्हें निष्ठुर समझा, तो तुमने तो मुझे उससे कहीं बदतर समझा—क्या अब भी पेट नहीं भरा? तुमने मुझे इतनी गयी-गुजारी समझ लिया कि इस अभागे भुवन.... मैं ऐसे-ऐसे एक लाख भुवनों को तुम्हारे चरणों पर भेंट कर सकती हूँ। मुझे तो संसार में ऐसा कोई प्राणी ही नहीं नजर आता, जिसपर मेरी निगाह उठ सके। नहीं, तुम मुझे इतनी नीच, इतनी कलंकिनी नहीं समझ सकते—शायद वह नौबत आती, तो तुम और मैं दो में से एक भी इस संसार में न होता।

बहन, मैंने विनोद को बुलाने की, खींच लाने की, पकड़ मँगाने की एक तरकीब सोची है। क्या हूँ, पहले ही दिन यह तरकीब क्यों न सूझी। विनोद को दैनिक पत्र पढ़े बिना चैन नहीं आता और वह कौन-सा पत्र पढ़ते हैं, मैं यह भी जानती हूँ। कल के पत्र में यह खबर छपेगी,—'पद्मा मर रही है,' और परसों विनोद यहाँ होंगे—रुक नहीं सकते। फिर खूब झगड़े होंगे, खूब लड़ाइयाँ होंगी।

अब कुछ तुम्हारे विषय में। क्या तुम्हारी बुढ़िया सचमुच तुमसे इसलिए जलती है कि तुम सुन्दरी हो, शिक्षिता हो? खूब! और तुम्हारे आनन्द भी विचित्र जीव मालूम होते हैं। मैंने तो सुना है कि पुरुष कितना ही कुरूप हो,

पर उसकी निगाह अप्सराओं ही पर जाकर पड़ती है। फिर आनन्द बाबू तुमसे क्यों बिचकते हैं। जरा गौर से देखना, कहीं राधा और कृष्ण के बीच में कोई कुब्जा तो नहीं। अगर सासजी यों ही नाक में दम करती रहें, तो मैं तो यही सलाह दूँगी कि अपनी झोपड़ी अलग बना लो। मगर जानती हूँ, तुम मेरी यह सलाह न मानोगी, किसी तरह न मानोगी। इस सहिष्णुता के लिए मैं तुम्हें बधाई देती हूँ। पत्र जल्द लिखना। मगर शायद तुम्हारा पत्र आने के पहले ही मेरा दूसरा पत्र पहुँचे।

तुम्हारी
पद्मा

(१२)

काशी
१०-२-२६

प्रिय पद्मा,

कई दिन तक तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करने के बाद आज यह खत लिख रही हूँ। मैं अब भी आशा कर रही हूँ कि विनोद बाबू घर आ गये होंगे, मगर अभी वह न आये हों और तुम रो-रोकर अपनी आँखें फोड़े डालती हो, तो मुझे जरा भी दुःख न होगा। तुमने उनके साथ जो अन्याय किया है, उसका यही दण्ड है। मुझे तुमसे जरा भी सहानुभूति नहीं है! तुम गृहिणी होकर वह कुटिल क्रीड़ा करने चली थीं, जो प्रेम का सौदा करनेवाली स्त्रियों को ही शोभा देती है। मैं तो जब खुश होती कि विनोद ने तुम्हारा गला घोंट दिया होता और भुवन के कुसंस्कारों को सदा के लिए शांत कर देते। तुम चाहे मुझसे रूठ ही क्यों न जाओ, पर मैं इतना जरूर कहूँगी कि तुम विनोद के योग्य नहीं हो। शायद तुम उस पति से प्रसन्न रहतीं, जो प्रेम के नये-नये स्वाँग भरकर तुम्हें जलाया करता। शायद तुमने अँगरेजी किताबों में पढ़ा होगा कि स्त्रियाँ छैले रसिकों पर ही जान देती हैं, और पढ़कर तुम्हारा सिर फिर गया है। तुम्हें नित्य कोई सनसनी चाहिए, अन्यथा तुम्हारा जीवन शुष्क हो जायगा। तुम भारत की पतिपरायण रमणी नहीं, योरप की आमोद-प्रिय युवती हो। मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है। तुमने अबतक रूप को ही आकर्षण का मूल

समझ रखा है। रूप में आकर्षण है, मानती हूँ। लेकिन उस आकर्षण का नाम मोह है, वह स्थायी नहीं, केवल धोखे की टट्टी है। प्रेम का एक ही मूल मन्त्र है, और वह है सेवा। यह मत समझो कि जो पुरुष तुम्हारे ऊपर भ्रमर की भाँति मँडराया करता है, वह तुमसे प्रेम करता है। उसकी यह रूपासक्ति बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। प्रेम का अंकुर रूप में है, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है। मुझे विश्वास नहीं आता कि विनोद को बाहर से थके माँदे, पसीने में तर आया देखकर तुमने कभी पंखा झला होगा। शायद टेबुल-फैन लगाने की बात भी तुम्हें न सूझी होगी। सच कहना, मेरा अनुमान ठीक है या नहीं। बतलाओ, तुमने कभी उनके पैरों में चप्पी की है? कभी उनके सिर में तेल डाला है? तुम कहोगी, यह खिदमतगारों का काम है, लेडियाँ यह मरज नहीं पालतीं। तुमने उस आनन्द का अनुभव ही नहीं किया। तुम विनोद को अपने अधिकार में रखना चाहती हो, मगर उसका साधन नहीं करतीं। विलासिनी मनोरंजन कर सकती है। चिरसंगिनी नहीं बन सकती। पुरुष के गले से लिपटी हुई भी वह उससे कोसों दूर रहती है। मानती हूँ, रूप-मोह मनुष्य का स्वभाव है, लेकिन रूप से हृदय की प्यास नहीं बुझती, आत्मा की तृप्ति नहीं होती। सेवाभाव रखनेवाली रूप-विहीन स्त्री का पति किसी स्त्री के रूप-जाल में फँस जाय, तो बहुत जल्द निकल भागता है, सेवा का चस्का पाया हुआ मन केवल नखरों और चोचलों पर लट्टू नहीं होता। मगर मैं तो तुम्हें उपदेश करने बैठ गयी, हालाँकि तुम मुझसे दो-चार महीने बड़ी होगी। क्षमा करो बहन, यह उपदेश नहीं हैं। ये बातें हम, तुम, सभी जानते हैं, केवल कभी-कभी भूल जाते हैं। मैंने तुम्हें केवल याद दिला दी है। उपदेश में हृदय नहीं होता, लेकिन मेरा उपदेश मेरे मन की वह व्यथा है, जो तुम्हारी इस नयी विपत्ति से जागरित हुई है।

अच्छा, अब मेरी रामकहानी सुनो। इस एक महीने में यहाँ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गयीं। यह तो मैं पहले ही लिख चुकी हूँ कि आनन्द बाबू और अम्माँजी में कुछ मनमुटाव रहने लगा है। वह आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती थी। दिन में दो-एक बार माँ-बेटे में चोंचें हो जाती थी। एक दिन मेरी छोटी ननदजी मेरे कमरे से एक पुस्तक उठा ले गयीं। उन्हें पढ़ने का

रोग हैं। मने कमरे में किताब न देखी, तो उनसे पूछा। इस जरा-सी बात पर वह भलेमानस बिगड़ गयी और कहने लगी—तुम तो मुझे चोरी लगाती हो। अम्माँ ने उन्हीं का पक्ष लिया और मुझे खूब सुनायी। संयोग की बात, अम्माँ जी मुझे कोस ही रही थीं कि आनन्द बाबू घर में आगये। अम्माँ जी उन्हें देखते ही और जोर से बकने लगीं—बहू की इतनी मजाल! वह तूने सिर चढ़ा रखा है, और कोई बात नहीं। पुस्तक क्या उसके बाप की थी। लड़की लायी, तो उसने कौन गुनाह किया। जरा भी सब्र न हुआ, दौड़ी हुई उसके सिर पर जा पहुँची और उसके हाथों से किताब छीनने लगी।

बहन, मैं यह स्वीकार करती हूँ कि मुझे पुस्तक के लिए इतनी उतावली न करनी चाहिए थी। ननदजी पढ़ चुकने पर आप ही दे जातीं। न भी देती तो उस एक पुस्तक के न पढ़ने से मेरा क्या बिगड़ा जाता था। मगर मेरी शामत कि उनके हाथों से किताब छीनने लगी थी। अगर इस बात पर आनंद बाबू मुझे डाट बताते, तो मुझे जरा भी दुःख न होता मगर उन्होंने उल्टे मेरा ही पक्ष लिया और त्योरियाँ चढ़ाकर बोले—किसी की चीज कोई बिना पूछे लाये ही क्यों? यह तो मामूली शिष्टाचार है।

इतना सुनना था कि अम्माँ के सिर पर भूत-सा सवार हो गया। आनन्द बाबू भी बीच-बीच में फुलझड़ियाँ छोड़ते रहे। और मैं अपने कमरे में बैठी रोती रही कि कहाँ से-कहाँ मैंने किताब माँगी। न अम्माँजी ही ने भोजन किया, न आनन्द बाबू ने ही। और मेरा तो बार बार यही जी चाहता था कि जहर खा लूँ। रात को जब अम्माँजी लेटीं तो, मैं अपने नियम के अनुसार उनके पैर दबाने गयी। मुझे देखते ही उन्होंने दुतकार दिया, लेकिन मैंने उनके पाँव पकड़ लिये। मैं पैताने की ओर तो थी ही। अम्माँजी ने जो पैर से मुझे ढकेला, तो मैं चारपाई के नीचे गिर पड़ी। जमीन पर कई टोकरियाँ पड़ी हुई थीं। मैं उन टोकरियों पर गिरी, तो पीठ और कमर में बडी चोट आयी। मैं चिल्लाना न चाहती थी, मगर न-जाने कैसे मरे मुँह से चीख निकल गयी। आनन्द बाबू अपने कमरे में आ गये थे, मेरी चीख सुनकर दौड़ पड़े और अम्माँजी के द्वार पर आकर बोले—क्यों उसे मारे डालती हो, अम्माँ? अपराधी तो मैं हूँ, उसकी जान क्यों ले रही हो। यह कहते हुए वह कमरे में घुस आये और मेरी

हाथ पकड़कर जबरदस्ती खींच ले गये। मैं बहुत चाहा कि अपना हाथ छुड़ा लूँ पर आनन्द ने न छोड़ा। वास्तव में इस समय उनका हम लोगों के बीच में कूद पड़ना मुझे अच्छा नहीं लगता था। वह न आ जाते, तो मैंने रो-धोकर अम्माँजी को मना लिया होता। मेरे गिर पड़ने से उनका क्रोध कुछ शान्त हो चला था। आनन्द का आ जाना गजब हो गया। अम्माँजी कमरे के बाहर निकल आयीं और मुँह चिढ़ाकर बोलीं—हाँ, देखो, मरहम-पट्टी कर दो, कहीं कुछ टूट-फूट न गया हो?

आनन्द ने आँगन में रुककर कहा—क्या तुम चाहती हो कि तुम किसी को मार डालो और मैं न बोलूँ?

हाँ, मैं तो डायन हूँ, आदमियों को मार डालना ही तो मेरा काम है। ताज्जुब है कि मैंने तुम्हें क्यों न मार डाला!'

'तो पछतावा क्यों हो रहा है वेले की संखिया में तो काम चलता है।'

'अगर तुम्हें इस तरह औरत को सिर चढ़ाकर रखना है, तो कहीं और ले जाकर रखो। इस घर में तुम्हारा निबाह अब न होगा।'

'मैं खुद इसी फिक्र में हूँ, तुम्हारे कहने की जरूरत नहीं।'

'मैं भी समझ लूँगी कि मैंने लड़का ही नहीं जना।'

'मैं भी समझ लूँगा कि मेरी माता मर गयी।'

मैं आनन्द का हाथ पकड़कर जोर से खींच रही थी कि उन्हें वहाँ से हटा ले जाऊँ, मगर वह बार-बार मेरा हाथ झटक देते थे। आखिर जब अम्माँजी अपने कमरे में चली गयीं, तो वह अपने कमरे में आये, और सिर थामकर बैठ गये।

मैंने कहा—यह तुम्हें क्या सूझी?

आनन्द ने भूमि की ओर ताकते हुए कहा—अम्माँ ने आज नोटिस दे दिया।

'तुम खुद ही उलझ पड़े, वह बेचारी तो कुछ बोली ही नहीं।'

'मैं ही उलझ पड़ा!'

'और क्या। मैंने तो तुमसे फरियाद न की थी।'

'पकड़ न लाता, तो अम्माँ ने तुम्हें अधमरा कर दिया होता। तुम उनका क्रोध नहीं जानती।'

'यह तुम्हारा भ्रम है। उन्होंने मुझे मारा नहीं, अपना पैर छुड़ा रही थीं। मैं पट्टी पर बैठी थी जरा-सा धक्का खाकर गिर पड़ी। अम्माँजी मुझे उठाने ही जा रही थीं कि तुम पहुँच गये।'

'नानी के आगे ननिहाल का बखान न करो, मैं अम्माँ को खूब जानता हूँ। मैं कल ही दूसरा घर ले लूँगा, यह मेरा निश्चय है। कहीं-न-कहीं नौकरी मिल जायगी। ये लोग समझते हैं कि मैं इनकी रोटियों पर पड़ा हुआ हूँ। इसीसे यह मिजाज है!'

मैं जितना ही उनको समझाती थी, उतना ही वह और बफरते थे। आखिर मैंने झुँझलाकर कहा—तो तुम अकेले जाकर दूसरे घर में रहो। मैं न जाऊँगी। मुझे यहीं पड़ी रहने दो।

आनन्द ने मेरी ओर कठोर नेत्रों से देखकर कहा—यही लात खाना अच्छा लगता है?

'हाँ मुझे यही अच्छा लगता है।'

'तो तुम खाओ, मैं नहीं नहीं खाना चाहता। यही फायदा थोड़ा है कि तुम्हारी दुर्दशा आँखों से न देखूँगा, न पीड़ा होगी।'

'अलग रहने लगोगे, तो दुनिया क्या कहेगी।'

'इसकी परवाह नहीं। दुनिया अन्धी है।'

'लोग यही कहेंगे कि स्त्री ने यह माया फैलायी है।'

'इनकी भी परवा नहीं, इस भय से अपना जीवन संकट में नहीं डालना चाहता।'

मैंने रोकर कहा—तुम मुझे छोड़ दोगे, तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं है।

बहन, और किसी समय इस प्रेम-आग्रह से भरे हुए शब्दों ने न-जाने क्या कर दिया होता। ऐसे ही आग्रहों पर रियासतें मिटती हैं, नाते टूटते हैं, रमणी के पास इससे बढ़कर दूसरा अस्त्र नहीं। मैंने आनन्द के गले में बाहें डाल दी थीं और उनके कन्धे पर सिर रखकर रो रही थी। मगर इस समय आनन्द बाबू इतने कठोर हो गये थे कि यह आग्रह भी उनपर कुछ असर न कर सका। जिस माता ने जन्म दिया, उसके प्रति इतना रोष! हम अपनी ही

माता की एक कड़ी बात नहीं सह सकते, इस आत्माभिमान का कोई ठिकाना है। यही वे आशाएँ हैं, जिनपर माता ने अपने जीवन के सारे सुख-विलास अर्पण कर दिये थे, दिन का चैन और रात की नींद अपने ऊपर हराम कर ली थी! पुत्र पर माता का इतना भी अधिकार नहीं!

आनन्द ने उसी अविचलित कठोरता से कहा—अगर मुहब्बत का यही अर्थ है कि मैं इस घर में तुम्हारी दुर्गति कराऊँ, तो मुझे वह मुहब्बत नहीं है।

प्रातःकाल वह उठकर बाहर जाते हुए मुझसे बोले—मैं जाकर घर ठीक किये आता हूँ। ताँगा भी लेता जाऊँगा, तैयार रहना।

मैंने दरवाजा रोककर कहा—क्या अभी तक क्रोध शान्त नहीं हुआ?

'क्रोध की बात नहीं, केवल दूसरों के सिर से अपना बोझ हटा लेने की बात है।'

'यह अच्छा काम नहीं कर रहे हो। सोचो, माता जी को कितना दुःख होगा। ससुरजी से भी तुमने कुछ पूछा?'

'उनसे पूछने की कोई जरूरत नहीं। कर्ता-धर्ता जो कुछ हैं, वह अम्माँ हैं। दादाजी मिट्टी के लोंदे हैं।'

'घर के स्वामी तो हैं!'

'तुम्हें चलना है या नहीं, साफ कहो।'

'मैं तो अभी न जाऊँगी।'

'अच्छी बात है, लात खाओ।'

मैं कुछ नहीं बोली। आनन्द ने एक क्षण के बाद फिर कहा—तुम्हारे पास कुछ रुपये हों, तो मुझे दो।

मेरे पास रुपये थे, मगर मैंने इनकार कर दिया। मैंने समझा, शायद असमंजस में पड़कर वह रुक जायँ। मगर उन्होंने बात मन में ठान ली थी। खिन्न होकर बोले—अच्छी बात है, तुम्हारे रुपयों के बगैर भी मेरा काम चल जायगा। तुम्हें यह विशाल भवन, यह सुख-भोग, ये नौकर-चाकर, ये ठाट-बाट मुबारक हों। मेरे साथ क्यों भूखों मरोगी! वहाँ यह सुख कहाँ! मेरे प्रेम का मूल्य ही क्या?

यह कहते हुए वह चले गये। बहन, क्या कहूँ, उस समय अपनी बेबसी

पर कितना दुःख हो रहा था। बस, यही जी में आता था कि यमराज आकर मुझे उठा ले जायँ। मुझ कुलकलंकिनी के कारण माता और पुत्र में यह वैमनस्य हो रहा था। जाकर अम्माँजी के पैरों पर गिर पड़ी और रो-रोकर आनन्द बाबू के चले जाने का समाचार कहा। मगर माताजी का हृदय जरा भी न पसीजा। मुझे मालूम हुआ कि माता भी इतनी वज्रहृदया हो सकती है। फिर आनन्द बाबू का हृदय क्यों न कठोर हो। अपनी माता ही के पुत्र तो हैं।

माताजी ने निर्दयता से कहा—तुम उसके साथ क्यों न चली गयी? जब वह कहता था, तब चले जाना चाहिए था। कौन जाने, यहाँ मैं किसी दिन तुम्हें विष दे दूँ।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा—अम्माँजी, उन्हें बुला भेजिए, आपके पैरों पड़ती हूँ। नहीं तो कहीं चले जायँगे।

अम्माँ उसी निर्दयता से बोली—जाय चाहे रहे, वह मेरा कौन है। अब तो जो कुछ हो, तुम हो; मुझे कौन गिनता है। आज जरा-सी बात पर यह इतना झल्ला रहा है, और मेरी अम्माँजी ने मुझे सैकड़ों ही बार पीटा होगा। मैं भी छोकरी न थी, तुम्हारी ही उम्र की थी, पर मजाल न थी कि तुम्हारे दादाजी से किसी के सामने बोल सकूँ। कच्चा ही खा जाती! मार खाकर रात-रात-भर रोती रहती थी, पर इस तरह घर छोड़कर कोई न भागता था। आज-कल के ही लौंडे प्रेम करना नहीं जानते, हम भी प्रेम करते थे, पर इस तरह नहीं कि माँ-बाप, छोटे-बड़े किसी को कुछ न समझें।

यह कहती हुई माताजी पूजा करने चली गयी। मैं अपने कमरे में आकर नसीबों को रोने लगी। यही शंका होती थी कि आनन्द किसी तरफ की राह न लें। बार-बार जी मसोसता था कि रुपये क्यों न दे दिये। बेचारे इधर-उधर मारे-मारे फिरते होंगे। अभी हाथ-मुँह भी नहीं धोया, जल-पान भी नहीं किया। वक्त पर जल-पान न करेंगे, तो जुकाम होता है, हरारत भी हो जाती है। महरी से कहा—जरा जाकर देख तो, बाबूजी कमरे में हैं। उसने आकर कहा—कमरे में तो कोई नहीं है, खूँटी पर कपड़े भी नहीं हैं।

मैंने पूछा—क्या और भी कभी इस तरह अम्माँजी से रूठे हैं! महरी

बोली—कभी नहीं बहू, ऐसा सीधा तो मैंने लड़का ही नहीं देखा। मालकिन के सामने कभी सिर नहीं उठाते थे। आज न-जाने क्यों चले गये।

मुझे आशा थी कि दोपहर को भोजन के समय वह आ जायँगे। लेकिन दोपहर की कौन कहे, शाम भी हो गयी और उनका पता नहीं। सारी रात जागती रही। द्वार की ओर कान लगे हुए थे। मगर रात भी उसी तरह गुजर गयी। बहन, इस प्रकार पूरे तीन दिन बीत गये। उस वक्त तुम मुझे देखतीं, तो पहचान न सकती। रोते-रोते आँखें लाल हो गयी थीं। इन तीन दिनों में एक पल भी नहीं सोयी, और भूख का तो जिक्र ही क्या, पानी तक न पिया। प्यास ही न लगती थी। मालूम होता था, देह में प्राण ही नहीं हैं। सारे घर में मातम-सा छाया हुआ था। अम्माँजी भोजन करने दोनों वक्त जाती थी, पर मुँह जूठा करके चली आती थी। दोनों ननदों की हँसी और चुहल भी गायब हो गयी थी। छोटी ननदजी तो मुझसे अपना अपराध क्षमा कराने आयीं।

चौथे दिन सबेरे रसोइयें ने आकर मुझसे कहा—बाबूजी तो अभी मुझे दशास्वमेध घाट पर मिले थे। मैं उन्हें देखते ही लपककर उनके पास जा पहुँचा और बोला—भैया, घर क्यों नहीं चलते। सब लोग घबड़ाये हुए हैं। बहूजी ने तीन दिन से पानी तक नहीं पिया। उनका हाल बहुत बुरा है। यह सुनकर वह कुछ सोच में पड़ गये, फिर बोले—बहूजी ने क्यों दाना-पानी छोड़ रखा है? जाकर कह देना, जिस आराम के लिए उस घर को न छोड़ सकी, उससे क्या इतनी जल्द जी भर गया।

अम्माँजी उसी समय आँगन में आगयी। महराज की बातों की भनक कानों में पड़ गयी बोलीं—क्या है अलगू, क्या आनन्द मिला था?

महराज—हाँ, बड़ी बहू, अभी दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैंने कहा—घर क्यों नहीं चलते, तो बोले—उस घर में मेरा कौन बैठा हुआ है।

अम्माँ—कहा नहीं, और कोई अपना नहीं है, तो स्त्री तो अपनी है, उसकी जान क्यों लेते हो।

महराज—मैंने बहुत समझाया बड़ी बहू, पर वह टस-से-मस न हुए।

अम्माँ—करता क्या है?

महराज—यह तो मैंने नहीं पूछा, पर चेहरा बहुत उतरा हुआ था।

अम्माँ—ज्यों-ज्यों तुम बूढ़े होते जाते हो, शायद सठियाते जाते हो। इतना तो पूछा होता, कहाँ रहते हो, कहाँ खाते-पीते हो। तुम्हें चाहिए था, उसका हाथ पकड़ लेते और खींचकर ले आते। मगर तुम नमकहरामों को अपने हलवे-मांडे से मतलब, चाहे कोई मरे या जिये। दोनों वक्त बढ़-बढ़कर हाथ मारते हो और मूछों पर ताव देते हो। तुम्हें इसकी क्या परवाह है कि घर में दूसरा कोई खाता है या नहीं। मैं तो परवाह न करती, वह आये या न आये। मेरा धर्म पालना-पोसना था, पाल-पोस दिया। अब जहाँ चाहे रहे। पर इस बहू को क्या करूँ, जो रो-रोकर प्राण दिये डालती है। तुम्हें ईश्वर ने आँखें दी हैं, उसकी हालत देख रहे हो। क्या मुँह से इतना भी न फूटा कि बहू अन्न-जल त्याग किये पड़ी हुई है।

महराज—बहूजी, नारायण जानते हैं, मैंने बहुत तरह समझाया, मगर वह तो जैसे भागे जाते थे। फिर मैं क्या करता।

अम्माँ—समझाया नहीं, अपना सिर। तुम समझाते और वह योंही चला जाता। क्या सारी लच्छेदार बातें मुझीसे करने को हैं? इस बहू को मैं क्या कहूँ। मेरे पति ने मुझसे इतनी बेरुखी की होती, तो मैं उसकी सूरत न देखती। पर, इस पर उसने न-जाने कौन सा जादू कर दिया है। ऐसे उदासियों को तो कुलटा चाहिए, जो उन्हें तिगनी का नाच नचाये।

कोई आध घंटे बाद कहार ने आकर कहा—बाबूजी आकर कमरे में बैठे हुए हैं।

मेरा कलेजा धक्-धक् करने लगा। जी चाहता था कि जाकर पकड़ लाऊँ, पर अम्माँजी का हृदय सचमुच वज्र है। बोलीं—जाकर कह दे, यहाँ उनका कौन बैठा हुआ है, जो आकर बैठे हैं।

मैंने हाथ जोड़कर कहा—अम्माँजी, उन्हें अन्दर बुला लीजिए, कहीं फिर न चले जायँ।

अम्माँ—यहाँ उसका कौन बैठा हुआ है, जो आयेगा। मैं तो अन्दर कदम न रखने दूँगी।

अम्माँजी तो बिगड़ रही थी, उधर छोटी ननदजी जाकर आनन्द बाबू को लायीं। सचमुच उनका चेहरा उतरा हुआ था, जैसे महीनों का मरीज हो। ननदजी उन्हें इस तरह खींचे लाती थी, जैसे कोई लड़की ससुराल जा रही हो। अम्माँजी ने मुसकिराकर कहा—इसे यहाँ क्यों लायी ? यहाँ इसका कौन बैठा हुआ है ?

आनन्द सिर झुकाये अपराधियों की भाँति खड़े थे। जबान न खुलती थी! अम्माँजी ने फिर पूछा—चार दिन कहाँ थे।

'कहीं नहीं, यहीं तो था।'

'खूब चैन से रहे होगे।'

'जी हाँ, कोई तकलीफ न थी।'

'वह तो सूरत ही से मालूम हो रहा है।'

ननदजी जल-पान के लिए मिठाई लायीं। आनन्द मिठाई खाते इस तरह झेंप रहे थे मानों ससुराल आये हों ! फिर माताजी उन्हें लिए हुए अपने कमरे में चली गयीं। वहाँ आध घन्टे तक माता और पुत्र में बातें होती रहीं। मैं कान लगाये हुए थी, पर साफ कुछ न सुनायी देता था। हाँ, ऐसा मालूम होता था कि कभी माताजी रोती हैं और कभी आनन्द। माताजी जब पूजा करने निकलीं, तो उनकी आँखें लाल थीं। आनन्द वहाँ से निकले, तो सीधे मेरे कमरे में आये। मैं उन्हे आते देख चटपट मुँह ढाँपकर चारपाई पर पड़ रही, मानो बेखबर सो रही हूँ। वह कमरे में आये, मुझे चारपाई पर पड़े देखा, मेरे समीप आकर एक बार धीरे से पुकारा और लौट पड़े। मुझे जगाने की हिम्मत न पड़ी। मुझे जो कष्ट हो रहा था, इसका एक मात्र कारण अपने को समझकर मन-ही-मन दुखी हो रहे थे। मैंने अनुमान किया था, वह मुझे उठायेंगे, मैं मान करूँगी, वह मनायेंगे; मगर सारे मंसूबे खाक में मिल गये। उन्हे लौटते देखकर मुझसे न रहा ? मैं हकबकाकर उठ बैठी और चारपाई से नीचे उतरने लगी, मगर न-जाने क्यों मेरे पैर लड़खड़ाये और ऐसा जान पड़ा कि मैं गिरी जाती हूँ सहसा आनन्द ने पीछे फिरकर मुझे सँभाल लिया और बोले—लेट जाओ, लेट जाओ; मैं कुरसी पर बैठा जाता हूँ। यह तुमने अपनी क्या गति बना रखी है ?

मैंने अपने को सँभालकर कहा—मैं तो बहुत अच्छी तरह हूँ। आपने कैसे कष्ट किया ?

'पहले तुम कुछ भोजन कर लो तो पीछे मैं कुछ बात करूँगा।'

'मेरे भोजन की आपको क्या फिक्र पड़ी है। आप तो सैर-सपाटे कर रहे हैं!'

'कैसे सैर-सपाटे मैंने किये हैं, मेरा दिल ही जानता है। मगर बातें पीछे करूँगा, अभी मुँह-हाथ धोकर खा लो। चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला। राम! राम!!'

'यह आपसे किसने कहा कि मैंने चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला। जब आपको मेरी परवा न थी, तो मैं क्यों दाना-पानी छोड़ती ?'

'वह तो सूरत ही कहे देती है। फूल से....मुरझा गये।'

'जरा अपनी सूरत जाकर आईने में देखिए।'

'मैं पहले ही कौन बड़ा सुन्दर था ठूँठ को पानी मिले तो क्या, और न मिले तो क्या। मैं न जानता था कि तुम यह अनशन व्रत ले लोगी, नहीं तो ईश्वर जानता है, अम्माँ मार-मारकर भगातीं, तो भी न जाता।'

मैंने तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा—तो क्या सचमुच तुम समझे थे कि मैं यहाँ केवल आराम के विचार से रह गयी ?

आनन्द ने जल्दी से अपनी भूल सुधारी—नहीं,नहीं प्रिये, मैं इतना गधा नहीं हूँ, पर यह मैं कदापि न समझता था कि तुम बिलकुल दाना-पानी छोड़ दोगी। बड़ी कुशल हुई कि मुझे महराज मिल गया, नहीं तो तुम प्राण ही दे देतीं। अब ऐसी भूल कभी न होगी। कान पकड़ता हूँ। अम्माँजी तुम्हारा बखान कर-करके रोती रहीं।

मैंने प्रसन्न होकर कहा—तब तो मेरी तपस्या सफल हो गयी।

'थोड़ा-सा दूध पी लो, तो बातें हों। जाने कितनी बातें करनी हैं।'

'पी लूँगी, ऐसी क्या जल्दी है।'

'जब तक तुम कुछ खा न लोगी, मैं यही समझूँगा कि तुमने मेरा अपराध क्षमा नहीं किया।'

'मैं भोजन तभी करूँगी, जब तुम यह प्रतिज्ञा करो कि फिर कभी इस तरह रूठकर न जाओगे।'

'मैं सच्चे दिल से यह प्रतिज्ञा करता हूँ ।'

बहन, तीन दिन कष्ट तो हुआ, पर मुझे उसके लिए जरा भी पछतावा नहीं है। इन तीन दिनों के अनशन ने दिलों में जो सफाई कर दी, वह किसी दूसरी विधि से कदापि न होती। अब मुझे विश्वास है कि हमारा जीवन शांति से व्यतीत होगा। अपने समाचार शीघ्र, अति शीघ्र लिखना।

तुम्हारी,
चन्दा

(१३)

देहली
२०-२-२६

प्यारी बहन,

तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे तुम्हारे ऊपर दया आयी। तुम मुझे कितना ही बुरा कहो, पर मैं इतनी दुर्गति किसी तरह न सह सकती, किसी तरह नहीं। मैंने या तो अपने प्राण दे दिये होते, या फिर उस सास का मुँह न देखती। तुम्हारा सीधापन, तुम्हारी सहनशीलता, तुम्हारी सासभक्ति तुम्हें मुबारक हो। मैं तो तुरन्त आनन्द के साथ चली जाती और चाहे भीख ही क्यों न माँगनी पड़ती, पर उस घर में कदम न रखती। मुझे तुम्हारे ऊपर दया ही नहीं आती, क्रोध भी आता है, इसलिए कि तुममें स्वाभिमान नहीं है। तुम-जैसी स्त्रियों ने सासों और पुरुषों का मिजाज आसमान पर चढ़ा दिया है। 'जहन्नुम में जाय ऐसा घर—जहाँ अपनी इज्जत नहीं।' मैं पतिप्रेम भी इन दामों न लूँ। तुम्हे उन्नीसवीं सदी में जन्म लेना चाहिए था। उस वक्त तुम्हारे गुणों की प्रशंसा होती। इस स्वाधीनता और नारी-स्वत्व के नवयुग में तुम केवल प्राचीन इतिहास हो। यह सीता और दमयन्ती का युग नहीं। पुरुषों ने बहुत दिनों तक राज्य किया। अब स्त्री-जाति का राज्य होगा। मगर अब तुम्हें अधिक न कोसूँगी।

अब मेरा हाल सुनो। मैंने सोचा था, पत्रों में अपनी बीमारी का समाचार छपवा दूँगी। लेकिन फिर खयाल आया, यह समाचार छपते ही मित्रों का ताँता लग जायगा। कोई मिजाज पूछने आयेगा कोई देखने आयेगा। फिर

मैं कोई रानी तो हूँ नहीं, जिसकी बीमारी का बुलेटिन रोजाना छापा जाय। न-जाने लोगों के दिल में कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हों। यह सोचकर मैंने पत्र में छपवाने का विचार छोड़ दिया। दिन-भर मेरे चित्त की क्या दशा रही, लिख नहीं सकती। कभी मन में आता, जहर खा लूँ; कभी सोचती, कहीं उड़ जाऊँ। विनोद के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। अब मुझे ऐसी कितनी ही बातें याद आने लगीं, जब मैंने विनोद के प्रति उदासीनता का भाव दिखाया था। मैं उनसे सब कुछ लेना चाहती थी, देना कुछ न चाहती थी। मैं चाहती थी कि वह आठों पहर भ्रमर की भाँति मुझपर मँड़राते रहें, पतंग की भाँति मुझे घेरे रहें। उन्हें किताबों और पत्रों में मग्न बैठे देखकर मुझे झुँझलाहट होने लगती थी। मेरा अधिकांश समय अपने ही बनाव-सिंगार में कटता था, उनके विषय में मुझे कोई चिन्ता ही न होती थी। अब मुझे मालूम हुआ कि सेवा का महत्त्व रूप से कहीं अधिक है। रूप मन को मुग्ध कर सकता है, पर आत्मा को आनन्द पहुँचानेवाली कोई दूसरी ही वस्तु है।

इस तरह एक हफ्ता गुजर गया। मैं प्रातःकाल मैके जाने की तैयारियाँ कर रही थी—वह घर फाड़े खाता था—कि सहसा डाकिये ने मुझे एक पत्र लाकर दिया। मेरा हृदय धक्-धक् करने लगा। मैंने काँपते हुए हाथों से पत्र लिया, पर सिरनामे पर विनोद की परिचित हस्तलिपि न थी, लिपि किसी स्त्री की थी, इसमें सन्देह न था, पर मैं उससे सर्वथा अपरिचित थी। मैंने तुरन्त पत्र खोला और नीचे की तरफ देखा, तो चौंक पड़ी—वह कुसुम का पत्र था। मैंने एक ही साँस में सारा पत्र पढ़ लिया। लिखा था—'बहन, विनोद बाबू तीन दिन यहाँ रहकर बम्बई चले गये। शायद विलायत जाना चाहते हैं। तीन-चार दिन बम्बई रहेंगे। मैंने बहुत चाहा कि उन्हें देहली वापस कर दूँ, पर वह किसी तरह न राजी हुए। तुम उन्हें नीचे लिखे पते से तार दे दो। मैंने उनसे यह पता पूछ लिया। उन्होंने मुझे ताकीद कर दी थी कि इस पते को गुप्त रखना, लेकिन तुमसे क्या परदा। तुम तुरन्त तार दे दो। शायद रुक जायँ। वह बात क्या हुई! मुझसे तो विनोद ने बहुत पूछने पर भी नहीं बताया, पर वह दुखी बहुत थे। ऐसे आदमी को भी तुम अपना न बना

सकीं, इसका मुझे आश्चर्य है; पर मुझे इसकी पहले ही शंका थी। रूप और गर्व में दीपक और प्रकाश का सम्बन्ध है। गर्व रूप का प्रकाश है।'........

मैंने पत्र रख दिया और उसी वक्त विनोद के नाम तार भेज दिया कि बहुत बीमार हूँ, तुरन्त आओ। मुझे आशा थी कि विनोद तार द्वारा जवाब देंगे, लेकिन सारा दिन गुजर गया और कोई जवाब न आया। बँगले के सामने से कोई साइकिल निकलती, तो मैं तुरन्त उसकी ओर ताकने लगती थी कि शायद तार का चपरासी हो। रात को भी मैं तार का इन्तजार करती रही। तब मैंने अपने मन को इस विचार से शांत किया कि विनोद आरहे हैं, इसलिए तार भेजने की जरूरत न समझी।

अब मेरे मन में फिर शंकाएँ उठने लगीं। विनोद कुसुम के पास क्यों गये, कहीं कुसुम से उन्हें प्रेम तो नहीं है? कहीं उसी प्रेम के कारण तो वह मुझसे विरक्त नहीं होगये? कुसुम कोई कौशल तो नहीं कर रही है? उसे विनोद को अपने घर ठहराने का अधिकार ही क्या था। इस विचार से मेरा मन बहुत क्षुब्ध हो उठा। कुसुम पर क्रोध आने लगा। अवश्य दोनों में बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार होता रहा होगा। मैंने फिर कुसुम का पत्र पढ़ा और अबकी उसके प्रत्येक शब्द में मेरे लिए कुछ सोचने की सामग्री रखी हुई थी। निश्चय किया कि कुसुम को एक पत्र लिखकर खूब कोसूँ। आधा पत्र लिख भी डाला, पर उसे फाड़ डाला, उसी वक्त विनोद को एक पत्र लिखा। तुमसे कभी भेंट होगी, तो वह पत्र दिखलाऊँगी; जो कुछ मुँह में आया, बक डाला। लेकिन इस पत्र की भी वही दशा हुई, जो कुसुम के पत्र की हुई थी। लिखने के बाद मालूम हुआ कि वह किसी विक्षिप्त हृदय की बकवाद है। मेरे मन में यही बात बैठती जाती थी कि वह कुसुम के पास हैं। वही छलिनी उनपर अपना जादू चला रही है। यह दिन भी बीत गया। डाकिया कई बार आया, पर मैंने उसकी ओर आँख भी नहीं उठायी। चन्दा, मैं नहीं कह सकती, मेरा हृदय कितना तिलमिला रहा था। अगर कुसुम इस समय मुझे मिल जाती, तो मैं न-जाने क्या कर डालती।

रात को लेटे लेटे खयाल आया, कहीं वह योरप न चले गये हों। जी बेचैन हो उठा। सिर में ऐसा चक्कर आने लगा, मानों पानी में डूबी जाती

हूँ। अगर वह योरप चले गये, तो फिर कोई आशा नहीं—मैं उसी वक्त उठी और घड़ी पर नजर डाली। दो बजे थे। नौकर को जगाया और तार-घर जा पहुँची। बाबूजी कुरसी पर लेटे-लेटे सो रहे थे। बड़ी मुश्किल से उनकी नींद खुली। मैंने रसीदी तार दिया। जब बाबूजी तार दे चुके, तो मैंने पूछा—इसका जवाब कब तक आयेगा?

बाबू ने कहा—यह प्रश्न किसी ज्योतिषी से कीजिए। कौन जानता है, वह कब जवाब दें। तार का चपरासी जबरदस्ती तो उनसे जवाब नहीं लिखा सकता। अगर कोई और कारण न हो, तो ८-९ बजे तक जवाब आ जाना चाहिए।

घबराहट में आदमी की बुद्धि पलायन कर जाती है। ऐसा निरर्थक प्रश्न करके मैं स्वयं लज्जित हो गयी। बाबूजी ने अपने मन में मुझे कितना मूर्ख समझा होगा; खैर, मैं वहीं एक बेंच पर बैठ गयी, और तुम्हें विश्वास न आयेगा, नौ बजे तक वहीं बैठी रही। सोचो, कितने घंटे हुए। पूरे सात घंटे। सैकड़ों आदमी आये और गये, पर मैं वहाँ जमा बैठी रही। जब तार का डमी खटकता, मेरे हृदय में धड़कन होने लगती। लेकिन इस भय से कि बाबूजी झल्ला न उठें, कुछ पूछने का साहस न करती थी। जब दफतर की घड़ी में नौ बजे, तो मैंने डरते-डरते बाबू से पूछा—क्या अभी तक जवाब नहीं आया?

बाबू ने कहा—आप तो यहीं बैठी हैं, जवाब आता तो क्या मैं खा डालता? मैंने बेहयाई करके फिर पूछा—तो क्या अब न आवेगा? बाबू ने मुँह फेरकर कहा—और दो-चार घंटे बैठी रहिए।

बहन, यह वाग्बाण शर के समान हृदय में लगा। आँखें भर आयीं। लेकिन फिर भी मैं वहाँ से टली नहीं। अब भी आशा बँधी हुई थी कि शायद जवाब आता हो। जब दो घंटे गुजर गये, तब मैं निराश हो गयी। हाय! विनोद ने मुझे कहीं का न रखा। मैं घर चली, तो आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। रास्ता न सूझता था।

सहसा पीछे से एक मोटर का हार्न सुनायी दिया। मैं रास्ते से हट गयी। उस वक्त मन में आया, इसी मोटर के नीचे लेट जाऊँ और जीवन का अन्त कर दूँ। मैंने आँखें पोंछकर मोटर की ओर देखा भुवन बैठा हुआ था, और उसकी बगल में बैठी हुई थी कुसुम! ऐसा जान पड़ा, मानो अग्नि की ज्वाला

मेरे पैरों से समाकर सिर से निकल गयी। मैं उन दोनों की निगाहों से बचना चाहती थी, लेकिन मोटर रुक गयी और कुसुम उतर कर मेरे गले से लिपट गयी। भुवन चुपचाप मोटर में बैठा रहा, मानो मुझे जानता ही नहीं। निर्दयी, धूर्त !

कुसुम ने पूछा—मैं तो तुम्हारे पास जाती थी, बहन ! वहाँ से कोई खबर आयी ? मैंने बात टालने के लिए कहा—तुम कब आयीं ?

भुवन के सामने मैं अपनी विपत्ति-कथा न कहना चाहती थी।

कुसुम—आओ, कार में बैठ जाओ।

'नहीं, मैं चली जाऊँगी। अवकाश मिले, तो एक बार चली आना।'

कुसुम ने मुझसे आग्रह न किया। कार में बैठकर चल दी। मैं खड़ी ताकती रह गयी। यह वही कुसुम है या कोई और ? कितना बड़ा अन्तर हो गया है ?

मैं घर चली, तो सोचने लगी—भुवन से इसकी जान-पहचान कैसे हुई ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि विनोद ने इसे मेरी टोह लेने को भेजा हो ! भुवन से मेरे विषय में कुछ पूछने तो नहीं आयी है ?

मैं घर पहुँचकर बैठी ही थी कि कुसुम आ पहुँची। अब की वह मोटर में अकेली न थी—विनोद बैठे हुए थे। मैं उन्हें देखकर टक गयी ! चाहिए तो यह था कि मैं दौड़कर उनका हाथ पकड़ लेती और मोटर से उतार लाती, लेकिन मैं जगह से हिली तक नहीं। मूर्ति की भांति अचल बैठी रही। मेरी मानिनी प्रकृति अपना उद्दण्ड-स्वरूप दिखाने के लिए विकल हो उठी। एक क्षण में कुसुम ने विनोद को उतारा और उनका हाथ पकड़े हुए ले आयी। उस वक्त मैंने देखा कि विनोद का मुख बिलकुल पीला पड़ गया है और वह इतने अशक्त हो गये हैं कि अपने सहारे खड़े भी नहीं रह सकते, मैंने घबराकर पूछा, क्यों तुम्हारा यह क्या हाल है ?

कुसुम ने कहा—हाल पीछे पूछना, जरा इनकी चारपाई चटपट बिछा दो और थोड़ा-सा दूध मँगवा लो।

मैंने तुरन्त चारपाई बिछायी और विनोद को उस पर लेटा दिया। दूध तो रखा ही हुआ था। कुसुम इस वक्त मेरी स्वामिनी बनी हुई थी। मैं उसके

इशारे पर नाच रही थी। चन्दा, उस वक्त मुझे ज्ञात हुआ कि कुसुम पर विनोद को जितना विश्वास है, वह मुझपर नहीं। मैं इस योग्य हूँ ही नहीं। मेरा दिल सैकड़ों प्रश्न पूछने के लिये तड़फड़ा रहा था, लेकिन कुसुम एक पल के लिए भी विनोद के पास से न टलती थी। मैं इतनी मूर्ख हूँ कि अवसर पाने पर इस दशा में भी मैं विनोद से प्रश्नों का ताँता बाँध देती।

विनोद को जब नींद आगयी, तो मैंने आँखों में आँसू भरकर कुसुम से पूछा—बहन, इन्हें क्या शिकायत है? मैंने तार भेजा। उसका जवाब नहीं आया। रात दो बजे एक जरूरी और जबानी तार भेजा। दस बजे तक तार-घर में बैठी जवाब की राह देखती रही। वहीं से लौट रही थी, जब तुम रास्ते में मिलीं। यह तुम्हें कहाँ मिल गये?

कुसुम मेरा हाथ पकड़कर दूसरे कमरे में ले गयी और बोली—पहले तुम यह बताओ कि भुवन का क्या मुआमला था? देखो, साफ कहना।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा—कुसुम, तुम यह प्रश्न पूछकर मेरे साथ अन्याय कर रही हो। तुम्हें खुद समझ लेना चाहिये था कि इस बात में कोई सार नहीं है। विनोद को केवल भ्रम हो गया।

'बिना किसी कारण के?'

'हाँ, मेरी समझ में तो कोई कारण न था।'

'मैं इसे नहीं मानती। यह क्यों नहीं कहतीं कि विनोद को जलाने, चिढ़ाने और जगाने के लिये तुमने यह स्वाँग रचा था।'

कुसुन की सूझ पर चकित होकर मैंने कहा—'वह तो केवल दिल्लगी थी।'

'तुम्हारे लिये दिल्लगी थी, विनोद के लिए वज्रघात था। तुमने इतने दिनों उनके साथ रहकर भी उन्हें नहीं समझा! तुम्हें अपने बनाव-सँवार के आगे उन्हें समझने की कहाँ फुरसत। कदाचित तुम समझती हो कि तुम्हारी यह मोहनी मूर्ति ही सब कुछ है। मैं कहती हूँ, इसका मूल्य दो-चार महीनों के लिए हो सकता है। स्थायी वस्तु कुछ और ही है।'

मैंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा—विनोद को मुझसे कुछ पूछना तो चाहिए था?

कुसुम ने हँसकर कहा—यही तो वह नहीं कर सकते। तुमसे ऐसी बातें

पूछना उनके लिए असम्भव है। वह उन प्राणियों में हैं, जो स्त्री की आँखों से गिरकर जीते नहीं रह सकते। स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी वह किसी प्रकार का धार्मिक या नैतिक बन्धन नहीं रखना चाहते। वह प्रत्येक प्राणी के लिये पूर्ण स्वाधीनता के समर्थक हैं। मन और इच्छा के सिवा वह और कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते। इस विषय पर मेरी उनसे खूब बातें हुई हैं। खैर—मेरा पता उन्हें मालूम था ही, यहाँ से सीधे मेरे पास पहुँचे। मैं समझ गयी कि आपस में पटी नहीं। मुझे तुम्हीं पर सन्देह हुआ।

मैंने पूछा—क्यों? मुझपर तुम्हें क्यों सन्देह हुआ?

'इसलिये कि मैं तुम्हें पहले देख चुकी थी।'

'अब तो तुम्हें मुझपर सन्देह नहीं है?'

'नहीं, मगर इसका कारण तुम्हारा संयम नहीं, परम्परा है। मैं इस समय स्पष्ट बातें कर रही हूँ, इसके लिए क्षमा करना।'

'तुम समझती हो कि मुझे विनोद से प्रेम नहीं है!'

'नहीं, विनोद से तुम्हें जितना प्रेम है, उससे अधिक अपने-आपसे है। कम-से-कम दस दिन पहले यही बात थी। अन्यथा यह नौबत ही क्यों आती। विनोद यहाँ से सीधे मेरे पास गये और दो-तीन दिन रहकर बम्बई चले गये। मैंने बहुत पूछा, पर कुछ बतलाया नहीं। वहाँ उन्होंने एक दिन विष खा लिया।'

मेरे चेहरे का रंग उड़ गया।

'बम्बई पहुँचते ही उन्होंने मेरे पास एक खत लिखा था। उसमें यहाँ की सारी बातें लिखी थीं और अन्त में लिखा था—'मैं इस जीवन से तंग आ गया हूँ, अब मेरे लिये मौत के सिवा और कोई उपाय नही है।'

मैंने एक ठंढी साँस ली।

'मैं यह पत्र पाकर घबरा गयी और उसी वक्त बम्बई रवाना हो गयी। जब वहाँ पहुँची, तो विनोद को मरणासन्न पाया। जीवन की कोई आशा नहीं थी। मेरे एक सम्बन्धी वहाँ डॉक्टरी करते हैं। उन्हें लाकर दिखाया तो वह बोले—इन्होंने जहर खा लिया है। तुरन्त दवा दी गयी। तीन दिन तक डॉक्टर साहब ने दिन-को-दिन और रात को रात न समझा, और मैं तो एक

क्षण के लिए विनोद के पास से न हटी। बारे तीसरे दिन इनकी आँखें खुलीं। तुम्हारा पहला तार मुझे मिला था, पर उसका जवाब देने की किसे फुरसत थी। तीन दिन और बम्बई रहना पड़ा। विनोद इतने कमजोर हो गये थे कि इतना लम्बा सफर करना उनके लिए असम्भव था। चौथे दिन मैंने जब उनसे यहाँ आने का प्रस्ताव किया, तो बोले—मैं अब वहाँ न जाऊँगा। जब मैंने बहुत समझाया, तब इस शर्त पर राजो हुए कि मैं पहले आकर यहाँ की परिस्थिति देख जाऊँ।'

मेरे मुँह से निकला—'हा! ईश्वर, मैं ऐसी अभागिनी हूँ।'

अभागिनी नहीं हो बहन, तुमने विनोद को केवल समझा न था। वह तो चाहते थे कि मैं अकेली आऊँ, पर मैंने उन्हें इस दशा में वहाँ छोड़ना उचित न समझा। परसों हम दोनों वहाँ से चले! यहाँ पहुँचकर विनोद तो वेटिंग-रूम में ठहर गये, मैं पता पूछती हुई भुवन के पास पहुँची। भुवन को मैंने इतना फटकारा कि वह रो पड़ा। उसने मुझसे यहाँ तक कह डाला कि तुमने उसे बुरी तरह दुत्कार दिया है। आँखों का बुरा आदमी है, पर दिल का बुरा नहीं। उधर से जब मुझे सन्तोष हो गया और रास्ते में तुमसे भेंट हो जाने पर रहा-सहा भ्रम भी दूर हो गया, तो मैं विनोद को तुम्हारे पास लायी। अब तुम्हारी वस्तु तुम्हें सौंपती हूँ। मुझे आशा है, इस दुर्घटना ने तुम्हें इतना सचेत कर दिया होगा कि फिर ऐसी नौबत न आयेगी। आत्म-समर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुन्दरी हो; आनन्दमय जीवन का यही मूल मंत्र है। मैं डींग नहीं मारती, लेकिन चाहूँ तो आज विनोद को तुमसे छीन सकती हूँ। लेकिन रूप में मैं तुम्हारे तलुओं के बराबर भी नहीं। रूप के साथ अगर तुम सेवा-भाव धारण कर सको, तो तुम अजेय हो जाओगी.......'

'मैं कुसुम के पैरों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—बहन, तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसके लिए मरते दम तक तुम्हारी ऋणी रहूँगी। तुमने सहायता न की होती, तो आज न-जाने मेरी क्या गति होती।'

बहन, कुसुम कल चली जायगी। मुझे तो अब वह देवी-सी दीखती है। जी चाहता है, उसके चरण धो-धोकर पीऊँ। उसके हाथों मुझे विनोद ही नहीं मिले हैं, सेवा का सच्चा आदर्श और स्त्री का सच्चा कर्तव्य-ज्ञान भी मिला है

आज से मेरे ज़ीवन का नवयुग आरम्भ होता है, जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।

तुम्हारी,
पद्मा

माँगे की घड़ी

मेरी समझ में आज तक यह बात न आयी कि लोग ससुराल जाते हैं, तो इतना ठाट-बाट क्यों बनाते हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या होता है ? हम अगर लखपती हैं तो क्या, और रोटियों को मुहताज हैं तो क्या, विवाह तो हो ही चुका, अब इस ठाट का हमारे ऊपर क्या असर पड़ सकता है। विवाह के पहले तो उससे कुछ काम निकल सकता है। हमारी सम्पन्नता बातचीत पक्की करने में बहुत-कुछ सहायक हो सकती है। लेकिन जब विवाह हो गया, देवीजी हमारे घर का सारा रहस्य जान गयीं और निःसन्देह अपने माता-पिता से रो-रोकर अपने दुर्भाग्य की कथा भी कह सुनायी, तो हमारा यह ठाट हानि के सिवा लाभ नहीं पहुँचा सकता। फटे-हालों देखकर, सम्भव है, हमारी सासजी को कुछ दया आ जाती और बिदाई के बहाने कोई माकूल रकम हमारे हाथ लग जाती। यह ठाट देखकर तो वह अवश्य ही समझेंगी कि अब इसका सितारा चमक उठा है, जरूर कहीं-न-कहीं से माल मार लाया है। उधर नाई और कहार इनाम के लिए बड़े-बड़े मुँह फैलायेंगे, वह अलग। देवीजी को भी भ्रम हो सकता है। मगर यह सब जानते और समझते हुए मैंने परसाल होलियों में ससुराल जाने के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कीं। रेशमी अचकन जिन्दगी में कभी न पहनी थी, फ्लेक्स के बूटों का भी स्वप्न देखा करता था। अगर नकद रुपये देने का प्रश्न होता, तो शायद यह स्वप्न स्वप्न ही रहता, पर एक दोस्त की कृपा से दोनों चीजें उधार मिल गयीं। चमड़े का सूट-केस एक मित्र से माँग लाया। दरी फट गयी थी और नयी दरी उधार मिल भी सकती थी; लेकिन बिछावन ले जाने की मैंने जरूरत न समझी। अब केवल रिस्ट-वाच की और कमी थी। यों तो दोस्तों में कितनों ही के पास रिस्ट-वाच थी—मेरे सिवा ऐसे अभागे बहुत कम होंगे, जिनके पास रिस्ट-वाच न हो—लेकिन मैं सोने की घड़ी चाहता था और वह केवल दानू के पास थी। मगर दानू से मेरी बेतकल्लुफी न थी! दानू रूखा आदमी था। मँगनी की चीजों का लेना और

देना दोनों ही पाप समझता था। ईश्वर ने माना है, वह इस सिद्धान्त का पालन कर सकता है। मैं कैसे कर सकता हूँ। जानता था कि वह साफ इनकार करेगा, पर दिल न माना। खुशामद के बल पर मैंने अपने जीवन में बड़े बड़े काम कर दिखाये हैं, इसी खुशामद की बदौलत आज महीने में ३०) फटकारता हूँ। एक हजार ग्रेजुएटों से कम उम्मेदवार न थे; लेकिन सब मुँह ताकते रह गये और बन्दा मूँछों पर ताव देता हुआ घर आया। जब इतना बड़ा पाला मार लिया, तो दो-चार दिन के लिए घड़ी माँग लाना कौन-सा बड़ा मुश्किल काम था। शाम को जाने की तैयारी थी। प्रातःकाल दानू के पास पहुँचा और उनके छोटे बच्चे को, जो बैठक के सामने सहन में खेल रहा था, गोद में उठाकर लगा भींच-भींचकर प्यार करने। दानू ने पहले तो मुझे आते देखकर जरा त्योरियाँ चढ़ायी थीं, लेकिन मेरा यह वात्सल्य देखकर कुछ नरम पड़े, उनके ओंठों के किनारे जरा फैल गये। बोले—खेलने दो दुष्ट को, तुम्हारा कुरता मैला हुआ जाता है। मैं तो इसे कभी छूता भी नहीं।

मैंने कृत्रिम तिरस्कार का भाव दिखाकर कहा—मेरा कुरता मैला हो रहा है न, आप इसकी क्यों फिक्र करते हैं। वाह! ऐसा फूल-सा बालक और उसकी यह कदर। तुम-जैसों को तो ईश्वर नाहक सन्तान देता है। तुम्हें भारी मालूम होता हो, तो लाओ मुझे दे दो।

यह कहकर मैंने बालक को कन्धे पर बैठा लिया और सहन में कोई पन्द्रह मिनट तक उचकता फिरा। बालक खिलखिलाता था और मुझे दम न लेने देता था, यहाँ तक कि दानू ने उसे मेरे कन्धे से उतारकर जमीन पर बैठा दिया और बोले—कुछ पान-पत्ता तो लाया नहीं, उलटे सवारी कर बैठा। जा अम्माँ से पान बनवा ला।

बालक मचल गया। मैंने उसे शांत करने के लिए दानू को हल्के हाथों दो-तीन धप जमाये और उनकी रिस्ट-वाच से सुसज्जित कलाई पकड़कर बोला—ले लो बेटा, इनकी घड़ी ले लो, यह बहुत मारा करते हैं तुम्हें। आप तो घड़ी लगाकर बैठे हैं और हमारे मुन्ने के पास नहीं।

मैंने चुपके-से रिस्ट-वाच खोलकर बालक की बाँह में बाँध दी और तब उसे गोद में उठाकर बोला—भैया, अपनी घड़ी हमें दे दो।

सयाने बाप के बेटे भी सयाने होते हैं। बालक ने घड़ी को दूसरे हाथ से छिपाकर कहा—तुमको नई दे दें!

मगर मैंने अन्त में उसे फुसलाकर घड़ी ले ली। और अपनी कलाई पर बाँध ली। बालक पान लेने चला गया। दानू बाबू अपनी घड़ी के अलौकिक गुणों की प्रशंसा करने लगे—ऐसी सच्ची समय बतानेवाली घड़ी आज तक कम-से-कम मैंने नहीं देखी।

मैंने अनुमोदन किया—है भी तो स्विस!

दानू—अजी, स्विस होने से क्या होता है। लाखों स्विस-घड़ियाँ देख चुका हूँ। किसी को सरदी, किसी को जुकाम, किसी को गठिया, किसी को लकवा। जब देखिए, तब अस्पताल में पड़ी हैं। घड़ी की पहचान चाहिए और यह कोई आसान काम नहीं। कुछ लोग समझते हैं, बहुत दाम खर्च कर देने से अच्छी घड़ी मिल जाती है। मैं कहता हूँ, तुम गधे हो, दाम खर्च करने से ईश्वर नहीं मिला करता। ईश्वर मिलता है ज्ञान से और घड़ी भी मिलती है ज्ञान से। फासेट साहब को तो जानते होंगे। बस, बन्दा ऐसों ही की खोज में रहता है। एक दिन आकर बैठ गया। शराब की चाट थी। जेब में रुपये नदारद। मैंने २५) में यह घड़ी ले ली। इसको तीन साल होते हैं और आज तक एक मिनट का फर्क नहीं पड़ा। कोई इसके सौ आँकता है, कोई दो सौ, कोई साढ़े तीन सौ, कोई पौने पाँच सौ; मगर मैं कहता हूँ, तुम सब गधे हो, एक हजार के नीचे ऐसी घड़ी नहीं मिल सकती। पत्थर पर पटक दो, क्या मजाल कि बल भी आये।

मैं—तब तो यार एक दिन के लिए मँगनी दे दो। बाहर जाना है। औरों को भी इसकी करामात सुनाऊँगा।

दानू—मँगनी तो तुम जानते हो, मैं कोई चीज नहीं देता। क्यों नहीं देता, इसकी कथा सुनाने बैठूँ, तो अलिफलैला की दास्तान हो जाय। उसका सारांश यह है कि मँगनी में चीज देना मित्रता की जड़ खोदना, मुरव्वत का गला घोंटना और अपने घर आग लगाना है। आप बहुत उत्सुक मालूम होते हैं, इसलिए दो-एक घटनाएँ सुना ही दूँ। आपको फुरसत है न? हाँ, आज

तो दफ्तर बन्द है, तो सुनिए। एक साहब लालटेनें मँगनी ले गये। लौटाने आये, तो चिमनियाँ सब टूटी हुईं। पूछा, यह आपने क्या किया, तो बोले— जैसी गयी थीं, वैसी आयीं। यह तो आपने न कहा था कि इनके बदले नयी लालटेनें लूँगा। वाह साहब, वाह! यह अच्छा रोजगार निकला। बताइए, क्या करता। एक दूसरे महाशय कालीन ले गये। बदले में एक फटी हुई दरी ले आये। पूछा तो बोले—

'साहब, आपको तो यह दरी मिल भी गयी, मैं किसके सामने जाकर रोऊँ, मेरी पाँच कालीनों का पता नहीं, कोई साहब सब समेट ले गये।' बताइए, उनसे क्या कहता? तबसे मैंने कान पकड़े कि अब किसी के साथ यह व्यवहार ही न करूँगा। सारा शहर मुझे बेमुरौवत, मक्खीचूस और जाने क्या-क्या कहता है, पर मैं परवा नहीं करता। लेकिन आप बाहर जा रहे हैं और बहुत-से आदमियों से आपकी मुलाकात होगी, सम्भव है, कोई इस घड़ी का गाहक निकल जाय, इसलिए आपके साथ इतनी सख्ती न करूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं इसे निकालना चाहता हूँ और आपसे मुझे सहायता मिलने की पूरी उम्मेद है। अगर कोई दाम लगाये, तो मुझसे आकर कहिएगा।

मैं यहाँ से कलाई पर घड़ी बाँधकर चला, तो जमीन पर पाँव न पड़ते थे। घड़ी मिलने की इतनी खुशी न थी, जितनी एक मुड्ढ पर विजय पाने की। कैसा फाँसा है बचा को! वह समझते थे कि मैं ही बड़ा सयाना हूँ, यह नहीं जानते थे कि यहाँ उनके भी गुरुघंटाल हैं।

(२)

उसी दिन शाम को मैं ससुराल जा पहुँचा। अब यह गुत्थी खुली कि लोग क्यों ससुराल जाते वक्त इतना ठाट करते हैं। सारे घर में हलचल पड़ गयी। मुझपर किसी की निगाह न थी। सभी मेरा साज-सामान देख रहे थे। कहार पानी लेकर दौड़ा, एक साला मिठाई की तश्तरी लाया, दूसरा पान की। नाइन झाँककर देख गयी और ससुरजी की आँखों में तो ऐसा गर्व झलक रहा था, मानो संसार को उनके निर्वाचन-कौशल पर सिर झुकाना चाहिए। मैं ३०) महीने का नौकर इस वक्त इसी शान से बैठा हुआ था, जैसे बड़े बाबू दफ्तर में बैठते हैं। कहार पंखा झल रहा था, नाइन पाँव धो रही थी, एक साला

बिछावन बिछा रहा था, दूसरा धोती लिये खड़ा था कि मैं पाजामा उतारूँ। यह सब इसी ठाट की करामात थी।

रात को देवीजी ने पूछा—'सब रुपये उड़ा आये कि कुछ बचा भी है?'

मेरा सारा प्रेमोत्साह शिथिल पड़ गया, न क्षेम, न कुशल, न प्रेम की कोई बातचीत। बस, हाय रुपये! हाय रुपये!! जी में आया की इसी वक्त उठकर चल दूँ। लेकिन जब्त कर गया। बोला—'मेरी आमदनी जो कुछ है, वह तो तुम्हें मालूम ही है।

'मैं क्या जानूँ, तुम्हारी क्या आमदनी है। कमाते होंगे अपने लिए, मेरे लिए क्या करते हो? तुम्हें तो भगवान् ने औरत बनाया होता, तो अच्छा होता! रात-दिन कंघी-चोटी किया करते। तुम नाहक मर्द बने। अपने शौक-सिंगार से बचत ही नहीं, दूसरों की फिक्र तुम क्या करोगे?'

मैंने झुँझलाकर कहा—'क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि इसी वक्त चला जाऊँ?' देवीजी ने भी त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—'चले क्यों नहीं जाते, मैं तो तुम्हें बुलाने न गयी थी, या मेरे लिए कोई रोकड़ लाये हो?'

मैंने चिंतित स्वर में कहा—'तुम्हारी निगाह में प्रेम का कोई मूल्य नहीं। जो कुछ है, वह रोकड़ ही है?'

देवीजी ने त्योरियाँ चढ़ाये हुए ही कहा—'प्रेम अपने-आपसे करते होंगे, मुझसे तो नहीं करते।'

'तुम्हें पहले तो यह शिकायत कभी न थी।

'इससे यह तो तुमको मालूम ही हो गया कि मैं रोकड़ की परवा नहीं करती; लेकिन देखती हूँ कि ज्यों-ज्यों तुम्हारी दशा सुधर रही है, तुम्हारा हृदय भी बदल रहा है। इससे तो यही अच्छा था कि तुम्हारी वही दशा बनी रहती। तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ, फटे चीथड़े पहनकर दिन काट सकती हूँ; लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम चैन करो और मैं मैके में पड़ी भाग्य को रोया करूँ। मेरा प्रेम उतना सहनशील नहीं है।'

सालों और नौकरों ने मेरा जो आदर-सम्मान किया था, उसे देखकर मैं अपने ठाट पर फूला न समाया था। अब यहाँ मेरी जो अवहेलना हो रही थी,

उसे देखकर मैं पछता रहा था कि व्यर्थ ही यह स्वाँग भरा। अगर साधारण कपड़े पहने, रोनी सूरत बनाये आता, तो बाहरवाले चाहे अनादर ही करते, लेकिन देवीजी तो प्रसन्न रहतीं; पर अब तो भूल हो गयी थी। देवीजी की बातों पर मैंने गौर किया, तो मुझे उनसे सहानुभूति हो गयी। यदि देवीजी पुरुष होती और मैं उनकी स्त्री, तो क्या मुझे यह किसी तरह भी सह्य होता है कि वह तो छैला बनी घूमें और मैं पिंजरे में बन्द दाने और पानी को तरसूँ। चाहिए यह था कि देवीजी से सारा रहस्य कह सुनाता, पर आत्मगौरव ने इसे किसी तरह स्वीकार न किया। स्वाँग भरना सर्वथा अनुचित था, लेकिन परदा खोलना तो भीषण पाप था। आखिर मैंने फिर उसी खुशामद से काम लेने का निश्चय किया, जिसने इतने कठिन अवसरों पर मेरा साथ दिया था। प्रेम पुलकित कण्ठ से बोला—'प्रिये! सच कहता हूँ, मेरी दशा अब भी वही है; लेकिन तुम्हारे दर्शनों की इच्छा इतनी बलवती हो गयी थी कि उधार कपड़े लिये। यहाँ तक कि अभी सिलाई भी नहीं। फटेहालों आते संकोच होता था कि सबसे पहले तुमको दुःख होगा और तुम्हारे घरवाले भी दुःखी होंगे। अपनी दशा जो कुछ है, वह तो है ही, उसका ढिंढोरा पीटना तो और भी लज्जा की बात है।'

देवीजी ने कुछ शान्त होकर कहा—'तो उधार लिया?'

'और नकद कहाँ धरा था।'

'घड़ी भी उधार ली?'

'हाँ, एक जान-पहचान की दूकान से ले ली।'

'कितने की है?'

बाहर किसी ने पूछा होता, तो मैंने ५००) से कौड़ी कम-न बताया होता, लेकिन यहाँ मैंने २५) बताया।

'तब तो बड़ी सस्ती मिल गयी।'

'और नहीं तो मैं फँसता ही क्यों?'

'इसे मुझे देते जाना।'

ऐसा जान पड़ा मेरे शरीर में रक्त ही नहीं रहा। सारे अवयव निस्पन्द हो गये। इनकार करता हूँ, तो नहीं बचता; स्वीकार करता हूँ, तो कभी नहीं बचता। आज प्रातःकाल यह घड़ी मँगनी पाकर मैं फूला न समाया था। इस

समय वह ऐसी मालूम हुई, मानो कौड़ियाला गेंडली मारे बैठा हो, बोला—'तुम्हारे लिए कोई अच्छी घड़ी ले लूँगा।'

जी नहीं, माफ कीजिये, आप ही अपने लिए दूसरी घड़ी ले लीजिएगा। मुझे तो यही अच्छी लगती है। कलाई पर बाँधे रहूँगी। जब-जब इस पर आँखें पड़ेंगी, तुम्हारी याद आयेगी। देखो, तुमने आज तक मुझे फूटी कौड़ी भी कभी नहीं दी। अब इनकार करोगे, तो फिर कोई चीज न माँगूँगी।

देवीजी के कोई चीज माँगने से मुझे किसी विशेष हानि का भय न होना चाहिए था, बल्कि उनके इस विराग का स्वागत करना चाहिए था; पर न-जाने क्यों मैं डर गया। कोई ऐसी युक्ति सोचने लगा कि वह राजी हो जायँ और घड़ी भी न देनी पड़े। बोला—'घड़ी क्या चीज है, तुम्हारे लिए जान हाजिर है, प्रिये! लाओ, तुम्हारी कलाई पर बाँध दूँ, लेकिन बात यह है कि वक्त का ठीक-ठीक अन्दाज न होने से कभी-कभी दफ्तर पहुँचने में देर हो जाती है और व्यर्थ की फटकार सुननी पड़ती है। घड़ी तुम्हारी है, किन्तु जब-तक दूसरी घड़ी न ले लूँ, इसे मेरे पास रहने दो। मैं बहुत जल्द कोई सस्ते दामों की घड़ी अपने लिए ले लूँगा और तुम्हारी घड़ी तुम्हारे पास भेज दूँगा। इसमें तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी।'

देवीजी ने अपनी कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा—'राम जाने, तुम बड़े चकमेबाज हो, बातें बनाकर काम निकालना चाहते हो। यहाँ ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं, यहाँ से जाकर दो-चार दिन में दूसरी घड़ी ले लेना। दो-चार दिन जरा सबेरे दफ्तर चले जाना।'

अब मुझे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। कलाई से घड़ी के जाते ही हृदय पर चिन्ता का पहाड़-सा बैठ गया। ससुराल में दो दिन रहा, पर उदास और चिंतित। दानू बाबू को क्या जवाब दूँगा, यह प्रश्न किसी गुप्त वेदना की भाँति चित्त को मसोसता रहा।

(३)

घर पहुँचकर जब मैंने सजल नेत्र होकर दानू बाबू से कहा—'घड़ी तो कहीं खो गयी' तो खेद या सहानुभूति का एक शब्द भी मुँह से निकालने के बदले उन्होंने बड़ी निर्दयता से कहा—'इसीलिये मैं तुम्हें घड़ी न देता था

आखिर वही हुआ, जिसकी मुझे शंका थी। मेरे पास वह घड़ी तीन साल रही, एक दिन भी इधर-उधर न हुई। तुमने तीन दिन में वारा-न्यारा कर दिया। आखिर कहाँ गये थे ?'

मैं तो डर रहा था कि दानू बाबू न-जाने कितनी घुड़कियाँ सुनायेंगे। उनकी यह क्षमाशीलता देखकर मेरी जान-में-जान आयी। बोला—'जरा ससुराल चला गया था।' 'तो भाभी को लिवा लाये ?' 'जी, भाभी को लिवा लाता। अपना गुजर होता ही नहीं, भाभी को लिवा लाता।'

'आखिर तुम इतना कमाते हो, वह क्या करते हो ?'

'कमाता क्या हूँ, अपना सिर ? ३०) महीन का नौकर हूँ।'

'तो तीसो खर्च कर डालते हो ?'

'क्या ३०) मेरे लिये बहुत हैं ?'

'जब तुम्हारी कुल आमदनी ३०) है, तो यह सब अपने ऊपर खर्च करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बीबी कब तक मैके में पड़ी रहेगी ?'

जब तक और तरक्की नहीं होती तब तक मजबूरी है! किस बिरते पर बुलाऊँ ?'

'और तरक्की दो-चार साल न हो तो ?'

'यह तो ईश्वर ही ने कहा है। इधर तो ऐसी आशा नहीं है।'

'शाबाश! तब तो तुम्हारी पीठ ठोकनी चाहिये। और कुछ काम क्यों नहीं करते ? सुबह को क्या करते हो।'

'सारा वक्त नहाने-धोने, खाने-पीने में निकल जाता है। फिर दोस्तों से मिलना-जुलना भी तो है।'

'तो भाई, तुम्हारा रोग असाध्य है। ऐसे आदमी के साथ मुझे लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं हो सकती। आपको मालूम है! मेरी घड़ी ५००) की थी। सारे रुपये आपको देने होंगे। आप अपने वेतन में से १५) महीना मेरे हवाले रखते जाइये। इस प्रकार ढाई साल में मेरे रुपये पट जायँ, तो खूब जी खोल-कर दोस्तों से मिलियेगा। समझ गये न ? मैंने ५०) छोड़ दिये हैं इससे अधिक रिआयत नहीं कर सकता।'

'१५) में मेरा गुजर कैसे होगा ?'

'गुजर तो लोग ५) में भी करते हैं और ५००) में भी। इसकी न चलाओ, अपनी सामर्थ्य देख लो।

दानू बाबू ने जिस निष्ठुरता से ये बातें की, उससे मुझे विश्वास होगया कि अब इनके सामने रोना-धोना व्यर्थ है। यह अपनी पूरी रकम लिये बिना न मानेंगे। घड़ी अधिक-से-अधिक २००) की थी। लेकिन इससे क्या होता है। उन्होंने तो पहले ही उसका दाम बता दिया था। अब उस विषय पर मीन-मेष विचारने का मुझे साहस कैसे हो सकता था। किस्मत ठोंककर घर आया। यह विवाह करने का मजा है! उस वक्त कैसे प्रसन्न थे, मानो चारों पदार्थ मिले जा रहे थे। अब नानी के नाम को रोओ। घड़ी का शौक चर्राया था, उसका फल भोगो! न घड़ा बाँधकर जाते, तो ऐसी कौन-सी किरकिरी हुई जाती थी। मगर तब तुम किसकी सुनते थे। देखें १५) में कैसे गुजर करते हो। ३०) में तो तुम्हारा पूरा ही न पड़ता था, १५) में तुम क्या भुना लोगे।

इन्हीं चिन्ताओं में पड़ा-पड़ा मैं सो गया। भोजन करने की भी रुचि न रही!

(४)

जरा सुन लीजिए कि ३०) में मैं कैसे गुजर करता था—२०) तो होटल को देता था। ५) नाश्ते का खर्च था और बाकी ५) में पान, सिगरेट, कपड़े, जूते सब कुछ! मैं कौन राजसी ठाट से रहता था, ऐसी कौन-सी फिजूलखर्ची करता था कि अब खर्च में कमी करता। मगर दानू बाबू का कर्ज तो चुकाना ही था। रोकर चुकाता या हँसकर। एक बार जी में आया कि ससुराल जाकर घड़ी उठा लाऊँ, लेकिन दानू बाबू से कह चुका था कि घड़ी खो गयी। अब घड़ी लेकर जाऊँगा, तो यह मुझे झूठा और लबाड़िया समझेंगे। मगर क्या मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने समझा था कि घड़ी खो गयी, ससुराल गया तो उसका पता चल गया। मेरी बीबी ने उड़ा दी थी। हाँ, यह चाल अच्छी थी। लेकिन देवीजी से क्या बहाना करूँगा? उसे कितना दुःख होगा। घड़ी पाकर कितनी खुश हो गयी थीं! अब जाकर घड़ी छीन लाऊँ, तो शायद फिर मेरी सूरत भी न देखे। हाँ; यह हो सकता था कि दानू बाबू के पास जाकर रोता। मुझे विश्वास था कि आज क्रोध में उन्होंने चाहे कितनी ही निष्ठुरता दिखायी हो, लेकिन दो-चार दिन के बाद जब उनका क्रोध शांत हो जाय और मैं जाकर उनके सामने

रोने लगूँ, तो उन्हें अवश्य दया आ जायगी। बचपन की मित्रता हृदय से नहीं निकल सकती। लेकिन मैं इतना आत्मगौरव-शून्य न था और न हो सकता था।

मैं दूसरे ही दिन एक सस्ते होटल में उठ गया। यहाँ १२) में ही प्रबंध होगया। सुबह को दूध और चाय से नाश्ता करता था। अब छटाँक-भर चनों पर बसर होने लगी। १२) तो यों बचे। पान सिगरेट आदि की मद में ३) और कम किये। और महीने के अंत में साफ १५) बचा लिये। यह विकट तपस्या थी। इंद्रियों का निर्दय दमन ही नहीं, पूरा संन्यास था। पर जब मैंने ये १५) ले जाकर दानू बाबू के हाथ में रक्खे, तो ऐसा जान पड़ा, मानो मेरा मस्तक ऊँचा होगया है। ऐसे गौरव-पूर्ण आनन्द का अनुभव मुझे जीवन में कभी न हुआ था।

दानू बाबू ने सहृदयता के स्वर में कहा—'बचाये या किसीसे माँग लाये?'

'बचाया है भई, माँगता किससे?'

'कोई तकलीफ तो नहीं हुई?'

'कुछ नहीं। अगर कुछ तकलीफ हुई भी, तो इस वक्त भूल गयी।'

'सुबह को तो अब भी खाली रहते हो? आमदनी कुछ और बढ़ाने की फिक्र क्यों नहीं करते?'

'चाहता तो हूँ कि कोई काम मिल जाय, तो कर लूँ; पर मिलता ही नहीं।'

यहाँ से लौटा, तो मुझे अपने हृदय में एक नवीन बल, एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था। अबतक जिन इच्छाओं को रोकना कष्टप्रद जान पड़ता था, अब उनकी ओर ध्यान भी न जाता था। जिस पान की दूकान को देखकर चित्त अधीर हो जाता था, उसके सामने से मैं सिर उठाये निकल जाता था, मानो अब मैं उस सतह से कुछ ऊँचा उठ गया हूँ। सिगरेट, चाय और चाट अब इनमें से किसी पर भी चित्त आकर्षित न होता था। प्रातःकाल भीगे हुए चने, दोनों जून रोटी और दाल। बस, इसके सिवा मेरे लिये और सभी चीजें त्याज्य थीं, सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुझे जीवन से विशेष रुचि हो गयी थी। मैं जिंदगी से बेजार, मौत के मुँह का शिकार बनने का इच्छुक न था। मुझे ऐसा आभास होता था कि मैं जीवन में कुछ कर सकता हूँ।

एक मित्र ने एक दिन मुझसे पान खाने के लिए बड़ा आग्रह किया, पर मैंने न खाया। तब वह बोले —'तुमने तो यार पान छोड़कर कमाल कर दिया। मैं अनुमान ही न कर सकता था कि तुम पान छोड़ दोगे। हमें भी कोई तरकीब बताओ।'

मैंने मुसकिराकर कहा—'इसकी तरकीब यही है कि पान न खाओ।'

'जी तो नहीं मानता।'

'आप ही मान जायगा।'

'बिना सिगरेट पिये, तो मेरा पेट फूलने लगता है।'

'फूलने दो, आप पिचक जायगा।'

'अच्छा तो लो, आज मैंने पान और सिगरेट छोड़ा।'

'तुम क्या छोड़ोगे। तुम नहीं छोड़ सकते।'

मैंने उनको उत्तेजित करने के लिए यह शंका की थी। इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। वह दृढ़ता से बोले —'तुम यदि छोड़ सकते हो, तो मैं भी छोड़ सकता हूँ। मैं तुमसे किसी बात में कम नहीं हूँ।'

'अच्छी बात है, देखूँगा।'

'देख लेना।'

मैंने इन्हें आज तक पान या सिगरेट का सेवन करते नहीं देखा।

पाँचवें महीने में जब मैं रुपये लेकर दानू बाबू के पास गया, तो सच मानो, वह टूटकर मेरे गले से लिपट गये। बोले —'हो तो यार, तुम धुन के पक्के! मगर सच कहना, मुझे मन में कोसते तो नहीं?'

मैंने हँसकर कहा—'अब तो नहीं कोसता, मगर पहले जरूर कोसता था।'

'अब क्यों इतनी कृपा करने लगे?'

'इसलिए कि मुझ-जैसी स्थिति के आदमी को जिस तरह रहना चाहिए, वह तुमने सिखा दिया। मेरी आमदनी में आधा मेरी स्त्री का है। पर अबतक मैं उसका हिस्सा भी हड़प कर जाता था। अब मैं इस इस योग्य हो रहा हूँ कि उसका हिस्सा उसे दे दूँ, या स्त्री को अपने साथ रक्खूँ। तुमने मुझे बहुत अच्छा पाठ दे दिया।'

'अगर तुम्हारी आमदनी कुछ बढ़ जाय, तो फिर उसी तरह रहने लगोगे?'

'नहीं, कदापि नहीं। अपनी स्त्री को बुला लूँगा।'

'अच्छा, तो खुश हो जाओ; तुम्हारी तरक्की होगयी है।'

मैंने अविश्वास के भाव से कहा—'मेरी तरक्की अभी क्या होगी। अभी मुझसे पहले के लोग पड़े नाक रगड़ रहे हैं।'

'कहता हूँ, मान जाव। मुझसे तुम्हारे बड़े बाबू कहते थे।'

मुझे अब भी विश्वास न आया। पर मारे-कुतूहल के पेट में चूहे दौड़ रहे थे। उधर दानू बाबू अपने घर गये, इधर मैं बड़े बाबू के घर पहुँचा। बड़े बाबू बैठे अपनी बकरी दुह रहे थे। मुझे देखा, तो झेंपते हुए बोले—'क्या करें भाई, आज ग्वाला नहीं आया, इसलिए यह बला गले पड़ी। चलो, बैठो।'

मैं कमरे में जा बैठा। बाबूजी भी कोई आध घंटे के बाद हाथ में गुड़-गुड़ी लिये निकले और इधर-उधर की बातें करते रहे। आखिर मुझसे न रहा गया, बोला—'मैंने सुना है, मेरी कुछ तरक्की हो गयी है।'

बड़े बाबू ने प्रसन्नमुख होकर कहा—'हाँ भई, हुई तो है। तुमसे दानू बाबू ने कहा होगा।'

'जी हाँ, अभी कहा है। मगर मेरा नम्बर तो अभी नहीं आया, तरक्की कैसे हुई!'

'यह न पूछो, अफसरों की निगाह चाहिए, नम्बर-संबर कौन देखता है।'

'लेकिन आखिर मुझे किसकी जगह मिली। अभी कोई तरक्की का मौका भी तो नहीं।'

'कह दिया, भई, अफसर लोग सब कुछ कर सकते हैं। साहब एक दूसरी मद से तुम्हें १५) महीना देना चाहते हैं। दानू बाबू ने साहब से कहा-सुना होगा।'

'किसी दूसरे का हक मारकर तो मुझे ये रुपये नहीं दिये जा रहे हैं?'

'नहीं, यह बात नहीं। मैं खुद इसे न मंजूर करता।' महीना गुजरा, मुझे ४५) मिले। मगर रजिस्टर में मेरे नाम के सामने वही ३०) लिखे थे। बड़े बाबू ने अकेले बुलाकर मुझे रुपये दिये और ताकीद कर दी कि किसीसे कहना मत, नहीं दफ्तर में बावला मच जायगा। साहब का हुक्म है कि यह बात गुप्त रक्खी जाय।

मुझे सन्तोष हो गया कि किसी सहकारी का गला घोंटकर मुझे रुपये नहीं दिये गये। खुश खुश रुपये लिये हुए सीधा दानू बाबू के पास पहुँचा। वह मेरी बाछें खिली देखकर बोले—'मगर लाये तरक्की, क्यों ?'

'हाँ यार, रुपये तो १५) मिले; लेकिन तरक्की नहीं हुई, किसी और मद से दिये गये हैं।'

'तुम्हें रुपये से मतलब है, चाहे किसी मद से मिलें। तो अब बीबी को लेने जाओगे न ?'

'नहीं, अभी नहीं।'

'तुमने तो कहा था, आमदनी बढ़ जायगी, तो बीबी को लाऊँगा, अब क्या हो गया ?'

'मैं सोचता हूँ, पहले आपके रुपये पटा दूँ। अब से ३०) महीने देता जाऊँगा, साल-भर में पूरे रुपये पट जायँगे। तब मुक्त हो जाऊँगा।'

दानू बाबू की आँखें सजल हो गयीं। मुझे आज अनुभव हुआ कि उनकी इस कठोर आकृति के नीचे कितना कोमल हृदय छिपा हुआ था। बोले—'नहीं, अबकी मुझे कुछ मत दो। रेल का खर्च पड़ेगा, वह कहाँ से दोगे। जाकर अपनी स्त्री को ले आओ।'

मैंने दुविधा में पड़कर कहा—'यार, अभी न मजबूर करो। शायद किश्त न अदा कर सकूँ तो ?'

दानू बाबू ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—'तो कोई हरज नहीं। सच्ची बात यह है कि मैं अपनी घड़ी के दाम पा चुका। मैंने तो उसके ४५) ही दिये थे। उसपर तीन साल काम ले चुका था। मुझे तुमसे कुछ न लेना चाहिए था। अपनी स्वार्थपरता पर लज्जित हूँ।'

मेरी भी आँखें भर आयीं। जो में तो आया, घड़ी का सारा रहस्य कह सुनाऊँ, लेकिन जब्त कर गया। गद्गद् कण्ठ से बोला—नहीं, दानू बाबू, मुझे रुपये अदा कर लेने दो। आखिर तुम उस घड़ी को चार-पाँच सौ में बेच लेते या नहीं ? मेरे कारण तुम्हें इतना नुकसान क्यों हो।'

'भई अब घड़ी की चर्चा न करो। यह बतलाओ कि कब जाओगे

'अरे, तो पहले रहने का तो ठीक कर लूँ।'

'तुम जाओ, मैं मकान का प्रबन्ध कर रक्खूँगा ।'

'मगर मैं ५) से ज्यादा किराया न दे सकूँगा । शहर से जरा हटकर मकान सस्ता मिल जायगा।'

'अच्छी बात है, मैं सब ठीक कर रक्खूँगा। किस गाड़ी से लौटोगे?'

'यह अभी क्या मालूम । बिदाई का मामला है, साइत बने या न बने, या लोग एकाध दिन रोक ही लें। तुम इस झंझट में क्यों पड़ोगे? मैं दो-चार दिन।मे मकान ठीक करके चला जाऊँगा।'

'जी नहीं, आप आज जाइए और कल आइए।'

'तो उतरूँगा कहाँ?'

'मैं मकान ठीक कर लूँगा। मेरा आदमी तुम्हें स्टेशन पर मिलेगा।'

मैंने बहुत हीले-हवाले किये, पर उस भले आदमी ने एक न सुनी। उसी दिन मुझे ससुराल जाना पड़ा।

(५)

मुझे ससुराल में तीन दिन लग गये। चाथे दिन पत्नी के साथ चला। जी में डर रहा था कि कहीं दानू ने कोई आदमी न भेजा हो, तो कहाँ उतरूँगा, कहाँ को जाऊँगा। आज चौथा दिन है। उन्हें इतनी क्या गरज पड़ी है कि बार-बार स्टेशन पर अपना आदमी भेजें। गाड़ी में सवार होते समय इरादा हुआ कि दानू को तार से अपने आने की सूचना दे दूँ। लेकिन ॥।) का खर्च था, इससे झिझक गया।

मगर जब गाड़ी बनारस पहुँची, तो देखता हूँ कि दानू बाबू स्वयं हैट-कैट लगाये, दो कुलियों के साथ खड़े हैं। मुझे देखते ही दौड़े और बोले—'ससुराल की रोटियाँ बड़ी प्यारी लग रही थीं क्या? तीन दिन से रोज दौड़ रहा हूँ। जुरमाना देना पड़ेगा।'

देवीजी सिर से पाँव तक चादर ओढ़े, गाड़ी से उतरकर प्लैटफार्म पर खड़ी हो गयी थीं मैं चाहता था, जल्दी से गाड़ी में बैठकर यहाँ से चल दूँ। घड़ी उनकी कलाई पर बँधी हुई थी। मुझे डर लग रहा था कि कहीं उन्होंने हाथ बाहर निकाला और दानू की निगाह घड़ी पर पड़ गयी, तो बड़ी झेंप होगी। मगर तकदीर का लिखा कौन टाल सकता है। मैं देवीजी से दानू बाबू की

सज्जनता का खूब बखान कर चुका था। अब जो दानू उसके समीप आकर संदूक उठवाने लगे, तो देवीजी ने दोनों हाथों से उन्हें नमस्कार किया। दानू ने उनकी कलाई पर घड़ी देख ली। उस वक्त तो क्या बोलते; लेकिन ज्योंही देवीजी को एक ताँगे पर बिठाकर हम दोनों दूसरे ताँगे पर बैठकर चले, दानू ने मुसकिराकर कहा—'क्या घड़ी देवीजी ने छिपा दी थी?'

मैंने शर्माते हुए कहा—'नहीं यार, मैं ही दे आया था, दे क्या आया था, उन्होंने मुझसे छीन ली थी।'

दानू ने मेरा तिरस्कार करके कहा—'तो मुझसे झूठ क्यों बोले?'

'फिर क्या करता?'

'अगर तुमने साफ कह दिया होता, तो शायद मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि तुमसे उसका तावान वसूल करता; लेकिन खैर, ईश्वर का कोई काम मसलहत से खाली नहीं होता। तुम्हें कुछ दिनों ऐसी तपस्या की जरूरत थी।'

'मकान कहाँ ठीक किया है?'

'वहीं तो चल रहा हूँ।'

'क्या तुम्हारे घर के पास ही है? तब तो बड़ा मजा रहेगा।'

'हाँ, मेरे घर से मिला हुआ है मगर बहुत सस्ता।'

दानू बाबू के द्वार पर दोनों ताँगे रुके। आदमियों ने दौड़कर असबाब उतारना शुरू किया। एक क्षण में दानू बाबू की देवीजी घर में से निकलकर ताँगे के पास आयीं और पत्नीजी को साथ ले गयीं। मालूम होता था, यह सारी बातें पहले ही से सधी बधी थीं।

मैंने कहा—'तो यह कहो कि हम तुम्हारे बिना बुलाये मेहमान हैं।'

'अब तुम अपनी मरजी का कोई मकान ढूंढ़ लेना। दस-पाँच दिन तो यहाँ रहो।' लेकिन मुझे यह जबरदस्ती की मेहमानी अच्छी न लगी। मैंने तीसरे ही दिन एक मकान तलाश कर लिया। बिदा होते समय दानू ने १००) लाकर मेरे सामने रख दिये और कहा—'यह तुम्हारी अमानत है। लेते जाओ।'

मैंने विस्मय से पूछा—'मेरी अमानत कैसी?' दानू ने कहा कहा—'१५) के हिसाब से ६ महीने के ६०) हुए और १०) सूद।'

मुझे दानू की यह सज्जनता बोझ के समान लगी। बोला—'तो तुम घड़ी ले लेना चाहते हो?'

'फिर घड़ी का जिक्र किया तुमने। उसका नाम मत लो।'

तुम मुझे चारों ओर से दबाना चाहते हो।'

'हाँ, दबाना चाहता हूँ फिर ? तुम्हें आदमी बना देना चाहता हूँ। नहीं तो उम्र-भर तुम यहाँ होटल की रोटियाँ तोड़ते और तुम्हारी देवीजी वहाँ बैठी तुम्हारे नाम को रोतीं। कैसी शिक्षा दी है, इसका एहसान तो न मानोगे।'

'यों कहो; तो आप मेरे गुरू बने हुए थे।'

'जी हाँ, ऐसे गुरु की तुम्हें जरूरत थी।'

मुझे विवश होकर घड़ी का जिक्र करना पड़ा। डरते-डरते बोला—

'तो भई घड़ी....'

'फिर तुमने घड़ी का नाम लिया !'

'तुम खुद मुझे मजबूर कर रहे हो।'

'वह मेरी ओर से भावज को उपहार है।'

'और ये १००) मुझे उपहार मिले हैं।'

'जी हाँ, यह इम्तहान में पास होने का इनाम है।'

'तब तो डबल उपहार लिया।'

'तुम्हारी तकदीर ही अच्छी है, क्या करूँ।'

मैं रुपये तो न लेता था, पर दानू ने मेरी जेब में डाल दिये। लेने पड़े। इन्हें मैंने सेविंग बैंक में जमा कर दिया। १०) महीने पर मकान लिया था। ३०) महीने खर्च करता था। ५) बचने लगे। अब मुझे मालूम हुआ कि दानू बाबू ने मुझसे ६ महीने तक यह तपस्या न करायी होती, तो सचमुच मैं न-जाने कितने दिनों तक देवीजी को मैके में पड़ा रहने देता। उसी तपस्या की बरकत थी कि आराम से जिंदगी कट रही थी, ऊपर से कुछ-न-कुछ जमा होता जाता था। मगर घड़ी का किस्सा मैंने आज तक देवीजी से नहीं कहा। पाँचवें महीने में मेरी तरक्की का नम्बर आया। तरक्की का परवाना मिला। मैं सोच रहा था कि देखूँ अबकी दूसरी मदवाले १५) मिलते हैं या नहीं। पहली तारीख को वेतन मिला, वही ४५)। मैं एक क्षण खड़ा रहा कि शायद बड़े बाबू दूसरी मद-वाले रुपये भी दें। जब और लोग अपने-अपने वेतन लेकर चले गये, तो बड़े बाबू बोले—'क्या अभी लालच घेरे हुए है ? अब और कुछ न मिलेगा।'

मैंने लज्जित होकर कहा—'जी नहीं, इस ख्याल से नहीं खड़ा हूँ। साहब ने इतने दिनों तक परवरिश की, यह क्या थोड़ा है। मगर कम-से-कम इतना तो बता दीजिए कि किस मद से यह रुपया दिया जाता था?'

बड़े बाबू—'पूछकर क्या करोगे?'

'कुछ नहीं, योंही जानने को जी चाहता है।'

'जाकर दानू बाबू से पूछो।'

'दफ्तर का हाल दानू बाबू क्या जान सकते हैं।'

'नहीं, यह हाल वही जानते हैं।'

मैंने बाहर आकर एक ताँगा किया और दानू के पास पहुँचा। आज पूरे दस महीने के बाद मैंने ताँगा किराये पर किया था। इस रहस्य के जानने के लिए मेरा दम घुट रहा था। दिल में तय कर लिया था कि अगर बचा ने यह षड्यंत्र रचा होगा, तो बुरी तरह खबर लूँगा। आप बगीचे में टहल रहे थे। मुझे देखा तो घबराकर बोले—'कुशल तो है, कहाँ से भागे आते हो।

मैंने कृत्रिम क्रोध दिखाकर कहा—'मेरे यहाँ तो कुशल है, लेकिन तुम्हारी कुशल नहीं।'

'क्यों भई, क्या अपराध हुआ है?'

'आप बतलाइए कि पाँच महीने तक मुझे जो १५) वेतन के ऊपर से मिलते थे, वह कहाँ से आते थे?'

'तुमने बड़े बाबू से नहीं पूछा? तुम्हारे दफ्तर का हाल मैं क्या जानूँ?'

मैं आजकल दानू से बेतकल्लुफ होगया था। बोला—

'देखो दानू, मुझसे उड़ोगे, तो अच्छा न होगा। क्यों नाहक मेरे हाथों पिटोगे।'

'पीटना चाहो, तो पीट लो भई, सैकड़ों ही बार पीटा है, एक बार और सही। बार पर से जो ढकेल दिया था, उसका निशाना बना हुआ है, यह देखो।'

'तुम टाल रहे हो और मेरा दम घुट रहा है। सच बताओ, क्या बात थी?

'बात-वात कुछ नहीं थी। मैं जानता था कि कितनी ही किफायत करोगे, ३०) में तुम्हारा गुजर न होगा। और न सही, दोनों वक्त रोटियाँ तो हों। बस, इतनी बात है। अब इसके लिए जो चाहो, दण्ड दो।'

स्मृति का पुजारी

महाशय होरीलाल की पत्नी का जबसे देहान्त हुआ, वह एक तरह से दुनिया से विरक्त होगये हैं। यों रोज कचहरी जाते हैं—अब भी उनकी वकालत बुरी नहीं है। मित्रों से राह-रस्म भी रखते हैं, मेलों-तमाशों में भी जाते हैं; पर इसलिए नहीं कि इन बातों से उन्हें कोई खास दिलचस्पी है; बल्कि इसलिए कि वे भी मनुष्य हैं, और मनुष्य एक सामाजिक जीव है। जब उनकी स्त्री जीवित थी, तब कुछ और ही बात थी। किसी-न-किसी बहाने से आये-दिन मित्रों की दावतें होती रहती थीं। कभी गार्डन-पार्टी है, कभी संगीत है, कभी जन्माष्टमी है, कभी होली है। मित्रों का सत्कार करने में जैसे उन्हें मजा आता था। लखनऊ से सुफेदे आये हैं। अब, जबतक दोस्तों को खिला न लें, उन्हें चैन नहीं। कोई अच्छी चीज खरीदकर उन्हें यही धुन हो जाती थी कि इसे किसीकी भेंट कर दें। जैसे और लोग अपने स्वार्थ के लिए तरह-तरह के प्रपंच रचा करते हैं, वह सेवा के लिए षड्यंत्र रचते थे। आपसे मामूली जान-पहचान है, लेकिन उनके घर चले जाइए तो चाय और फलों से आपका सत्कार किये बिना न रहेंगे। मित्रों के हित के लिए प्राण देने को तैयार और बड़े ही खुशमिजाज। उनके कहकहे ग्रामोफोन में भरने लायक होते थे। कोई संतान न थी; लेकिन किसीने उन्हें दुखी या निराश नहीं देखा। महल्ले के सारे बच्चे उनके बच्चे थे। और स्त्री भी उसी रंग में रंगी हुई। आप कितने ही चिंतित हों; उस देवी से मुलाकात होते ही आप फूल की तरह खिल जायँगे। न-जाने इतनी लोकोक्तियाँ कहाँ से याद कर ली थीं। बात-बात पर कहावतें कहती थीं। और जब किसीको बनाने पर आ जाती, तो रुलाकर छोड़ती थी। गृह-प्रबंध में तो उसका जोड़ न था, दोनों एक दूसरे के आशिक थे, और उनका प्रेम पौधों के कलम की भाँति दिनों के साथ और भी घनिष्ठ होता जाता था। समय की गति उसपर जैसे आशीर्वाद का काम कर रही थी। कचहरी से छुट्टी पाते ही वह प्रेम का पथिक दीवानों की तरह घर भागता था। आप कितना ही आग्रह करें;

पर उस वक्त रास्ते में एक मिनट के लिये भी न रुकता था और अगर कभी महाशय जी के आने में देर हो जाती थी तो वह प्रेम-योगिनी छज्जे पर खड़ी होकर उनकी राह देखा करती थी और पचीस साल के अभिन्न सहचर ने उनकी आत्माओं में इतनी समानता पैदा कर दी थी कि जो बात एक के दिल में आती थी, वही दूसरे के दिल में बोल उठती थी। यह बात नहीं कि उनमें मतभेद न होता हो। बहुत-से विषयों में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था, और अपने पक्ष के समर्थन और परपक्ष के खण्डन में उनमें खूब झाँव-झाँव होती थी। कोई बाहर का आदमी सुने तो समझे कि दोनों लड़ रहे हैं, और अब हाथापाई की नौबत आनेवाली है; मगर उनके मुबाहसे मस्तिष्क से होते थे। हृदय दोनों के एक, दोनों सहृदय, दोनों प्रसन्नचित्त, स्पष्ट कहनेवाले निःस्पृह, मानो देवलोक के निवासी हों; इसलिए पत्नी का देहांत हुआ, तो कई महीने तक हम लोगों को यह अन्देशा रहा कि यह महाशय आत्मा-हत्या न कर बैठें। हम लोग सदैव उनकी दिलजोई करते रहते, कभी एकांत में न बैठने देते। रात को भी कोई-न-कोई उनके साथ लेटता था। ऐसे व्यक्तियों पर दूसरों को दया आती ही है। मित्रों की पत्नियाँ तो इनपर जान देती थीं। उनकी नजरों में वह देवताओं के भी देवता थे। उनकी मिसाल दे देकर अपने पुरुषों से कहतीं—इसे कहते हैं प्रेम! ऐसा पुरुष हो, तो क्यों न स्त्री उसकी गुलामी करे। जब से बीबी मरी है, गरीब ने कभी भरपेट भोजन नहीं किया, कभी नींद-भर नहीं सोया। नहीं तो तुम लोग दिल में मनाते रहते हो कि यह मर जाय, तो नया ब्याह रचायें। दिल में खुश होंगे कि अच्छा हुआ मर गयी, रोग टला, अब नयी-नवेली स्त्री लायेंगे।

और तब महाशयजी का पैंतालीसवाँ साल था, सुगठित शरीर था, स्वास्थ्य अच्छा, रूपवान्, विनोदशील, सम्पन्न। चाहते तो तुरन्त दूसरा ब्याह कर लेते। उनके हाँ करने की देर थी। गरज के बावले कन्यावालों ने सन्देश भेजे; मित्रों ने भी उजड़ा घर बसाना चाहा; पर इस स्मृति के पुजारी ने प्रेम के नाम को दाग न लगाया। अब हफ्तों बाल नहीं बनते; कपड़े नहीं बदले जाते। घसियारों-सी सूरत बनी हुई है, कुछ परवाह नहीं। कहाँ तो मुँह-अँधेरे उठते थे और चार मील का चक्कर लगा आते थे, कभी अलसा जाते थे तो देवीजी

घुड़कियाँ जमातीं और उन्हें बाहर खदेड़कर द्वार बन्द कर लेतीं। कहाँ अब आठ बजे तक चारपाई पर पड़ करवटें बदल रहे हैं। उठने का जी नहीं चाहता। खिदमतगार ने हुक्का लाकर रख दिया, दो-चार कश लगा लिये। न लाये, तो गम नहीं। चाय आयी पी ली, न आये तो परवाह नहीं। मित्रों ने बहुत गला दबाया, तो सिनेमा देखने चले गये; लेकिन क्या देखा और क्या सुना, इसकी खबर नहीं। कहाँ तो अच्छे-अच्छे सूटों का खब्त था, कोई खुशनुमा डिजाइन का कपड़ा आ जाय, आप एक सूट जरूर बनवायेंगे। वह क्या बनवायेंगे, उनके लिए देवीजी बनवायेंगी। कहाँ अब वही पुराने-पुराने बदरंग सिकुड़े-सिकुड़ाये, ढीले-ढाले कपड़े लटकाये चले जा रहे हैं, जो अब दुबलेपन के कारण उतारे-से लगते हैं और जिन्हें अब किसी तरह सूट नहीं कहा जा सकता। महीनों बाजार जाने की नौबत नहीं आती। अबकी कड़ाके का जाड़ा पड़ा, तो आपने एक रूईदार नीचा लबादा बनवा लिया और खासे भगतजी बन गये। सिर्फ कंटोप की कसर थी। देवीजी होतीं, तो यह लबादा छीनकर किसी फकीर को दे देतीं; मगर अब कौन देखनेवाला है। किसे परवाह है, वह क्या पहनते हैं और कैसे रहते हैं। ४५ की उम्र में जो आदमी ३५ का लगता था, वह अब ५० की उम्र में ७० का लगता है, कमर भी झुक गयी है, बाल भी सुफेद हो गये हैं, दाँत भी गायब होगये। जिसने उन्हें तब देखा हो, आज पहचान भी न सके।

मजा यह है कि तब वह जिन विषयों पर देवीजी से लड़ा करते थे, वही अब उनकी उपासना के अंग बन गये हैं। मालूम नहीं उनके विचारों में क्रांति होगयी है या मृतात्मा ने उनकी आत्मा में लीन होकर भिन्नताओं को मिटा दिया है। देवीजी को विधवा-विवाह से घृणा थी महाशयजी इसके पक्के समर्थक थे; लेकिन अब आप भी विधवा-विवाह का विरोध करते हैं। आप पहले पच्छिमी या नयी सभ्यता के भक्त थे और देवीजी का मजाक उड़ाया करते थे। अब इस सभ्यता की उनसे ज्यादा तीव्र आलोचना शायद ही कोई कर सके। इस बार योंही अँग्रेजों के समय-नियन्त्रण की चर्चा चल गयी। मैंने कहा—इस विषय में हमें अँग्रेजों से सबक लेना चाहिए। बस, आप तड़पकर उठ बैठे और उन्मत्त स्वर में बोले—कभी नहीं, प्रलय तक नहीं। मैं इस नियन्त्रण को स्वार्थ का

स्तम्भ, अहंकार का हिमालय और दुर्बलता का सहारा समझता हूँ। एक व्यक्ति मुसीबत का मारा आपके पास आता है। मालूम नहीं, कौन-सी जरूरत उसे आपके पास खींच लायी है; लेकिन आप फरमाते हैं—मेरे पास समय नहीं। यह उन्हीं लोगों का व्यवहार है, जो धन को मनुष्यता के ऊपर समझते हैं, जिनके लिए जीवन केवल धन है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह कभी इस नीति को पसन्द न करेगा। हमारी सभ्यता धन को इतना ऊँचा स्थान नहीं देती थी। हम अपने द्वार हमेशा खुले रखते थे। जिसे जब जरूरत हो, हमारे पास आये। हम पूर्ण तन्मयता से उसका वृत्तान्त सुनेंगे और उसके हर्ष या शोक में शरीक होंगे। अच्छी सभ्यता है! जिस सभ्यता की स्पिरिट स्वार्थ हो, वह सभ्यता नहीं है; संसार के लिए अभिशाप है, समाज के लिए विपत्ति है। इस तरह धर्म के विषय में भी दम्पति में काफी वितंडा होता रहता था। देवीजी हिन्दू धर्म की अनुगामिनी थीं, आप इस्लामी सिद्धान्तों के कायल थे; मगर अब आप भी पक्के हिन्दू हैं; बल्कि यों कहिए कि आप मानवधर्मी हो गये हैं। एक दिन बोले—मेरी कसौटी तो है मानवता! जिस धर्म में मानवता को प्रधानता दी गयी है, बस, उसी धर्म का मैं दास हूँ। कोई देवता हो या नबी या पैगम्बर; अगर वह मानवता के विरुद्ध कुछ कहता है, तो मेरा उसे दूर से सलाम है। इसलाम का मैं इसलिए कायल था कि वह मनुष्यमात्र को एक समझता है, ऊँच-नीच का वहाँ कोई स्थान नहीं है; लेकिन अब मालूम हुआ कि यह समता और भाईपन व्यापक नहीं, केवल इसलाम इसलाम के दायरे तक परिमित है। दूसरे शब्दों में, अन्य धर्मों की भाँति यह भी गुटबन्दी है और इसके सिद्धांत केवल उस गुट या समूह को सबल और संगठित बनाने के लिए रचे गये हैं। और जब मैं देखता हूँ कि यहाँ भी जानवरों की कुरबानी शरीयत में दाखिल है और हरेक मुसलमान के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेड़, बकरी, गाय या ऊँट की कुरबानी फर्ज बतायी गयी है, तो मुझे उसे अपौरुषेय होने में सन्देह होने लगता है। हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय पशु-बलि को अपना धर्म समझता है। यहूदियों, ईसाईयों और अन्य मतों में भी कुरबानी की बड़ी महिमा गायी है। इसी तरह एक समय नर-बलि का भी रिवाज था। आज भी कहीं-कहीं उस सम्प्रदाय के नामलेवा मौजूद हैं, मगर क्या सरकार ने नर-बलि

को अपराध नहीं ठहराया और ऐसे मजहबी दीवानों को फाँसी नहीं दी ? अपने स्वाद के लिए आप भेड़ को जबह कीजिए, या गाय, ऊँट या घोड़े को ! मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन धर्म के नाम पर कुरबानी मेरी समझ में नहीं आती। अगर आज इन जानवरों का राज हो जाय, तो कहिए, वे इन कुरबानियों के जवाब में हमें और आपको कुरबान कर दें या नहीं ? मगर हम जानते हैं, जानवरों में कभी यह शक्ति न आयेगी ; इसलिए हम बेधड़क कुरबानियाँ करते हैं और समझते हैं, हम बड़े धर्मात्मा हैं। स्वार्थ और लोभ के लिए हम चौबीसों घण्टे अधर्म करते हैं। कोई गम नहीं ; लेकिन कुरबानी का पुन लूटे बगैर हमसे नहीं रहा जाता। तो जनाब, मैं ऐसे रक्तशोषक धर्मों का भक्त नहीं। यहाँ तो मानवता के पुजारी हैं, चाहे इसलाम में हो या हिन्दू-धर्म में या बौद्ध में या ईसाइयत में; अन्यथा मैं विधर्मी ही भला। मुझे किसी मनुष्य से केवल इसलिए द्वेष तो नहीं है कि वह मेरा सहधर्मी नहीं। मैं किसी का खून तो नहीं बहाता, इसलिए कि मुझे पुन होगा।

इस तरह के कितने ही परिवर्तन महाशयजी के विचारों में आ गये।

और महाशयजी के पास सम्भाषण का केवल एक ही विषय है, जिससे वह कभी नहीं थकते और वह है—उस स्वर्गवासिनी का गुणगान। कोई मेहमान आ जाय, आप बावले-से इधर-उधर दौड़ रहे हैं, कुछ नहीं सूझता, कैसे उसकी खातिर करें। क्षमा-याचना के लिए शब्द ढूँढ़ते फिरते हैं—भाईजान, मैं आपकी क्या खातिर करूँ, जो आपकी सच्ची खातिर करता, वह नहीं रहा। इस वक्त तक आपके सामने चाय और टोस्ट और बादाम का हलवा आ जाता। सन्तरे और सेब छिले-छिलाये तश्तरियों में रख दिये जाते। मैं तो निरा उल्लू हूँ, भाई साहब बिलकुल काठ का उल्लू। मुझमें जो कुछ अच्छा था, वह सब उसका प्रसाद था। उसीकी बुद्धि से मैं बुद्धिमान् था, उसीकी सज्जनता से सज्जन, उसी की उदारता से उदार। अब तो निरा मिट्टी का पुतला हूँ भाई साहब, बिलकुल मुर्दा। मैं उस देवी के योग्य न था। न-जाने किन शुभ-कर्मों के फल से वह मुझे मिली थी। आईए, आपको उसकी तस्वीर दिखाऊँ। मालूम होता है, अभी-अभी उठकर चली गयी है। भाई साहब, आपसे साफ कहता हूँ, मैंने ऐसी सुन्दरी कभी नहीं देखी। उसके रूप में केवल रूप की गरिमा ही न थी, रूप

का माधुर्य भी था और मादकता भी, एक-एक अंग साँचे में ढला था, साहब! आप उसे देखकर कवियों के नख-शिख को लात मारते।

आप उत्सुक नेत्रों से वह तस्वीर देखते हैं। आपको उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं मिलता। स्थूल शरीर है, चौड़ा सा मुँह, छोटी-छोटी आँखें, रंग-ढंग से देहकानीपन झलक रहा है। उस तस्वीर की खूबियाँ कुछ इस अनुराग और इस आडम्बर से बयान किये जाते हैं कि आपको सचमुच उस चित्र में सौन्दर्य का आभास होने लगता है। इस गुणानुवाद में जितना समय जाता है, वही महाशयजी के जीवन के आनन्द का घड़ियाँ हैं। इतनी ही देर वह जीवित रहते हैं। शेष जीवन निरानन्द है, निस्पन्द है।

पहले कुछ दिनों तक तो वह हमारे साथ हवा खाने जाते रहे—वह क्या जाते रहे, मैं जबरदस्ती ठेल-ठालकर ले जाता रहा, लेकिन रोज आधे घण्टे तक उनका इन्तजार करना पड़ता था। किसी तरह घर से निकलते भी तो जनवासी चाल से चलते और आध मील में ही हिम्मत हार जाते और लौट चलने का तकाजा करने लगते। आखिर मैंने उन्हें साथ ले जाना छोड़ दिया। और तबसे उनकी चहलकदमी चालीस कदम की रह गयी है। सैर क्या है—बेगार है, और वह भी इसलिए कि देवीजी के सामने उनका यह नियम था।

एक दिन उनके द्वार के सामने से निकला, तो देखा कि ऊपर की खिड़कियाँ, जो बरसों से बन्द पड़ी थीं, खुली हुई हैं! अचरज हुआ। द्वार पर नौकर बैठा नारियल पी रहा था। उससे पूछा, तो मालूम हुआ, आप घूमने गये हैं। मुझे मीठा विस्मय हुआ। आज यह नई बात क्यों! इतने सबेरे तो यह कभी नहीं उठते। जिस तरफ वह गये थे, उधर ही मैंने भी कदम बढ़ाये। इधर एक हफ्ते के लिए मैं एक नेवते में चला गया था। इस बीच यह क्या काया-पलट होगयी! जरूर कोई-न-कोई रहस्य है। और भला आदमी निकल कितनी दूर गया। दो मील तक कहीं पता नहीं मैं निराश होगया; मगर यह महाशय रास्ते में कहा रह गये, यहाँ तो किसी से उनकी मुलाकात भी नहीं है, जहाँ ठहर गये हों। कुछ चिन्ता भी हो रही थी। कहीं कुएँ में तो नहीं कूद पड़े! मैं लौटने ही वाला था कि आप लौटते हुए नजर आये। चित्त शान्त हुआ। आज तो कैड़ा ही और था। बाल नये फैशन से कटे हुए मूछें साफ, दाढ़ी चिकनी,

चेहरा खिला हुआ, चाल में चपलता, सूट पुराना, पर ब्रश किया हुआ और शायद इस्तरी भी की हुई, बूट पर ताजा पालिश। मुसकिराते चले आते थे। मुझे देखते ही लपककर हाथ मिलाया और बोले—आज कई दिन के बाद मिले! कहीं गये थे क्या?

मैंने अपनी गैरहाजिरी का कारण बताकर कहा—मैं डरता हूँ, आज तुम्हें नजर न लग जाय। अब मैं नित्य तुम्हारे साथ घूमने आया करूँगा। आज बहुत दिनों के बाद तुमने आदमी का चोला धारण किया है।

झेंपकर बोले—नहीं भई, मुझे अकेला ही रहने दो। तुम लगोगे दौड़ने और ऊपर से घुड़कियाँ जमाओगे। मैं अपने हौले-हौले चला जाता हूँ। जब थक जाता हूँ, कहीं बैठ लेता हूँ। मेरा-तुम्हारा क्या साथ।

'यह दशा तो तुम्हारी एक सप्ताह पहले न थी। आज तो तुम बिलकुल अप-टू-डेट हो। इस चाल से तो शायद मैं तुमसे पीछे ही रहूँगा।'

'तुम तो बनाने लगे।'

'मैं कल से तुम्हारे साथ घूमने आऊँगा। मेरा इन्तजार करना।'

'नहीं भई, मुझे दिक न करो। मैं आजकल बहुत सबेरे उठ जाता हूँ। रात को नींद नहीं आती। सोचता हूँ, लाओ टहल ही आऊँ। तुम मेरे साथ क्यों परेशान होगे।'

मेरा विस्मय बढ़ता जा रहा था। यह महाशय हमेशा मेरे पैरों पड़ते रहते थे कि मुझे भी साथ ले लिया करो। जब मैंने इनकी मन्थरता से हारकर इनका साथ छोड़ दिया, तब इन्हें बड़ा दुःख हुआ। दो-एक बार मुझसे शिकायत भी की—हाँ भई, अब क्यों साथ दोगे। अभागों का साथ किसीने दिया है, या तुम कोई नयी नीति निकालोगे? जमाने का दस्तूर है, जो लँगड़ाता हो उसे ढकेल दो, जो बीमार हो उसे जहर दे दो, और वही आदमी आज मुझसे पीछा छुड़ा रहा है? यह क्या रहस्य है। यह चपलता, प्रसन्नता और सजीवता कहाँ से आगयी। कहीं आपने बन्दर की गिल्टी तो नहीं लगवा ली। यह नया सिविल-सार्जन गिल्टी-आरोपण-कला में सिद्धहस्त है। मुमकिन है, इन्हें किसीने सुझा दिया हो और आपने हजार-पाँच सौ खर्च करके गिल्टी बदलवा ली हो। इस पहेली को बूझे बगैर चैन कहाँ। उनके साथ ही लौट पड़ा।

दो-चार कदम चलकर मैंने पूछा—सच बताओ, भाईजान ! गिल्टी-विल्टी तो नहीं लगवा ली ?

उन्होंने प्रश्न की आँखों से देखा—कैसी गिल्टी ? मैं नहीं समझता ।

'मुझे सन्देह हो रहा है कि तुमने बन्दर की गिल्टियाँ लगवा ली हैं ।'

'अरे यार, क्यों कोसते हो । गिल्टियाँ किसलिए लगवाता । मुझे तो इसका कभी खयाल भी नहीं आया ।'

'तो क्या कोई बिजली का यन्त्र मँगवा लिया है ?'

'तुम आज मेरे पीछे क्यों हाथ धोकर पड़े हो ? विधवा भी तो कभी सिंगार कर लेती है ? जी ही तो है ! एक दिन मुझे अपने आलस्य और बेदिली पर खेद हुआ । मैंने सोचा, जब संसार में रहना है, तो जिंदों की तरह क्यों न रहूँ । मुर्दों की तरह जीने से क्या फायदा । बस, और न कोई बात है, न रहस्य ।'

मुझे इस व्याख्या से सन्तोष न हुआ । दूसरे दिन जरा और सवेरे आकर मुंशीजी के द्वार पर आवाज दी; लेकिन आप भी आज निकल चुके थे । मैं उनके पीछे भागा ? जिद पड़ गयी कि इसे अकेले न जाने दूँगा । देखूँ, कब-तक मुझसे भागता है । कोई रहस्य है अवश्य । अच्छा बच्चा, आधीरात को आकर विस्तर से न उठाउँ तो सही । दौड़ तो न सका; लेकिन जितना तेज चल सकता था, चला । एक मील के बाद आप नजर आये । बगटुट भागे चले जा रहे थे । अब मैं बार-बार पुकार रहा हूँ—हजरत, जरा ठहर जाइए, मेरी साँस फूल रही है; मगर आप हैं कि सुनते ही नहीं । आखिर जब मैंने अपने सिर की कसम दिलायी, तब जाकर आप रुके । मैं झपाटे से पहुँचा, तो तिनक-कर बोले–मैंने तो तुमसे कह दिया था, मेरे घर मत आना, फिर क्यों आये और क्यों मेरे पीछे पड़े ? मुझे अपने धीरे-धीरे घूमने दो । तुम अपना रास्ता लो ।

मैंने उनका हाथ पकड़कर जोर से एक झटका दिया और बोला—देखो, होरीलाल, मुझसे उड़ो नहीं, वरना मुझे जानते हो, कितना बेमुरौवत आदमी हूँ । तुम यह धीरे-धीरे टहल रहे हो, या डबल मार्च कर रहे हो । मेरी पिंडलियों में दर्द होने लगा और पसलियाँ दुख रही हैं । डाक का हरकारा भी तो इस चाल से नहीं दौड़ता । उसपर गजब यह कि तुम थके नहीं हो, अब भी उसी दम-खम के साथ चले जा रहे हो । अब तो तुम डण्डे लेकर भगाओ, तो भी

तुम्हारा दामन न छोड़ूँ। तुम्हारे साथ दो मील भी चलूँगा, तो अच्छी खासी कसरत हो जायगी, मगर अब साफ-साफ बतलाओ, बात क्या है। तुममें यह जवानी कहाँ से आ गयी? अगर किसी अकसीर का सेवन कर रहे हो, तो मुझे भी दो। कम-से-कम उसे मँगाने का पता बता दो, मैं मँगवा लूँगा; अगर किसी दुआ-ताबीज की करामात है, तो मुझे भी उस पीर के पास ले चलो।

मुसकिराकर बोले—तुम तो पागल हो, झूठ-मूठ मुझे दिक कर रहे हो। बूढ़े होगये, मगर लड़कपन न गया। क्या तुम चाहते हो कि मैं हमेशा उसी तरह मुर्दा पड़ा रहूँ। इतना भी तुमसे नहीं देखा जाता! तब तो तुम्हारे मिजाज ही न मिलते थे। कितनी चिरौरी की कि भाईजान; मुझ भकुवे को भी साथ ले लिया करो। मगर आप नखरे दिखाने लगे। अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो? यह समझ लो, जो अपनी मदद आप करता है, उसकी मदद परमात्मा भी करते हैं। मित्रों और बन्धुओं की मुरौवत देख ली। अब अपने बूते पर चलूँगा।

वह इसी तरह मुझे कोसते जा रहे थे और मैं उन्हें छेड़-छेड़कर और भी उत्तेजित कर रहा था कि एकाएक उन्होंने उँगली मुँह पर रखकर मुझे चुप रहने का इशारा किया, और जरा कद और सीधा करके और चेहरे पर प्रसन्नता और पुरुषार्थ का रंग भर, मस्तानी चाल से चलने लगे। मेरी समझ में जरा भी न आया, यह संकेत और बहुरूप किसलिए? वहाँ तो दूसरा कोई था भी नहीं। हाँ, सामने से एक स्त्री चली आ रही थी; मगर उसके सामने इस पर्देदारी की क्या जरूरत। मैंने तो उसे कभी देखा भी न था। आसमानी रंग की रेशमी साड़ी, जिसपर पीला लैस टका था, उसपर खूब खिल रही थी। रूपवती कदापि न थी, मगर रूप से ज्यादा मोहक थी उसकी सरलता और प्रसन्नता। एक बहुत ही मामूली शक्ल-सूरत की औरत इतनी नयनाभिराम हो सकती है, यह मैं न समझ सकता था।

उसने होरीलाल के बराबर आकर नमस्कार किया। होरीलाल ने जवाब में सिर तो झुका दिया; मगर बिना कुछ बोले आगे बढ़ना चाहते थे कि उसने कोयल के स्वर में कहा—'क्या अब लौटिएगा नहीं? आप अपनी सीमा से आगे बढ़े जा रहे हैं। और हाँ, आज तो आपने मुझे देवीजी की तस्वीर देने का वादा किया था। शायद भूल गये, आपके साथ चलूँ?'

महाशयजी कुछ ऐसे बौखलाये हुए थे, कि मामूली शिष्टाचार भी न कर सके। यों वह बड़े ही भद्र पुरुष हैं और शिष्टाचार में निपुण; लेकिन इस वक्त जैसे उनके हाथ-पाँव फूले हुए थे। एक कदम और आगे बढ़कर बोले—आप क्षमा कीजिए। मैं एक काम से जा रहा हूँ।

महिला ने कुछ चिढ़कर कहा—आप तो जैसे भागे जा रहे हैं। मुझे तस्वीर दीजिएगा या नहीं ?

महाशयजी ने मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा—तलाश करूँगा।

सुन्दरी ने शिकायत के स्वर में कहा—आपने तो फरमाया था कि वह हमेशा आपकी मेज पर रहती है। और अब आप कहते हैं—तलाश करूँगा। आपकी तबीयत तो अच्छी है ? जबसे आपने उनका चरित्र सुनाया है, मैं उनके दर्शनों के लिए व्याकुल हो रही हूँ। अगर आप यों न देंगे, तो मैं आपकी मेज पर से उठा लाऊँगी। (मेरी ओर देखकर) आप मेरी मदद कीजिएगा महाशय ! यद्यपि मैं जानती हूँ, आप इनके मित्र हैं और इनके साथ दगा न करेंगे। आपको ताज्जुब हो रहा होगा, यह कौन औरत महाशयजी से इतनी निस्संकोच होकर बातें कर रही है। इनसे पहली बार मेरा परिचय सब्जीमंडी में हुआ था। मैं शाक-भाजी खरीदने गयी हुई थी। अपनी भाजी मैं खुद लाती हूँ, जिस चीज पर जीवन का आधार है, उसे नौकरों के हाथ नहीं छोड़ना चाहती। भाजी लेकर मैंने दाम देने के लिए रुपया निकाला, तो कुँजड़े ने उसे ठंकारकर कहा—दूसरा रुपया दो, यह खोटा है। अब मैंने जो खुद ठंकारा, तो मालूम हुआ, सचमुच कुछ ठस है। अब क्या करूँ ! मेरे पास दूसरा रुपया न था, यद्यपि इस तरह के कटु अनुभव मुझे कितनी ही बार हो चुके हैं; मगर घर से रुपया लेकर चलते वक्त मुझे उसे परख लेने की याद नहीं रहती। न किसी से लेती ही बार परखती हूँ।

इस वक्त मेरे संदूक में ज्यादा नहीं, तो बीस-पचीस खोटे रुपये पड़े होंगे, और रेजगारियाँ तो सैकड़ों की ही होंगी। मेरे लिए अब इसके सिवा दूसरा उपाय न था कि भाजी लौटाकर खाली हाथ चली आऊँ। संयोग से महाशयजी उसी दूकान पर भाजी लेने आये थे। मुझे इस विपत्ति में देखकर आपने तुरन्त एक रुपया निकालकर दे दिया....

महाशयजी ने बात काटकर कहा—तो इस वक्त आप वह सारी कथा क्यों सुना रही हैं। हम दोनों एक जरूरी काम से जा रहे हैं। व्यर्थ में देर हो रही है।

उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा।

मुझे उनकी यह अभद्रता बुरी लगी। कुछ-कुछ इसका रहस्य भी समझ में आगया। बोला—तो आप जाइए, मुझे ऐसा कोई जरूरी काम नहीं है मैं भी अब लौटना चाहता हूँ।

महाशयजी ने दाँत पीस लिए, अगर वह सुन्दरी वहाँ न होती, तो न-जाने मेरी क्या दुर्दशा करते। एक क्षण मेरी ओर अग्नि-भरे नेत्रों से ताकते रहे, मानो कह रहे हों—अच्छा, इसका मजा न चखाया, तो कहना; और चल दिये। मैं देवी के साथ लौटा।

सहसा उसने हिचकिचाते हुए कहा—मगर नहीं, आप जाइए, मैं उनके साथ जाऊँगी। शायद मुझसे नाराज होगये हैं। आज एक सप्ताह से मेरा और उनका रोज साथ हो जाता है और अब अपनी जीवन-कथा सुनाया करते हैं। कैसी नसीबोंवाली थी वह औरत, जिसका पति आज भी उसके नाम की पूजा करता है। आपने तो उन्हें देखा होगा। क्या सचमुच इनपर जान देती थीं?

मैंने गर्व से कहा—दोनों में इश्क था।

'और जब से उनका देहान्त हुआ, यह दुनिया से मुँह मोड़ बैठे?'

'इससे भी अधिक! उसकी स्मृति के सिवा जीवन में इनके लिए कोई रस ही न रहा।'

'वह रूपवती थीं?'

'इनकी दृष्टि में तो उससे बढ़कर रूपवती संसार में न थी।'

उसने एक मिनट तक किसी विचार में मग्न रहकर कहा—अच्छा, आप जायँ। मैं उनके साथ बात करूँगी। ऐसे देवता पुरुष की मुझसे जो सेवा हो सकती है, उसमें क्यों दरेग करूँ? मैं तो उनका वृत्तान्त सुनकर सम्मोहित हो गयी हूँ।

मैं अपना-सा मुँह लेकर घर चला आया। इत्तफाक से उसी दिन मुझे एक जरूरी काम से दिल्ली जाना पड़ा। वहाँ से एक महीने में लौटा। और सबसे

पहला काम जो मैंने किया, वह महाशय होरीलाल का क्षेम-कुशल पूछना था। इस बीच में क्या-क्या नयी बातें हो गयीं—यह जानने के लिए अधीर हो रहा था। दिल्ली से इन्हें एक पत्र लिखा था; पर इन हजरत में यह बुरी आदत है कि पत्रों का जवाब नहीं देते। उस सुन्दरी से इनका अब क्या सम्बन्ध है, आमदरफ्त जारी है, या बन्द होगयी, उसने इनके पत्नी-व्रत का क्या पुरस्कार दिया, या देनेवाली है? इस तरह के प्रश्न दिल में उबल रहे थे।

मैं महाशयजी के घर पहुँचा, तो आठ बज रहे थे। खिड़कियों के पट बन्द थे। सामने बरामदे में कूड़े-करकट का ढेर था। ठीक वही दशा थी, जो पहले नजर आती थी। चिन्ता और बढ़ी। ऊपर गया तो देखा, आप उसी फर्श पर पड़े हुए—जहाँ दुनिया-भर की चीजें बेढंगेपन से अस्त-व्यस्त पड़ी हुई हैं—एक पत्रिका के पन्ने उलट रहे हैं। शायद एक सप्ताह से बाल नहीं बने थे। चेहरे पर जर्दी छायी थी।

मैंने पूछा—आप सैर करके लौट आये क्या?

सिटपिटाकर बोले—अजी, सैर-सपाटे की कहाँ फुर्सत है भई, और फुर्सत भी हो, तो वह दिल कहाँ है। तुम तो कहीं बाहर गये थे?

'हाँ, जरा देहली तक गया था। अब सुन्दरी से आपकी मुलाकात नहीं होती?'

'इधर तो बहुत दिनों से नहीं हुई।'

'कहीं चली गयी क्या?'

मुझे क्या खबर।'

'मगर आप तो उस पर बेतरह रीझे हुए थे।'

'मैं उस पर रीझा था! आप सनक तो नहीं गये हैं। जिस पर रीझा था, जब उसीने साथ न दिया, तो अब दूसरों पर क्या रीझूँगा?'

मैंने बैठकर उसकी गर्दन में हाथ डाल दिया और धमकाकर बोला—देखो होरीलाल, मुझे चकमा न दो। पहले मैं तुम्हें जरूर व्रतधारी समझता था, लेकिन तुम्हारी वह रसिकता देखकर, जिसका दौरा तुम्हारे ऊपर एक महीना पहले हुआ था, मैं यह नहीं मान सकता कि तुमने अपनी अभिलाषाओं को

सदा के लिए दफन कर दिया है। इस बीच में जो कुछ हुआ है, उसका पूरा, पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाना पड़ेगा। वरना समझ लो, मेरी और तुम्हारी दोस्ती का अन्त है।

होरीलाल की आँखें सजल हो गयीं। हिचक-हिचककर बोले—मेरे साथ इतना बड़ा अन्याय मत करो, भाईजान! अगर तुम्हीं मुझपर ऐसे सन्देह करने लगोगे, तो मैं कहीं का न रहूँगा। उस स्त्री का नाम मिस इंदिरा है। यहाँ जो लड़कियों का हाई स्कूल है, उसी की हेड मिस्ट्रेस होकर आयी है। मेरा उससे कैसे परिचय हुआ, यह तो तुम्हें मालूम ही है। उसकी सहृदयता ने मुझे उसका प्रेमी बना दिया। इस उम्र में और शोक का यह भार सिर पर रखे हुए, सहृदयता के सिवा मुझे उसकी ओर और कौन-सी चीज खींच सकती थी। मैं केवल अपनी मनोव्यथा की कहानी सुनाने के लिए नित्य विरहियों की उमंग के साथ उसके पास जाता था। वह रूपवती है, खुशमिजाज है, दूसरों का दुःख समझती है और स्वभाव की बहुत कोमल है, लेकिन तुम्हारी भाभी से उसकी क्या तुलना। वह तो स्वर्ग की देवी थी। उसने मुझपर जो रंग जमा दिया, उसपर अब दूसरा रंग क्या जमेगा। मैं उसी ज्योति से जीवित था। उस ज्योति के साथ मेरा जीवन भी विदा हो गया। अब तो मैं उसी प्रतिमा का उपासक हूँ, जो मेरे हृदय में है। किसी हमदर्द की सूरत देखता हूँ, तो निहाल हो जाता हूँ और अपनी दुःख-कथा सुनाने दौड़ता हूँ। यह मेरी दुर्बलता है, यह जानता हूँ, मेरे सभी मित्र इसी कारण मुझसे भागते हैं, यह भी जानता हूँ। लेकिन क्या करूँ भैया, किसी न-किसी को दिल की लगी सुनाये बगैर मुझसे नहीं रहा जाता। ऐसा मालूम होता है, मेरा दम घुट जायगा। इसलिए जब मिस इन्दिरा की मुझपर दया-दृष्टि हुई, तो मैंने इसे दैवी अनुरोध समझा और उस धुन में—जिसे मेरे मित्रवर्ग दुर्भाग्यवश उन्माद समझते हैं—वह सब कुछ कह गया, जो मेरे मन में था, और है एवम् मरते दम तक रहेगा। उन शुभ दिनों की याद कैसे भुला दूँ। मेरे लिए तो वह अतीत वर्त्तमान से भी ज्यादा सजीव और प्रत्यक्ष है। मैं तो अब भी उसी अतीत में रहता हूँ। मिस इन्दिरा को मुझपर दया आ गयी। एक दिन उन्होंने मेरी दावत की और कई स्वादिष्ट खाने अपने हाथ से बनाकर खिलाये। दूसरे दिन मेरे घर आयीं और यहाँ की

सारी चीजों को व्यवस्थित रूप में सजा गयीं। तीसरे दिन कुछ कपड़े लायीं और मेरे लिए खुद एक सूट तैयार किया ! इस कला में बड़ी चतुर हैं !

एक दिन शाम को क्वींस पार्क में मुझसे बोलीं—आप अपनी शादी क्यों नहीं कर लेते ?

मैंने हँसकर कहा—इस उम्र में अब क्या शादी करूँगा, इंदिरा ! दुनिया क्या कहेगी !

मिस इंदिरा बोलीं—आपकी उम्र अभी ऐसी क्या है। आप चालीस से ज्यादा नहीं मालूम होते।

मैंने उनकी भूल सुधारी—मेरा पचासवाँ साल है।

उन्होंने मुझे प्रोत्साहन देकर कहा—उम्र का हिसाब साल से नहीं होता, महाशय; सेहत से होता है। आपकी सेहत बहुत अच्छी है। कोई आपको पान की तरह फेरनेवाला चाहिए। किसी युवती के प्रेम-पाश में फँस जाइए फिर देखिए, यह नीरसता कहाँ गायब हो जाती है।

मेरा दिल धड़ धड़ करने लगा। मैंने देखा, मिस इंदिरा के गोरे मुख-मंडल पर हल्की-सी लाली दौड़ गयी है। उनकी आँखें शर्म से झुक गयी हैं और कोई बात बार-बार उनके होठों तक आकर लौट जाती है। आखिर उन्होंने आँख उठायी और मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोलीं—अगर आप समझते हों कि मैं आपकी कुछ सेवा कर सकती हूँ, तो मैं हर तरह हाजिर हूँ, मुझे आपसे जो भक्ति और प्रेम है, वह इसी रूप में चरितार्थ हो सकता है।

मैंने धीरे से अपना हाथ छुड़ा लिया और काँपते हुए स्वर में बोला—मैं तुम्हारी इस कृपा इस को कहाँ तक धन्यवाद दूँ, मिस इंदिरा; मगर मुझे खेद है कि मैं सजीव मनुष्य नहीं, केवल मधुर स्मृतियों का पुतला हूँ। मैं उस देवी की स्मृति को अपनी लिप्सा और तुम्हारी सहानुभूति को, अपनी आसक्ति से भ्रष्ट नहीं करना चाहता।

मैंने इसके बाद बहुत-सी चिकनी-चुपड़ी बातें की, लेकिन वह जब तक यहाँ रहीं, मुँह से कुछ न बोलीं। जाते समय भी उनकी भवें तनी हुई थीं। मैंने अपने आँसुओं से उनकी ज्वाला को शांत करना चाहा; लेकिन कुछ असर न हुआ तबसे वह नजर नहीं आयीं। न मुझे ही हिम्मत पड़ी कि उनक

तलाश करता, हलाँकि चलती बार उन्होंने मुझसे कहा था —जब आपको कोई कष्ट हो और आप मेरी जरूरत समझें तो मुझे बुला लीजिएगा।

होरीलाल ने अपनी कथा समाप्त करके मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा जो चाहती थीं कि मैं उनके व्रत और संतोष की प्रशंसा करूँ; मगर मैंने उनकी भर्त्सना की—कितने बदनसीब हो तुम होरीलाल, मुझे तुम्हारे ऊपर दया भी आती है और क्रोध भी! अभागे तेरी जिंदगी सँवर जाती। वह स्त्री नहीं थी ईश्वर की भेजी कोई देवी थी, जो तेरे अँधेरे जीवन को अपनी मधुर ज्योति से आलोकित करने के लिए आयी थी, तूने स्वर्ण का-सा अवसर हाथ से खो दिया।

होरीलाल ने दीवार पर लटके हुए अपनी पत्नी के चित्र की ओर देखा और प्रेम-पुलकित स्वर में बोले—मैं तो उसी का आशिक हूँ भाईजान; और उसीका आशिक रहूँगा।